दशवैकालिक सूत्र

प्रकाशक :

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर (राजस्थान)

मुद्रण :

पं. बसन्तीलाल नलवाया के निर्देशन में
जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

मूल्य :

अर्थ सहयोगी के सौजन्य से
मात्र १५) रुपये

प्रथमावृत्ति :

वि. सं. २०४० वैशाख पूर्णिमा
वीर नि. सं. २५०८
मई १९८३

प्रकाशकीय

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल लगभग ३७ वर्षों से जिनेन्द्र प्रणीत धर्म एवं श्रुत साहित्य का प्रचार करता आ रहा है। आज हम सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल के सदस्य इस बात से परम सौभाग्य अनुभव करते हैं कि श्रुतज्ञान शुद्ध प्रामाणिक भावनाओं को जन-जन में पहुंचाने का हमें अन्य साहित्य के साथ आगम साहित्य को प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है! यह सब आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी म० सा० जो शान्त हृपय, वीतराग मार्ग के समुपासक, आगम स्वाध्याय, चिन्तन के सत्प्रेरक है, तथा जिनकी वाणी में सत्यता, सरलता, चैतन्यता, समता और साधना का स्वर गुंजित होता है, यह आप श्री के सत्प्रयासों एवं सत्प्रेरणाओं का ही शुभ परिणाम है!

कुछ वर्ष पहले उत्तराध्ययन सूत्र पद्यानुवाद का मण्डल ने प्रकाशन किया था, और प्रेमी पाठकों ने सहर्ष उसे अपनाकर स्वाध्याय के प्रंचार-प्रसार में योगदान दिया! फलस्वरूप उसका पहला संस्करण बात ही बात में समाप्त हो गया! अब स्वाध्यायिओं की अत्यधिक मांग के कारण दशवैकालिक सूत्र पद्यानुवाद और हिन्दी अर्थ के साथ प्रकाशित किया जा रहा है! दशवैकालिक और उत्तराध्ययन दोनों सूत्रों के पद्यानुवाद चार वर्ष पहले तैयार हो चुके थे! परन्तु सम्पादन कार्य में समयाभाव के कारण प्रकाशित नहीं करायें जा सकें!

इस वर्ष दशवैकालिक सूत्र का अन्वयार्थ, भावार्थ विवेचन के साथ आचार्य प्रवर की सेवा में आलेखन सम्पन्न हो जाने से मण्डल उसके प्रकाशन को अपना परम सौभाग्य मान रहा है!

सूत्र के हिन्दी पद्यानुवाद में पं० शशिकान्त झॉं का श्रम आदरणीय रहा है! जो भुलाया नहीं जा सकता! प्रस्तुत शास्त्र की प्रतिलिपि करने

में पं० अम्बाशंकरजी शास्त्री एवं धर्मचन्द जैन का परिश्रम भी स्मरणीय है ! हम आचार्य श्री एवं लेखन में सहयोगी सभी विद्वान सन्तों एवं सज्जनों का सादर स्मरण करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं !

प्रस्तुत सूत्र का मुद्रण एवं आवश्यक संशोधन पं. वसन्तीलालजी नलवाया ने बहुत ही लगन के साथ सम्पन्न किया है एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

स्वाध्याय प्रेमी श्री रतनलालजी वाफणा, जलगांव जिन्होंने कि विना किसी की प्रेरणा के शास्त्र के लेखन कार्य को देखकर श्री व्रजमोहनजी जैन से अपनी ओर से इस सूत्र का प्रकाशन हो, ऐसी भावना प्रगट की, और तदर्थ तुरन्त रकम भिजवा दी। मण्डल श्री वाफणा के इस श्रुत सेवा के लिये किये गये आर्थिक सहयोग पर आभार प्रगट करता है। अमरावती की श्रीमती जमनीवाई मूथा ने अपने स्वर्गीय पुत्र चम्पालाल की स्मृति में एक हजार रुपये का सहयोग प्रदान किया है, इसके लिये वे भी धन्यवाद के पात्र है !

मण्डल आशा करता है कि समाज के सभी स्वाध्याय रसिक सज्जन इस सूत्र का पठन-पाठन कर आत्म लाभ प्राप्त करेंगे !

धन्यवाद !

उमरावमल ढढ्ढा — अध्यक्ष

टीकमचन्द हीरावत — मन्त्री

सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर (राज.)

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

उदारमना, सद्गृहस्थ, गुरुभक्त बन्धुत्रय का संक्षिप्त-परिचय

भोपालगढ़ (जोधपुर) के विख्यात बाफणा वंश में श्रीमान् चुन्नीलालजी सा. बाफणा नाम के एक सद्गृहस्थ हो गये। आपका जीवन सादगी, सन्तोष, सत्यनिष्ठा एवं पुरुषार्थ के गुणों से ओतप्रोत था। आपकी धर्मपत्नी भी एक सुशील, दृढ़ श्रद्धालु एवं धर्म परायण सन्नारी थी, जिन्होंने सन् १९७९ के आचार्य प्रवर के जलगाँव चातुर्मास में गुरुसेवा की और अन्तिम समय में गुरु दर्शन कर संलेखना-संथारा पण्डित मरण प्राप्त किया। इसी धर्मशीला मां की पवित्र कुक्षि से श्री मांगीलालजी, रतनलालजी एवं श्री कस्तूरचन्दजी तीनों भाइयों का जन्म हुआ।

श्री मांगीलालजी बाफणा एक स्वाध्यायी धर्म प्रेमी उत्साही एवं समाजसेवी कार्यकर्त्ता हैं। आप भोपालगढ़ (मारवाड़) में ही अपना वस्त्र का व्यवसाय सम्भालते हैं और समाजसेवा के कार्यो में पर्याप्त रुचि लेते हैं।

श्री रतनलालजी बाफणा जैन समाज के जाने-माने समाजसेवी अत्यन्त ही उदारमना, गुरु भक्त एवं स्वाध्यायी श्रावक हैं। आप सामायिक स्वाध्याय एवं संत-सेवा में सदा अग्रणी रहे हैं। आपने जलगांव में व्यवसाय प्रारम्भ किया और अपने पुरुषार्थ एवं प्रामाणिकता के बल पर आज स्थानीय व्यापारी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त सराफ माने जाते हैं, जलगांव जिला सराफ एसोशिएशन के आप अध्यक्ष हैं। करोड़पति की श्रेणी में प्रवेश करके भी आपका जीवन सरलता, सहृदयता एवं उदारता का एक उदाहरण हैं। श्रमनिष्ठा से प्राप्त लक्ष्मी का आप पूर्ण सदुपयोग कर रहे हैं, और दीन दु:खियो एवं अभावग्रस्तों की सेवा और सहायता हेतु सदैव तत्पर रहते है।

श्री कस्तूरचन्दजी भोपालगढ़ के श्री जैन रत्न हाई स्कूल के मानद् मन्त्री है और कर्मठ कार्यकर्ता तथा स्वाध्यायी हैं। आपके मंत्रित्व काल में विद्यालय ने कई कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

प्रस्तुत सूत्र के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय वहन करके आपने श्रुत सेवा में जो सहयोग दिया है, एतदर्थ कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं।

अमरावती की धर्मशीला माता जमनीबाईजी ने अपने पुत्र चम्पालाल मूथा के स्मृत्यर्थ एक हजार रुपये का सहयोग दिया अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

चांदमल कर्णावट

स्व. श्रीमान् चुन्नीलालजी सा. बाफना का संक्षिप्त-जीवन परिचय

भोपालगढ़ की पावन एवं पवित्र भूमि में जन्मे श्री चुन्नीलालजी बाफना सद्विचार तथा सदाचार वाले सद्गृहस्थ थे। आप निष्कपटी, सरल हृदय वाले तथा स्पष्ट वक्ता होने के साथ ही साथ स्वभाव से तेज भी थे, अन्याय के सामने समर्पण करना तो क्या, उसे सुनना भी आपसे सहन नहीं होता था। आपने अपना छोटा व्यापार सच्चाई, ईमानदारी और एकनिष्ठा से करते हुए हजारों-२ लोगों के दिलों को अपने व्यवहार से जीत रखा था। आप अल्प परिग्रही श्रावक रहकर सतत अपनी आत्म-साधना में लीन रहते थे। परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर बाल ब्रह्मचारी १०८ श्री हस्तीमलजी म० सा० के आप अनन्य भक्त थे, और उनके द्वारा समय-समय पर दी जाने वाली शिक्षाओं को सहर्ष ग्रहण करते थे।

आपके तीनों सुपुत्र श्री मांगीलालजी सा., श्री रतनलालजी सा. एवं श्री कस्तूरचन्दजी सा. ने आपश्री से जो संस्कार प्राप्त किये हैं उनका प्रत्यक्ष दर्शन उनके द्वारा समाज एवं शासन सेवा हेतु किये जा रहे कार्यों से स्वतः ही हो जाता है। आपकी सच्चाई एवं कार्यनिष्ठा का ही परिणाम है कि आपके परिवार पर आपकी वृद्धावस्था में लक्ष्मी की महती कृपा रही है। आपके सुपुत्रों का कारोबार दिनोदिन तीव्रगति से बढ़ता जा रहा है श्री रतनलालजी सा. ने सोने के व्यवसाय में महाराष्ट्र प्रान्त में जो ख्याति अर्जित की है वह आपश्री के द्वारा बताये गये ईमानदारी, निष्ठा एवं प्रामाणिकता के द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

जीवन के अन्तिम समय तक आप धर्माचरण एवं समाजसेवा में सतत लीन रहे। "काल किसी का पीछा नही छोड़ता" श्री चुन्नीलालजी भी अपनी ७३ वर्ष की दीर्घायु को पूर्ण कर स्वर्गगामी बने। आपके पीछे आप अपना भरा पूरा परिवार छोड़ गये है। पूरा परिवार धर्मनिष्ठ, सेवापरायण तथा आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० का अनन्य भक्त है, तथा आप द्वारा दिये गये संस्कारों से शासन एवं समाज की जो सेवा एवं प्रभावना कर रहे है, वह धर्मानुरागी भाइयों के लिए उत्साहवर्धक एवं अनुकरणीय कदम है।

आपने अपने जीवनकाल में गायों की खूब सेवा की।

टीकमचंद हीरावत
मंत्री

स्व. श्रीमान् चुन्नीलालजी सा. बाफना, जलगांव

स्व. श्रीमती सायरबाई बाफना, जलगांव
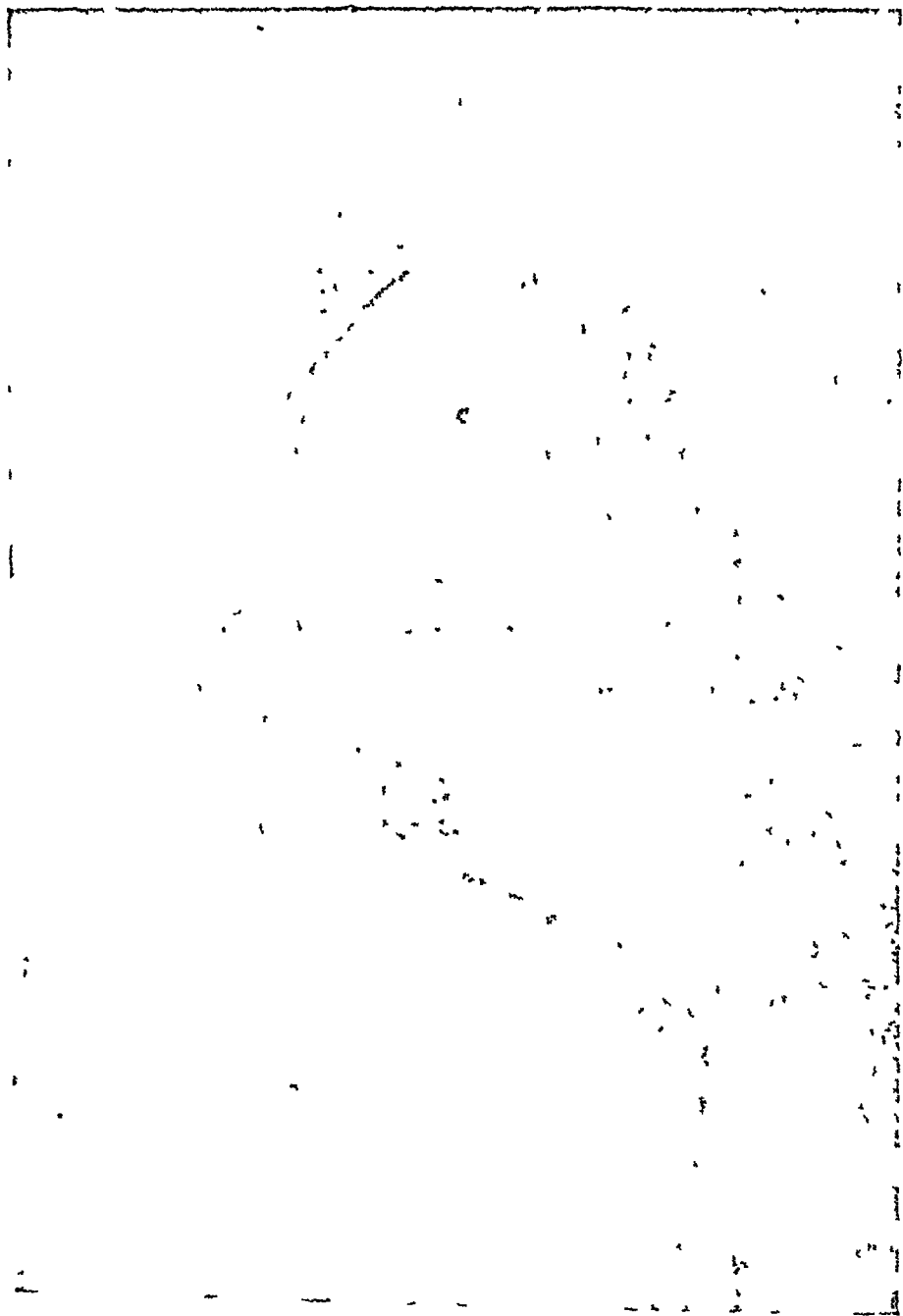
श्रीमती सायरबाई बाफना का संक्षिप्त-जीवन परिचय

स्व० श्रीमान् चुन्नीलालजी सा० बाफना की धर्मपत्नी, श्रीमान् कुन्दनमलजी चोरडिया की सुपुत्री श्रीमती सायरबाई बाफना एक महान तपस्विनी, नारी रत्न श्राविका थी।

आपका जीवन शुरु से ही सादगी एवं त्यागपूर्ण रहा था। आपने कच्चे पानी के त्याग, श्राविका के १२ व्रत आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० से ग्रहण किये थे। आचार्य प्रवर के १९७९ के जलगांव के ऐतिहासिक चार्तुमास में आपने सराहनीय सेवा का लाभ उठाया।

आपके त्याग एवं तपपूर्ण जीवन का प्रभाव परिवार वालों पर तो क्या सभी सम्पर्क में आने वाले भाई-बहिनों पर एक अमिट छाप छोड़ देता था। आप की पुण्यवानी इतनी तेज थी कि आप द्वारा कही बात को परिवार में, गांव में तथा अपने पीहर तक में कोई नहीं टालता था। आपके तीनों सुपुत्र तथा पुत्रवधुएं सदा आपकी सेवा में संलग्न रहते थे।

आचार्य श्री के जलगांव चातुर्मास में 'अपने गुरू की अधिक से अधिक समय सेवा तथा दर्शनों का लाभ लेती रहूँ' इस भावना से आपके सुपुत्र श्री रतनलालजी बाफना ने चातुर्मास स्थान-नवजीवन मंगल कार्यालय के सामने ही रहने खाने आदि की समस्त व्यवस्था कर पूर्ण किया, चातुर्मास काल में ही निरन्तर धर्म की आराधना करते हुए अपने गुरुदेव की सेवा प्रवचन एवं दर्शनों का लाभ लेते हुए संथारे के साथ अपनी उम्र के ७० वें वर्ष में समाधिमरण को प्राप्त किया, अन्तिम समय में आपके सुपुत्रों एवं पुत्र-वधुओं ने आपकी पूर्ण सेवा की।

आप जैसी श्रद्धाशील, गुरुभक्त, शासनप्रभाविका श्राविकाएं देखने को कम ही मिलती हैं। आपके परिवार वाले आपकी शिक्षाओं एवं संस्कारों को अपने तथा समाज के उत्थान में लगा रहे हैं जो स्तुत्य एवं अनुकरणीय है।

टीकमचंद हीरावत
मंत्री

शास्त्र पढ़ने की विधि

ज्ञान वृद्धि के लिये छद्मस्थ आचार्यों के ग्रन्थ और वीतराग प्रणीत शास्त्रों के पठन-पाठन की विधि में बहुत अन्तर है ! ग्रन्थों के पठन-पाठन में काल-अकाल और स्वाध्याय-अस्वाध्याय कृत प्रतिबन्ध खास नहीं होता, जबकि शास्त्रवाणी के जिसको आगम भी कहते हैं, उसके पठन-पाठन में काल-अकाल का ध्यान रखना आवश्यक हैं ।

वीतराग प्रणीत शास्त्र अन्यान्य ग्रन्थों की तरह हर किसी समय और किसी भी स्थान में नहीं पढ़े जाते । उनके पठन-पाठन का अपना नियत समय है । चार सन्ध्याओं को और चार महाप्रतिपदाओं को शास्त्र का पठने-पाठन नहीं किया जाता । अतिरिक्त दिनों में जो कालिक शास्त्र हैं वे दिन रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही नियमानुसार शरीर और आकाश के अस्वाध्यायों को छोड़कर पढ़े जाते हैं । इसके अतिरिक्त उपांग, कुछ मूल और कुछ छेद आदि उत्कालिक कहे जाते हैं, वे दिन-रात्रि के चारों प्रहर में पढ़े जा सकते हैं ।

स्वाध्याय करने वाले धर्म प्रेमी भाई-बहिनों को सर्वप्रथम गुरु महाराज की आज्ञा लेकर अक्षर, पद और मात्रा का ध्यान रखते हुए शुद्ध उच्चारण से पाठ करना चाहिये । आगम, शास्त्र, अंग, उपांग, मूल और छेद रूप से अनेक रूपों में विभक्त है, उन सब में मुख्य रूप से कालिक और उत्कालिक के विभाग में सबका समावेश हो जाता है । स्वाध्याय करते समय स्वाध्यायी को ये बातें ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह स्थान और समय स्वाध्याय के योग्य है या नहीं ? जहां अस्वाध्याय के कारण हो, वहां स्वाध्याय करने से ज्ञानाचार में दोष लगने की सम्भावना रहती है । अतः ज्ञान के चौदह अतिचारों में निम्न बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) सूत्र के अक्षर उलट पलट कर पढ़ना !
(२) एक शास्त्र के पद को दूसरे शास्त्र के पद से मिलाकर पढ़ना ।
(३) सूत्र-पाठ में अक्षर कम करना
(४) सूत्र पाठ में अधिक अक्षर बोलना,
(५) पदहीन करना,
(६) विना विनय के पढ़ना ।
(७) योग हीन-मन, वचन और काया के योगों की चपलता से पढ़ना ।

(८) घोष हीन-जिस अक्षर का जिस घोष से उच्चारण करना हो, उसका ध्यान नहीं रखना।

(९) पढ़ने वाले पात्र का ध्यान न रखकर अयोग्य को पाठ देना।

(१०) आगम पाठ को अविधि से ग्रहण करना।

(११) अकाल-जिस सूत्र का जो काल हो, उसका ध्यान न रखकर अकाल में स्वाध्याय करना।

(१२) कालिक-शास्त्र पठन के काल में स्वाध्याय नहीं करना।

(१३) अस्वाध्याय-अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।

(१४) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय नहीं करना।

अस्वाध्याय के प्रकार—

अस्वाध्याय का अर्थ यहां पर स्वाध्याय का निषेध नहीं किन्तु जिस क्षेत्र और काल में स्वाध्याय का वर्जन किया जाता है, वह अपेक्षित है, इस दृष्टि से अस्वाध्याय मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। (१) आत्म समुत्थ (२) पर समुत्थ। अपने शरीर में रक्त आदि से अस्वाध्याय का कारण होता है। अतः उसे आत्म समुत्थ कहा है। स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति आदि में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। वहां पर दस औदारिक शरीर की, दस आकाश सम्बन्धी, चार पूर्णिमा तथा चार महा-प्रतिपदा की और चार सन्ध्याएं कुल मिलकर ३२ अस्वाध्याय होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

दस आकाश सम्बन्धी—

(१) उलकापात-तारे का टूटना, उलकापात में एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(२) दिग्दाह-दिशा में जलते हुए बड़े नगर की तरह ऊपर की ओर प्रकाश दीखता है, और नीचे अन्धकार प्रतीत हो, उसे दिग्दाह कहते हैं। इसमें भी एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(३) गर्जित-मेघ का गर्जन होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय।

(४) असमय में मेघ गर्जन-बिजली चमकना। आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नहीं होती है।

(५) निर्घात-मेघ के होने या न होने की स्थिति में कड़कने की आवाज हो तो अहोरात्रि का अस्वाध्याय माना जाता है।

(६) यूपक–शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को चन्द्र प्रभा से संध्या आवृत्त होने के कारण तीनों दिन प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय माना जाता है।

(७) धूमिका-कार्तिक से माघ मास तक मेघ का गर्भ जमता है, इस समय जो धूम वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। जब तक धूमिका रहती हैं, तब तक स्वाध्याय का वर्जन करना चाहिये।

(८) महिका–शीतकाल में सफेद वर्ण की सूक्ष्म अप्काय रूप धूवर गिरती है, उसे महिका कहते हैं, जब तक धूवर गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(९) यक्षादीप्त–कभी-२ किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा रह-रह के प्रकाश होता हो, उसे यक्षादीप्त कहते हैं, जब तक वह साफ दिखाई पड़े तब तक अस्वाध्याय मानना चाहिये।

(१०) रजउद्घात–वायु के कारण आकाश में चारों ओर जो धूल छा जाती है, उसे रजोद्घात कहते है, जब तक यह रहे, तब तक अस्वाध्याय मानना चाहिये।

दस औदारिक शरीर सम्बन्धी—

(११-१३) तिर्यञ्च के हाड, मांस और रक्त साठ हाथ के अन्दर हो, तथा साठ हाथ के भीतर बिल्ली आदि ने चूहे को मारा हो तो, अहोरात्रि का अस्वाध्याय कहा गया है। यदि मनुष्य सम्बन्धी हाड-मांस, और रक्त आदि हो तो सौ हाथ दूर तक अस्वाध्याय माना गया है। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का साठ हाथ तक होता है।

काल की अपेक्षा टीकाकारों ने एक अहोरात्रि का समय माना है, किन्तु वर्तमान में कलेवर हटाकर स्थान को धोकर साफ कर लेने के बाद अस्वाध्याय नहीं माना जाता हैं। बहिरंग के ऋतुधर्म का तीन दिन और बालक-बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का अस्वाध्याय माना जाता है।

(१४) अशुचि-मल, मूत्र और गटर आदि स्वाध्याय स्थल के पास हो अथवा मलादि दृष्टिगोचर हो तो वहां स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(१५) श्मशान–श्मशान के चारों ओर सौ-सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना गया है।

(१६) चन्द्रग्रहण-चन्द्रग्रहण में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बारह प्रहर तक अस्वाध्याय माना गया है। आचार्यों ने यदि उदित चन्द्र ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के व चार प्रहर दिन का अस्वाध्याय मानने का निर्णय किया है।

(१७) सूर्यग्रहण–सूर्यग्रहण का कम से कम आठ, बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय माना गया है, यदि पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर का अस्वाध्याय माना जाता है।

(१८) पतन–राजा के निधन-राजा या उत्तराधिकारी की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा सत्तारूढ़ न हो तब तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(१९) राजव्युद्ग्रह–राजाओं के परस्पर संग्राम होता रहे, जब तक शान्ति न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(२०) औदारिक शरीर-उपाश्रय तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का कलेवर पड़ा हो तो साठ हाथ तथा यदि मनुष्य का कलेवर हो तो सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(२१-२८) चार महापूर्णिमा-१. आषाढ़ी पूर्णिमा, २. आश्विनी पूर्णिमा, ३. कार्तिकी पूर्णिमा, ४. चैत्र की पूर्णिमा। चार प्रतिपदा–१. श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, २. कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, ३. मगसर कृष्णा प्रतिपदा, ४. वैशाख कृष्णा प्रतिपदा। इन दिनों में इन्द्र महोत्सव होते थे। अतः इन आठ दिनों में अस्वाध्याय माना गया है।

(२९ ३२) चार संध्या–दिन एवं रात्रि के संध्याकाल अर्थात् प्रातः सायं, मध्याह्न, तथा मध्य-रात्रि में दो घड़ी अर्थात् एक मुहूर्त का अस्वाध्याय माना जाता है। आगम तीन प्रकार के होते हैं। १. मूल पाठ को सुत्तागम, २. अर्थ के पठन-पाठन को अर्थागम, ३. सूत्र बोलकर अर्थ पढ़ना तदुभयागम कहलता है। अस्वाध्याय काल में सूत्र पढ़कर, अर्थ वाचना करने कराने का निषेध समझना चाहिये। इस प्रकार अस्वाध्याय को छोड़कर, शुद्ध उच्चारण से शास्त्र का स्वाध्याय करना महती कर्म निर्जरा का कारण होता है। अतः सुज्ञ पाठकों को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये।

उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने कहा है कि–"सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।" (उत्तरा० २९) अर्थात् स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

सूत्र-परिचय

प्रस्तुत शास्त्र की रचना का मुख्य लक्ष्य मुमुक्षु साधकों को अल्प समय में आवश्यक ज्ञान प्रदान कर उन्हें कल्याण मार्ग की साधना में आगे बढ़ाना है। इसी दृष्टि से शास्त्र की रचना अलग-अलग विषय वाले दश अध्ययनों से की है। आचारांगादि अंग शास्त्रों की शिक्षा, समय और कुशाग्र बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं। अतः साधारण बुद्धि वाले आजकल के साधक जल्दी बोध प्राप्त नहीं कर सकते। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य शय्यम्भव ने साधना में आवश्यक विषय को दस विभागों में छांट-कर दशवैकालिक के रूप में उनका पूर्वो से संकलन कर अभ्यासार्थियों के लिये गागर में सागर भरने का काम किया है।

दस अध्ययनों में प्रथम साधना का मुख्य अंग धर्म है, अतः धर्म के स्वरूप और उसकी महिमा आदि का परिचय दिया गया है। धर्म की आराधना दीप्तिमान और कामनामुक्त साधक ही कर सकता है। दूसरे अध्ययन में कामना को कैसे निवारण करना, इसकी शिक्षा दी गई है।

साधक कामना से तभी मुक्त रह सकेगा, जब उसे आचार और अना-चार का ज्ञान होगा। अतः तीसरे अध्ययन में प्रमुख रूप से कुछ अनाचारों का परिचय दिया है। उसका नाम भी क्षुल्लकाचार कथा रखा गया है।

अनाचार से बचकर साधक आचार मार्ग की सम्यक् आराधना कर सकें, इसलिये चतुर्थ धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन में रात्रि भोजन विरमण सहित छः व्रतों की और षट्जीवनिकाय जीवों की रक्षा की शिक्षा दी गई है।

महाव्रतों का सम्यक् परिपालन तब ही सम्भव हो सकता है, जब आहार, विहार और सम्भाषण में विवेक से काम लिया जावे। अतः पांचवें अध्ययन में दो उद्देशकों से साधकों के आहार ग्रहण और परिभोग के के नियम बताये गये हैं।

आचारांग के पिण्डैषणा का, इस अध्ययन में संक्षिप्त सार प्रस्तुत कर दिया है। छठे अध्ययन में क्षुल्लकाचार कथा में बताये गये अनाचारों के मौलिक १८ स्थान बतलाकर श्रमणाचार की विस्तार से शिक्षा दी है। उसको महाचार कथा अथवा धर्मार्थकाम अध्ययन नाम से भी कहा जाता है।

साधना में अहिंसा महाव्रत के परिपालन हेतु जैसे पिण्ड शुद्धि का ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार अहिंसा और सत्य के लिये वाक्य शुद्धि की भी उतनी ही आवश्यकता है। बहुत से व्रती अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व्रत को धारण करके भी बोलने में वाच्य-अवाच्य का ध्यान नहीं रख पाते। उन्हें यह भी मालूम नहीं रहता कि संयमी को कैसा वचन बोलने से व्रत दूषित होता है। अतः सप्तम अध्ययन में भाषा के दोषों का वर्जन कर हित-मित और पथ्य भाषा बोलने की शिक्षा आवश्यक मानी गई है। भाषा शुद्धि का महत्त्व भी आहार शुद्धि से कम नहीं है।

आठवां अध्ययन आचार प्रणिधि है। इसमें अहिंसा आदि व्रत और आहार शुद्धि एवं वचन शुद्धि आदि आचारों का सम्यक् परिपालन करने के लिये जिन बातों की आवश्यकता है, उसको ध्यान में रखकर इस अध्ययन में अहिंसा की रक्षा के लिये सदा अप्रमत्त भाव से यतना करने की शिक्षा दी गई, और कहा गया है कि साधक उच्चारादि उत्सर्ग करने की वस्तुओं को निर्दोष स्थान देखकर परिष्ठापन करे। बीसवीं गाथा में कहा गया है कि साधु कान से बहुत सुनता और आंख से बहुत देखता है, किन्तु उसे सब सुनी, देखी बातें इधर उधर कहना उचित नहीं है। २१–२२ वीं गाथा में साधक को वचन सम्बन्धी विवेक की शिक्षा दी गई है। तथा कहा है कि वह देखी सुनी बात को जो दूसरों के लिये पीड़ा कारक हो नहीं बोले। २३-२५ तक की गाथाओं में कहा गया कि भोजन में आसक्त होकर अप्रासुक आहार नहीं करे। सदोष आहार का वर्जन करे। कभी विहार मार्ग में अलाभ की आशंका से आहार का संग्रह न रखे। यथा लाभ में सन्तोष करने वाला मुनि कभी किसी के अप्रिय कहने पर क्रुद्ध नहीं होवे। २६ वीं गाथा से ३२ तक में अनुकूल, प्रतिकूल परीषह शान्त भाव से सहन करे और सद्भावपूर्वक देह को कष्ट देना महाफल का कारण है ऐसा समझे। सूर्योदय से पूर्व आहार आदि को मन से भी नहीं चाहें।

अपने से पर का तिरस्कार और अपनी स्तुति (बड़ाई) आदि नहीं करे। कभी कोई गलती हो जाये तो उसको गुरुजनों के समक्ष बिना छुपाते प्रगट करे। ३३ वीं गाथा में गुरुजनों के वचन को खाली नहीं जाने दे, इस प्रकार के विविध शिक्षा वचनों से सूत्रकार ने इस अध्ययन में आचार की विशेष शुद्धि और तेजस्विता को बढ़ाने के लिये बहुमूल्य शिक्षाएं प्रदान की है।

उपरोक्त आचार संहिता और संयम शोधक नियमों का पालन वही साधक सम्यक् रूप से कर सकेगा, जिसको जिनराज की वाणी पर भक्ति

और बहुमान है। विनयहीन साधक जिन वचनों को सुनकर और जानकर भी सम्यक् आचरण नहीं कर सकेगा। जितना करेगा उसे भी वह भार मानकर ही, अतः क्रिया में आदर आवे और साधक लौकिक कामनाओं से दूर रहकर आचार धर्म का यथावत पालन करे। एतदर्थ नवम अध्ययन के ४ उद्देशकों में विनय की शिक्षा दी गई है।

पहले उद्देशक में अविनय और अभक्ति का अशुभ फल और उससे होने वाली आत्म गुण की हानि को नौ गाथाओं से बताकर कहा गया है कि जिसके पास धर्म पद का शिक्षण प्राप्त करे, उसके प्रति तन, मन और वाणी से विनय का प्रसाधन करे। दूसरे उद्देशक में विनय को धर्म का मूल बताकर अविनय से दुःख, अकीर्ति और आशातना होती है, और विनय से सुख, सुकीर्ति और भक्ति होती है। विनयवान इस दुष्कर संसार सागर को पारकर उत्तम गति को प्राप्त करता है। यह अर्थ बताया गया है। तीसरे उद्देशक में पन्द्रह गाथाओं से बताया गया है कि आचार्य की विनय भक्ति करने वाले शिष्य पूजक से पूज्य हो जाते हैं। इसलिये विनय का समाराधन करे। चौथे उद्देशक में विनय, श्रुत, तप और आचार इन चार प्रकार के के समाधि स्थानों से साधक जन्म मरण से मुक्त होकर शाश्वत सिद्ध पद का अधिकारी होता अथवा महर्द्धिक देव होता है।

नवम अध्ययन में चार उद्देशकों से दी गई शिक्षा का यह भी महत्व हो सकता है कि साधक पूर्वोक्त क्रियाओं को भय लज्जा, या राजकीय वेगार भाव से रहित किन्तु आत्मिक सद्‌भावना और भक्तिपूर्वक इनका आचरण करे। चार समाधियों में यह स्पष्ट कहा गया है कि (१) साधक इस लोक के धन-वैभव के लिये, आचार का पालन नहीं करे, (२) परलोक में स्वर्गादि सुखों के लिये भी नहीं करे, (३) महिमा पूजा के लिये भी नहीं करे, किन्तु एकान्त कर्म निर्जरा और आज्ञा पालन की भावना से आचार धर्म का पालन करे।

दसवें अध्ययन में शास्त्रगत समस्त विषयों का उपसंहार करते हुए २१ गाथा से यह बताया है कि भिक्षु कौन होता है? अन्त में दो चूलिका अध्ययन है। उनके लिये कहा जाता है कि-आर्या यक्षा ने सीमंधर स्वामी के के मुख से साक्षात सुनकर इनको प्राप्त किया और संघ के निवेदन पर उसको दोनों अध्ययन समर्पित किये।

सभी अध्ययन मुमुक्षु के लिये पठनीय मननीय एवं विनयपूर्वक आचरणीय हैं।

रचना एवं निर्यूहण

दशवैकालिक सूत्र की रचना अंग शास्त्रों की तरह गणधरकृत नहीं किन्तु स्थविरकृत है, इसलिये इसकी गणना अंग बाह्य में की जाती है। निर्युक्तिकार के अनुसार चतुर्दश पूर्वों से दशवैकालिक सूत्र का आर्य शय्यंभव के द्वारा निर्युहण किया गया है। दृढ़ परम्परा है कि जब शय्यंभव भट्ट आर्य प्रभव स्वामी के पास मुनि धर्म में दीक्षित हुए, तब उनकी धर्मपत्नी सगर्भा थी पारिवारिक लोगों के द्वारा पूछने पर कि तेरे उदर में क्या कुछ है ? उत्तर में उसने सकुचाते हुए कहा–'मनख'। समय पाकर जन्म के पश्चात बालक का नाम माता की उक्ति के आधार पर "मनख" रखा। वही बालक लगभग ८ वर्ष का हुआ, तब उसने माता से पूछा कि मेरे पिता कहां हैं ? माता ने बालक से कहा कि तेरे पिता तेरे जन्म काल से पूर्व ही जैन मुनि बन गये हैं ! और वे चम्पानगरी के आसपास विचरण कर रहे हैं। स्नेहवश बालक ने अपने खेल छोड़कर, पिता से मिलने को चम्पानगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। आर्य शय्यंभव शौच को निकले हुए थे, उस समय बालक उधर आया और मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने बालक से पूछा कि तुम कौन हो और कहां से आये हो ?

उत्तर में बालक ने कहा, मैं शय्यंभव भट्ट का पुत्र हूँ, और राजगृही नगरी से अपने पिता जो दीक्षित हो गये हैं, उनसे मिलने आया हूँ। आर्य शय्यंभव बालक की बात से मन ही मन प्रसन्न हुए, बालक ने पूछा–कि क्या आप मेरे पिता मुनिश्री को जानते है ? आर्य शय्यंभव ने कहा–हाँ मैं जानता हूँ, हम और वे एक ही है। बालक ने कहा हे भिक्षु ! मुझे उन्हीं के पास दीक्षित होना है। आर्य शय्यंभव ने उपाश्रय में आकर उसे मुनि दीक्षा प्रदान की, और उसके साथ ही सोचा कि-इसका जीवन (आयुष्य) काल कितना शेष है ! पूर्वश्रुत में उपयोग लगाने से ज्ञात हुआ कि नवदीक्षित मुनि का आयुकाल मात्र छः मास का है। उतने अल्पकाल में मुनि अपनी सफल साधना से आत्महित कर सके, ऐसा ज्ञान दिया जाय तो अच्छा। इस भावना से आर्य शय्यंभव ने नवदीक्षित मुनि के लिये पूर्वश्रुत से दश अध्ययन का निर्यूहण कर दिन के अवसान काल में पूर्ण किया। इसलिये इस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। गाथा–

मणग पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दस अज्झयणा ।
वेयालियाई ठविया तम्हा दसकालियं णाम ॥१५॥

नवदीक्षित साधु-साध्वियों के लिये इसका अध्ययन अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है। मुनि मनख ने दशवैकालक सूत्र से शिक्षा प्राप्त कर अपना कल्याण किया और तभी से इस सूत्र का अध्ययन-अध्यापन प्रचुर मात्रा में होने लगा।

कौनसा अध्ययन किस पूर्व से–

निर्युक्तिकार के अनुसार चतुर्थ धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन आत्म प्रवाद पूर्व से, पिण्डैषणा अध्ययन कर्म प्रवाद पूर्व से, और वाक्य शुद्धि नामक सप्तम अध्ययन सत्य प्रवाद पूर्व से उद्धृत किया गया है। शेष अध्ययन नवम पूर्व की तीसरी वस्तु से लिये गये है ! जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा–

३. आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥

४, सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धि उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइय वत्थुणो ॥१७॥

दूसरी मान्यता के अनुसार द्वादशांगी से मनख मुनि के अनुग्रहार्थ इसका निर्यूहण माना गया है। जैसाकि कहा है–

५. बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥

इस सूत्र की शिक्षाओं का पालन करने वाला अन्य शास्त्रों को विना पढ़े भी अपना निश्चित कल्याण कर सकता है। विशेप पाठक मूल सूत्र के स्वाध्याय से ही ज्ञानामृत का पान कर स्वयं अनुभव करेंगे।

अनुक्रमणिका

दशवैकालिक सूत्र

(मूल, पद्यानुवाद, अन्वयार्थ, भावार्थ और टिप्पणी सहित)

दशवैकालिक सूत्रम्

प्रथम अध्ययन
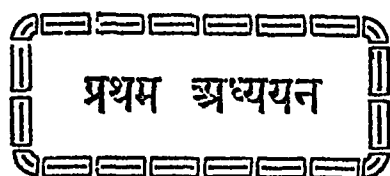
मूल—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

हिन्दी पद्य—

यह धर्म परम मंगल जानो, अहिंसा संयम तप वाला।
सुरवर भी उसको नमन करे, जो सदा धर्म में मनवाला ॥

अन्वयार्थ—

धम्मो = दुर्गति में गिरते हुए जीव को बचाने वाले सत्कर्म। मंगलमुक्किट्ठं = धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संजमो, तवो = वह अहिंसा, संयम और तप रूप है। देवावि = देवता भी। तं = उस धर्मी को। नमंसंति = नमस्कार करते हैं। जस्स = जिसका। धम्मे = धर्म में सया = सदा। मणो = मन लगा रहता है।

भावार्थ—

अहिंसा, संयम और तप जिसकी आत्मा है, वह धर्म संसार के सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है, छोटे वड़े सब जीवों को आत्मवत् समझकर नहीं मारना, नहीं सताना अहिंसा है। अहिंसा का पूर्ण पालन बिना संयम के नहीं होता, अतः धर्म का दूसरा अंग संयम बतलाया है। वह तप से पुष्ट

होता है। इच्छा निरोध एवम् कष्ट सहिष्णुता रूप तप से संयम का निराबाध पालन होता है, अतः तप धर्म का तीसरा अंग है। सबको मिलाकर कहा कि– "अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है।" भजन, स्मरण, कीर्तन, दर्शन, सत्संग, शास्त्र पठन और दान, सेवा आदि धर्म के साधन हैं।

ऐसे धर्म में जिसका सदा मन रमा रहता है, उसको चार जाति के भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवता भी नमस्कार करते हैं।

▭

मूल—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥२॥

हिन्दी पद्य—

जैसे तरुवर के फूलों पर, मधुकर रस को आ पीता है।
वह तृप्त करे अपने तन को, सुमनों को कष्ट न देता है॥
भ्रमर नहीं खेती करता, उद्यान नहीं लगवाता है।
सहज खिले तरु फूलों से, निज तन का पोषण करता है॥

अन्वयार्थ—

जहा = जैसे। दुमस्स = वृक्ष के। पुप्फेसु = फूलों पर। भमरो= भंवरा। रसं = रस को। आवियइ = मर्यादा से पीता है। पुप्फं = फूल को। न य किलामेइ = पीड़ा उत्पन्न नहीं करता। य = और। सो = वह। अप्पयं = अपने आपको। पिणेइ = तृप्त कर लेता है।

भावार्थ—

जैसे भंवरा फूलों पर मर्यादा से रसपान करके अपना पोषण कर लेता और फूल को पीड़ा उत्पन्न नहीं होने देता है, अहिंसक जनों के आहार ग्रहण का भी ऐसा ही तरीका होना चाहिए, अतः साधु थोड़ा-थोड़ा अनेक घरों से आहार ग्रहण करता है, जिससे अपना अच्छी तरह निर्वाह हो सके और दूसरों के लिए कष्टदायक न हो।

▭

मूल—

एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए सन्ति साहूणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणारया ॥३॥

हिन्दी पद्य—

इस तरह श्रमण और मुक्त, लोक में चलते हैं जो साधु सुजन ।
फूलों पर अलिसम रसकामी, बन करते भिक्षा अन्वेषण ॥

अन्वयार्थ—

एमे ए = ऐसे ये । समणा = श्रमण तपस्वी । मुत्ता जे = बहिरंग और अंतरंग परिग्रह से मुक्त जो । लोए = लोक में । साहुणो = साधु । सन्ति = हैं । पुप्फेसु = फूलों पर । विहंगमा व = भँवरे के समान, वे । दाण भत्तेसणा = दाता द्वारा दिये गये शुद्ध भक्त की गवेषणा में । रया= तत्पर होते हैं ।

भावार्थ—

जो लोक में असंग्रही और तपस्वी साधु होते हैं, वे फूलों पर भँवरे के समान, दाता द्वारा दिये गये निर्दोष आहार की गवेषणा में तत्पर होते हैं । अच्छे साधु प्रेम पूर्वक दी गई निर्दोष भिक्षा ही ग्रहण करते, अपने आहार विहार में किसी को कष्ट नहीं देते, और न किसी प्रकार के संग्रह की ही भावना रखते हैं, यही उनकी विशेषता है ।

शिष्य स्वीकार करते हुए—

मूल—

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरो यथा ॥४॥

हिन्दी पद—

हम अपनायेंगे वृत्ति वही, जिसमें न किसीको हो पीड़ा ।
यथा गृहीकृत भोजन पर, विचरे फूलों पर ज्यों कीड़ा ॥

अन्वयार्थ—

वयं च = और हम। वित्ति = ऐसी वृत्ति। लब्भामो = प्राप्त करेंगे, जिसमें छोटा बड़ा कोई जीव। न य उवह० = कष्ट प्राप्त नहीं करे। पुप्फेसु = फूलों पर। भमरो = भँवरे। जहा = जैसे। रीयन्ते = जाते हैं। अहाग० = हम गृहस्थों के द्वारा, सहज बनाये गये भोजन के विषय में विचरण करते रहेंगे।

भावार्थ—

शिष्य गुरुदेव के चरणों में यह प्रतिज्ञा करता है कि हम ऐसे ही ढंग से वृत्ति चलायेंगे, जिससे किसी को कोई प्रकार का कष्ट न हो, फूलों पर भँवरों की तरह, गृहस्थ के यहां सहज कृत आहार को ही हम ग्रहण करेंगे।

=

मूल—

महुगार-समाबुद्धा, जे भवन्ति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दन्ता, तेण वुच्चन्ति साहुणो।त्तिबेमि।

हिन्दी पद्य—

मधुकर सम जो प्रज्ञाधारी, जो मोह रहित हो जग चलते हैं।
विध विध पिंडों में रमण करे, वे दान्त साधु कहलाते हैं॥

अन्वयार्थ—

महुगार समा = भंवरे के समान। जे बुद्धा = जो ज्ञानवान् और। दन्ता = जितेन्द्रिय तथा। अणिस्सिया = कुल जाति के प्रतिबंध रहित वे। नाणापिंडरया = स्निग्ध रूक्ष आदि नाना प्रकार के शुद्ध आहार में तत्पर। भवन्ति = होते हैं। तेण = इसलिए। साहुणो = साधु। वुच्चंति = कहे जाते हैं। त्तिबेमि = ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—

जैन श्रमण भ्रमरवृत्ति वाले होते हैं, उनके लिए कहा है कि वे भ्रमर के समान किसी कुल जाति या व्यक्ति के आश्रित नहीं होकर, सरस नीरस नाना प्रकार के भोजन में सन्तुष्ट और जितेन्द्रिय होते हैं, वे ही साधु कहलाते हैं। लाभालाभ में सन्तुष्ट रहना ही सन्तों का स्वभाव है। ▢

प्रथम अध्ययन की टिप्पणी

धर्म शब्द की विस्तृत व्याख्या– गाथा १

(धम्मो) – धर्म शब्द का अर्थ है–धारण करना । निर्युक्तिकार ने कहा है– 'दव्वंस्स पज्जवा से' द्रव्य को धारण करने वाली जो अवस्थाएं 'ते धम्मा तस्स दव्वस्स' वे उस द्रव्य के धर्म है । फिर 'वत्थु सहावो धम्मो'– वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहा है । स्थानांग सूत्र के अनुसार धर्म के दस प्रकार होते हैं । जैसे–गाम धम्मे १, नगर धम्मे २, कुल धम्मे ३, गण धम्मे ४, संघ धम्मे ५, पासंड धम्मे ६, रट्ठ धम्मे ७, सुय धम्मे ८, चारित्र धम्मे ९, अत्थिकाय धम्मे १० । स्था. १० ।

अर्थात् ग्राम धर्म १, नगर धर्म २, कुल धर्म ३, गण धर्म ४, संघ धर्म ५, पासंड धर्म ६, राष्ट्र धर्म ७, श्रुत धर्म ८, चारित्र धर्म ९, अस्तिकाय धर्म १० । यहां ग्राम आदि की व्यवस्था को धर्म कहा है ।

उपर कथित ग्राम धर्म आदि सावद्य हैं अत: लौकिक धर्मों को ग्राह्य नहीं माना जाता । जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है—

> धम्मत्थि कायधम्मो, पयारधम्मो य विसयो धम्मो य ।
> लोइय कुप्पावयणि अलोगुत्तर लोग अणेगविहो ।। ४१ ।।
>
> गम्मपसुदेसरज्जे, पुरगाम गणगोट्ठिराइणं ।
> सावज्जो कुतित्थिय धम्मो, न जिणेहि उ पसत्थो ।। ४२ ।।

अर्थात् धर्मास्तिकाय धर्म, प्रचार धर्म आदि आरम्भ युक्त होने से सावद्य है । कुप्रावचनिक धर्म भी सावद्य प्राय: हैं, अत: वे कल्याणकारी नहीं होते । कल्याणकारी धर्म की व्याख्या इस प्रकार है—

> दुर्गति प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते ततः ।
> धत्तो चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थितः ।।

अर्थात् दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जिससे शुभ स्थान में धारण किया जाता है उसे धर्म कहते हैं। इसी बात को निर्युक्तिकार ने कहा है— धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परिमंगल पइन्ना'। नि. गा. ८६ ॥ संक्षेप में धर्म के लिए इस प्रकार कहा गया है–

धम्मो वत्थु सहावो, खमादि भावा यो दसविहो धम्मो।
रयणं तयं च धम्मो, जीवाण रक्खण धम्मो ॥(समा०)॥

धर्म से आचार और विचार की मलिनता दूर की जाती है। वह दस प्रकार से कहा गया है। खंती मुत्ती, अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे ॥ठा. १०/१५॥

अर्थात् क्षमा, निर्लोभता, सरलता, कोमलभाव, लाघव, सत्य, संयम तप, त्याग और ब्रह्मचर्य से शुद्ध विचार और निर्दोष आचार ही दुःख मुक्ति के उपाय है। इसी को यहां अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म कहा है।

मंगलमुक्किट्ठं (मंगल उत्कृष्ट)

प्रत्येक शास्त्र के आदि में मंगल विधान की अति प्राचीन परम्परा है। मंगल का विविध अर्थो में प्रयोग किया गया है। सामान्य रूप से द्रव्य मंगल और भाव मंगल, इस प्रकार मंगल को दो भागों में बांटा जा सकता है। दधि - अक्षत - नालिकेर आदि द्रव्य सचित्त - अचित्त और मिश्र रूप से द्रव्य मंगल विविध प्रकार का है, स्वस्तिक आदि आठ द्रव्य मंगल भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।※

१. शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से मंगल शब्द मगि धातु से बनता है। 'मंग्यते प्राप्यते हितमनेन इति मंगलम्' जिसके द्वारा हित की प्राप्ति हो, उसे मंगल कहा है।

२. 'मंग्यते स्वर्गोऽपवर्गो वा अनेनइति मंग्–धर्मः तम्। मंगलाति इति मंगलम्। अर्थात् जिसके द्वारा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति हो, उस धर्म रूप मंग को प्राप्त कराने वाला (याने प्राप्ति कराने वाला) मंगल कहा गया है।

३. शास्त्र को अलंकृत करने वाला, जिसके द्वारा शास्त्र अलंकृत हो, जैसाकि कहा गया है कि–'मंड्यते शास्त्रम् अलंक्रियते अनेन इति मंगलम्।'

※ टिप्पणी–मलियागिरि आवश्यक वृत्ति (हरिभद्रीय कृत) भाग प्रथम (पूर्वार्ध)

४. विघ्न का निवारण करने वाला, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'मन्यते ज्ञायते निश्चीयते विघ्नाभावो अनेन इति मंगलम् ।'

५. जिसके द्वारा विघ्न रहित शिष्य प्रसन्न होते हैं, उसे भी मंगल कहा है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'माद्यन्ति विघ्नाभावेन हृष्यन्ति शिष्या अनेन इति मंगलम् ।'

६. शास्त्र आदि की महिमा बढ़ाने वाला, जिससे शास्त्र की महिमा पूजा बढ़े, वह मंगल है ।

७. आत्मा से संसार को अलग करने वाला, मुक्त करने वाला, जैसा कि कहा है– 'मां गालयति अपनयति संसारादिति मंगलम् ।'

८. आत्मा के पाप मल को हटाने वाला, इसकी व्युत्पति इस प्रकार है– 'मलं पापं गालयति स्फेटयतीति मंगलम् ।'

९. जिससे कहीं विघ्न न हो, उसे मंगल कहते हैं । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'मा भूत गलो विघ्नो अमारीति मंगलम् ।'

इत्यादि मंगल शब्द के अनेक अर्थ हैं । अन्य मंगल अमंगल भी हो सकते हैं, इसीलिए वे एकान्त मंगल नहीं कहे जा सकते । किन्तु धर्म सदा शाश्वतिक मंगल है.। वह कभी अमंगल नहीं हो सकता । अतः संसार के समस्त द्रव्य मंगलों में भाव मंगल धर्म उत्कृष्ट मंगल है । धर्म इसलिए उत्कृष्ट मंगल है कि वह जन्म मरण के बन्धनों को काटकर पर स्वरूप आत्मा को स्व-स्वरूप की प्राप्ति कराने वाला है, अतः उत्कृष्ट मंगल है ।

अहिंसा संजमो तवो....

१. अहिंसा– धर्म का पहला अंग अहिंसा है, हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है, प्राणातिपात - प्राणों के अतिपात को जहां हिंसा कहा गया है, वहां प्राणातिपात विरमण याने विरति को अहिंसा ! प्राणियों के प्राणों का वियोजन करना हिंसा है ।

"प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता, तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ।"

मन, वचन और काया के प्रमत्त व्यापार हिंसा के प्रमुख कारण है । जैसे–निषेध पक्ष में प्राणों का अतिपात नहीं करना अहिंसा है । इस प्रकार हिंसा से विपरीत रक्षण रूप अहिंसा इसका विधि पक्ष है । आचारंग सूत्र

के सम्यक्त्व अध्ययन और सूत्रकृतांग में धर्म का रूप प्रस्तुत करते हुए इसी वात को कहा है कि—

किसी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना, परिताप नहीं देना, पराधीन-वन्धन में नहीं डालना, यही शुद्ध, शाश्वत धर्म है।

जैसे कोई वेंत, हड्डी, मुष्टि आदि से मारे-पीटे, ताड़ना करे, तर्जना करे, व्याकुल करे, खिन्न करे और प्राण हरण करे तो मुझे दुःख होता है। जैसे मृत्यु से लेकर, रोम उखाड़ने तक के व्यवहार से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिये। उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिये, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है, इस प्रकार धर्म का प्राण अहिंसा है। इसीलिए प्रभु के कहा है– एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसई किंचणं' (सूत्रकृतांग)

२. संयम– ज्ञान पाने का सार यही है कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करे। अहिंसा की व्यवस्थित आराधना के लिए संयम की आवश्यकता होती है। असंयमी अहिंसक नहीं हो सकता, अतः अहिंसा के साथ धर्म का दूसरा अंग संयम वतलाया गया है। संयम का अर्थ है– अपने आपको हिंसा आदि कर्म बन्ध के कारणों से अच्छी तरह उपरत अर्थात् अलग रखना। जैसा कि आचार्य ने कहा है– 'आश्रवद्वारोपरमः संयमः।' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच द्वारों से कर्म आते हैं। उनसे उपरत होना संयम है। संयम का व्यापक अर्थ अन्य प्रकार से भी किया गया है, जैसे कि– हिंसा आदि पांच आश्रव, पंचेन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और पांच समिति - तीन गुप्ति का पालन, इस प्रकार सतरह प्रकार से कहा गया है। उक्तं च—

"पंचाश्रव विरमणं पंचेन्द्रिय निग्रह कषाय जय, दण्ड त्रयविरतिश्च संयम सप्त दश: भेदः।" संयम का दूसरा अर्थ यतना भी होता है। समवयाँग सूत्र में संयम के सतरह भेद अलग तरह से वताये गये हैं। पृथ्वीकाय संयम १, अप्काय संयम २, तेउकाय संयम ३, वायुकाय संयम ४, वनस्पतिकाय संयम ५, वेइन्द्रिय संयम ६, तेइन्द्रिय संयम ७, चउरिन्द्रिय संयम ८, पंचेन्द्रिय संयम ९, अजीवकाय संयम १०, प्रेक्षा संयम ११, उवसंपज संयम १२, अपहृत संयम १३, प्रमत्त संयम १४, मन संयम १५, वचन संयम १६ और काय संयम १७।

३. तवो (तप)– अहिंसा व संयम जैसे धर्म के अंग हैं उसी प्रकार तप भी धर्म का विशिष्ट अंग है। संयम से नये कर्मो का आगमन रोका जाता है, जबकि तप के द्वारा संचित कर्मो को क्षीण करने की प्रक्रिया होती है। तप का अर्थ - कर्मो को तपाने की क्रिया। जो अष्टविध कर्म ग्रन्थियों को तपाकर नष्ट करता है, उसे तप कहते हैं। जैसाकि चूर्णिकार ने कहा है—

"तवो णाम तावयत्ति उ ते परममंगल पइन्ना।"

अज्ञान तप जहां शरीर मात्र को तपाता है वहां वीतराग प्ररूपित सम्यक् तप कर्मो को तपाकर आत्मा से उसी प्रकार अलग करता है जैसे अग्नि का ताप घी के मैल को अलग करता है। तप बारह प्रकार के हैं—

१. अनशन– एक दिन से लेकर छः मास तक अन्न जल आदि का त्याग करना या आजीवन आहार मात्र का त्याग करना। २. ऊनोदरी– आहार की मात्रा कम करना, क्रोधादि घटाना, वस्त्र-पात्रादि उपकरण कम रखना आदि। ३. भिक्षाचरी– भिक्षाचर्या अथवा वृत्ति संक्षेप - अभिग्रह करना या भोजन के पदार्थो में संकोच करना। ४. रसपरित्याग– दूध, दही, मिष्ठान आदि रसों का त्याग करना। ५. कायाक्लेश– आसन या लुंचन आदि से शरीर को कष्ट देना। ६. प्रतिसंलीनता– इन्द्रिय कषाय योगों को अशुभ से रोकना और कुशल मन, वाणी आदि की प्रवृत्ति करना। ये छः बाह्य तप है। ७. प्रायश्चित– आत्मशुद्धि के लिए व्रत आदि में लगे दोषों की आलोचना करना, गुरू प्रदत्त प्रायश्चित स्वीकार करना। ८. विनय– देव, गुरू, धर्मबन्धु, धर्म क्रिया का विनय करना, सम्यक् क्रिया से श्रद्धा का आराधन करना। ९. वैयावृत्य– साधु, साध्वी की औषज - भेषज एवम् आहार आदि से उचित सेवा करना। १०. स्वाध्याय– पठन - पाठन, परा-वर्त्तन, चिन्तन और धर्म कथा आदि। ११. ध्यान– आर्त्त, रौद्र ध्यान से बचकर धर्म व शुक्ल ध्यान में आत्मा को स्थिर करना। १२. व्युत्सर्ग– शरीर तथा उपधि आदि का व्युत्सर्ग करना, शरीर की हलन - चलन का त्याग करना। ये छः आन्तरिक तप है। इनके द्वारा चित्त के विकारों का विशेष परिशोधन होता है। वहिरंग तप अन्तरंग तप की पूर्ति के लिए है। तप के लिए शास्त्र में कहा है– 'भवकोडि संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ। उत्तरा ३०।

सामण्णपुव्वयं बीयं अज्झयणं

द्वितीय अध्ययन
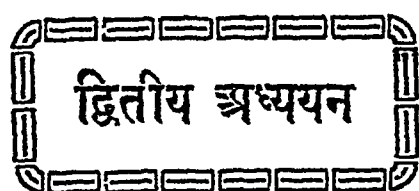
मूल—

> कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
> पए पए विसीयन्तो, संकप्पस्स वसंगओ ॥१॥

हिन्दी पद—

> कैसे वह श्रमण धर्म पाले, जो काम निवारण करे नहीं।
> पद पद पर आकुल व्याकुल हो, संकल्प दासता तजे नहीं ॥

अन्वयार्थ—

सामण्णं = श्रमण धर्म का पालन। कहं = कैसे। कुज्जा = करेगा जो = जो। कामे = इच्छाओं-कामनाओं का। न निवारए = निवारण नहीं करता। पए पए = पग-पग पर। विसीयंतो = खेद पाता हुआ वह। संकप्पस्स = संकल्प विकल्प के। वसंगओ = अधीन होता है।

भावार्थ—

जो साधक कामनाओं का निराकरण नहीं कर पाता, वह श्रमण धर्म का पालन कैसे करेगा? क्योंकि कामना के अधीन पुरुष संकल्प विकल्प के वशीभूत होकर, पग-पग पर खेद प्राप्त करता है। अप्राप्त कामना की पूर्ति और प्राप्त के रक्षण तथा उपभोग के लिए उसका मन सदा चिन्तित रहता है, अतः श्रमण के लिए आवश्यक है कि वह ज्ञान-भाव को जगाकर कामना पर विजय प्राप्त करे।

कामना पर विजय प्राप्त किये विना श्रमण धर्म का यथावत् पालन नहीं किया जा सकता।

मूल—

वत्थ - गंधमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजंति, न से चाइति वुच्चइ ॥२॥

हिन्दी पद्य—

जो वस्त्र गंध और आभूषण, नारी एवं अनुकूल शयन।
परवश भोग नहीं करते, त्यागी उनको नहीं कहते जिन ॥

अन्वयार्थ—

वत्थ गन्धमलंकारं = वस्त्र, कपूर आदि गंध एवम् अलंकार। इत्थीओ = स्त्रियां। य = और। सयणाणि = पलंग आदि शय्याओं को। अच्छंदा = परवशता से। जे = जो। न भुंजंति = नहीं भोगते। से=वे चाइत्ति = त्यागी, ऐसा। न वुच्चइ = नहीं कहलाते।

भावार्थ—

गाथा में कहा गया है कि केवल वस्त्र, गन्ध, माला, आभूषण और संसार की विविध रमणीय भोग सामग्री का उपभोग नहीं करने से ही कोई त्यागी नहीं होता। क्योंकि मनुष्य क्रोध, लोभ और भय के वश होकर भी भोग्य वस्तुओं का सेवन नहीं करता। शुगर की बीमारी वाला मीठा नहीं खाता। बी. पी. का बीमार नमक का वर्जन करता और हार्ट का रोगी घूमना-फिरना, परिवार से अधिक बोलना भी छोड़ देता है। पति-पत्नी की वैमनस्यता में परस्पर संभाषण भी नहीं होता। फिर संभोग की तो बात ही क्या है। यह सब त्याग का बाहरी रूप है। लाखों व्यक्ति-साधन का अभाव, पराधीनता या रोगादि के भय से चाहते हुए भी इष्ट पदार्थों का भोग नहीं कर पाते। वस्तुतः वे त्यागी नहीं कहलाते हैं।

मूल—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठीकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥३॥

हिन्दी पद्य—

जो सुन्दर वा प्रिय भोगों को, पाकर भी पीठ दिखाता है।
स्वाधीन भोग को तजता है, जग में त्यागी कहलाता है ॥

अन्वयार्थ—

जे = जो। कन्ते = कान्त, मनोहर। य = और। पिये = प्रिय भोए = भोगों को। लद्धे = मिलने पर। विपिट्ठी कुव्वई = पीठ करता है, तथा। साहीणे = स्वाधीन याने प्राप्त भोगों को। चयइ = छोड़ता है से हु = वही। चाइति = त्यागी। वुच्चइ = कहलाते हैं।

भावार्थ—

वस्तुतः त्यागी वे हैं, जो सुन्दर और रुचिकर भोग-सामग्री को मिलने पर पीठ करते, ठुकरा देते और प्राप्त भोगों को स्वाधीनता से छोड़ देते हैं। वह त्याग मानसिक शान्ति प्रदान करता और साधक के मन को चाहना से मुक्त करता है। धन्ना, शालिभद्र की तरह धन-धान्य और पुत्र कलत्रादि चित्ताकर्षक भोग सामग्री को पाकर भी जो इच्छा से उनको त्यागते हैं वे ही वास्तव में त्यागी कहाते हैं।

मूल—

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं।

हिन्दी पद्य—

जो समता पूर्वक विचरण करते, मुनिवर का मन बाहर निकले।
मैं ना उसका नहीं वह मेरी, यह सोच राग को दूर हरे ॥

अन्वयार्थ—

समाइ = सम-रागद्वेष रहित। पेहाइ = बुद्धि से। परिव्वयन्तो = चलते हुए। सिया = कदाचित् साधु का। मणो = मन। बहिद्धा=संयम से बाहर। निस्सरई = निकल जाय, तब क्या करे? उत्तर– सा = वह

महं = मेरी। न = नहीं, और। अहं वि = मैं भी। तीसे = उसका नो वि = नहीं हूँ। इच्चेव=इस प्रकार, सोचकर। ताओ=उन स्त्रियों से रागभाव को। विणएज्ज = हटाले।

भावार्थ—

राग द्वेष रहित शान्त दृष्टि से साधना मार्ग में चलते हुए भी कभी किसी साधक का मन संयम से बाहर निकल जाय, क्योंकि– "कर्मणो गहना गतिः" के अनुसार उदित कर्म बड़े बलवान होते हैं। जप तप की करणी करते हुए भी रथनेमि और कंडरीक मुनि की तरह यदि मन धर्म से बाहर हो जाय तो आत्मार्थी जन ऐसा सोचे कि, वह मेरी नहीं और मैं उसका नहीं। बाह्य पदार्थों के साथ रहा हुआ, मम-भाव ही, राग उत्पन्न करके मन को चंचल करता है। अतः सर्व प्रथम मम-भाव का उन्मूलन करना चाहिए। भौतिक पदार्थों से मम-भाव दूर करते ही राग का बन्ध ढीला हो जायगा।

▭

मूल—

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए।५।

हिन्दी पद्य—

कर आतापन कोमलता तज, दे छोड़ काम दुःख होंगे दूर।
काटो द्वेष राग को छोड़ो, जग में सुख होगा भरपूर॥

अन्वयार्थ—

आयावयाहि = धूप एवं सर्दी की आतापना ले। चय सोगमल्लं = सुकुमारपन का परित्याग कर। कामे = कामवासना या कामनाओं को। कमाहि = दूर करो वा लंघन करो तो। दुक्खं = दुःख। कमिअं = दूर हुआ, समझ। दोसं = द्वेष का। छिन्दाहि = छेदन कर। रागं=राग को विणज्जए = दूर हटा। एवं = ऐसा करने से। संपराए = संपराय अर्थात् संसार में। सुही = सुखी। होहिसि = हो जाओगे।

भावार्थ—

मोहनिवृत्ति के लिये बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के साधनों का संयुक्त प्रयोग किया जाय तो ही साधक सरलता से कामना पर विजय पा सकता है।

इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा है, शीत और ताप की आतापना लेते हुए सुकुमारता का परित्याग करो, एवम् कामनाओं का निवारण करो तो दुःख दूर हुआ समझो। फिर कहा—

द्वेष का छेदन करो और राग को अलग करो, ऐसा करने से संसार में सुखी हो जाओगे।

▭

मूल—

पक्खन्दे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वन्तयं भोत्तुं कुले जाया अगन्धणे ॥६॥

हिन्दी पद्य—

धूमचिन्ह जलती ज्योति में, समुद कूद कर करे प्रवेश।
सर्प अगन्धन कुल के जन्मे, वान्त न लेते सहते क्लेश॥

अन्वयार्थ— प्रसंगवश राजीमती का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अगन्धणे कुले = अगन्धन कुल में। जाया = उत्पन्न हुए सर्प। जलियं = जलती हुई। जोइं = आग जो। धूमकेउं = धूम के निशान वाली और। दुरासयं=दुःख से आश्रयण करने योग्य है, उसमें। पक्खंदे= उछल पड़ते है किन्तु। वन्तयं = उगले विष को। भोत्तुं = भोगना, पीछा लेना। नेच्छन्ति = नहीं चाहते।

भावार्थ—

सरीसृप-तिर्यंच जाति में भी देखा जाता है कि अगन्धन कुल में जन्मे हुए सर्प जलती अग्नि में उछलकर जलना मंजूर करते हैं किन्तु उगले हुए विष को फिर से खींचना स्वीकार नहीं करते। साधक को अपने त्याग

पर इसी प्रकार की दृढ़ता से चलना चाहिए, चातक जैसा पक्षी मरना मंजूर करके भी वर्जित वस्तु भूमि पर गिरा हुआ पानी स्वीकार नहीं करता, तब उच्च जाति का मनुष्य उनसे पीछे कैसे रह सकता है ?

मूल—

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीविय-कारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥

हिन्दी पद्य —

हे! यशकामी धिक्कार तुझे, जो भोगी जीवन के हेतु।
वान्त ग्रहण तुम चाह रहे, है श्रेष्ठ मृत्यु तव सुख हेतु ॥

अन्वयार्थ—

धिरत्थु = धिक्कार हो। जसोकामी = हे यशस्कामिन् ! ते=तुमको जो = जो। तं = तुम। जीविय कारणा = भोग जीवन के कारण। वंतं = छोड़े हुए भोग को। आवेउं=फिर भोगना। इच्छसि = चाहता है, इसकी अपेक्षा। ते = तुमको। मरणं = मरना। सेअं = अच्छा। भवे = है।

भावार्थ—

जो मानव भोग-जीवन के लिए, वर्जित वस्तु का उपभोग करना चाहता है, वह धिक्कार योग्य है।

हे यशस्कामिन् ! इस प्रकार त्यागे हुए पदार्थ को फिर लेने की अपेक्षा तो तुमको मरना श्रेयस्कर है, क्योंकि प्रण का महत्व प्राणों से भी अधिक है।

मूल—

अहं च भोगरायस्स, तं च सि अन्धग-वह्निणो।
मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

हिन्दी पद्य—

मैं भोजराज की पुत्री हूं, तुम अंधकवृष्णिक वंश प्रसूत।
हमें न होना गन्धन सम है, पालो संयम हो मनः पूत॥

अन्वयार्थ—

अहं = मैं। भोगरायस्स = भोगराज उग्रसेन की पुत्री हूँ। तं च = और तुम। अन्धगवण्हिणो = अन्धकवृष्णि समुद्रविजय के पुत्र। असि=हो कुले = अपने कुल में। गन्धणा=गन्धन जाति के सर्प समान। मा होमो = मत बनो। संजमं = संजम को। निहुओ = स्थिर एकाग्र मन से। चर= आचरण करो, पालन करो।

भावार्थ—

कुलाभिमान को जागृत करते हुए, सती बोलती है— रथनेमिजी! मै भोगराज उग्रसेन को पुत्री हूँ, और तुम महाराज समुद्र विजय के पुत्र हो, ऐसे उच्च कुल में जन्म पाकर, हम गन्धनकुल के नाग की तरह नहीं बनें किन्तु एकाग्रमन से संयम धर्म का आचरण कर, अपने कुल का गौरव बढ़ावें।

मूल—

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वाया-विद्धोव्व हडो, अट्ठि-अप्पा भविस्ससि॥९॥

हिन्दी पद्य—

यदि देख रम्य नारी तन को, तुम अपनाओगे मनोविकार।
पवन-प्रचलित हड तरु सम, होगा तेरा चंचल व्यवहार॥

अन्वयार्थ—

जइ तं = यदि तू। भावं = चंचल भाव। काहिसि = करेगा तो जा जा = जो जो। नारिओ = नारियाँ। दिच्छसि = देखेगा, उनसे। वायाविद्धो = तेज पवन से प्रेरित। हडोव्व = हड वृक्ष (पानी के वृक्ष विशेष) के समान। अट्ठिअप्पा=अस्थिर आत्मा। भविस्ससि=हो जाओगे।

स्थान भ्रष्ट पुरुप की शोभा नहीं होती, यदि तुम अपने स्वीकृत मार्ग से मन को बाहर करोगे, तो जहां भी किसी रमणी को देखोगे, वातप्रकंपित हड वृक्ष की तरह अस्थिर हो जाओगे।

चंचल मन वाला साधक न घर का रहता है, न घाट का। क्योंकि-चंचल मन साधना के मूल को डोलायमान कर साधक को मार्ग च्युत कर देता है।

मूल—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

सुन्दर वचन सती का सुन, रथनेमि धर्म में हुआ सुलीन।
ज्यों अंकुश से गज वश होता, त्यों धर्म भाव दृढ़ हुए प्रवीन॥

अन्वयार्थ—

तीसे = उस। संजयाए = संयमशील राजीमती के। सुभासियं = सुभाषित। वयणं = वचन को। सुच्चा = सुनकर। अंकुसेण = अंकुश से जहानागो = जैसे हाथी वश में होता है, वैसे रथनेमि। धम्मे = चारित्र धर्म में। संपडिवाइओ = स्थिर हो गये।

भावार्थ—

उस राजीमती सती के इन हृदयस्पर्शी, सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि का मन अंकुश के द्वारा मत्त हाथी के समान संयम धर्म में स्थिर हो गया।

मूल—

एवं करेन्ति संबुद्धा, पण्डिया पवियक्खणा।
विणिअट्टन्ति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो।त्तिबेमि।

हिन्दी पद्य—

ऐसा करते हैं विवुध प्रवर, पंडित और विचक्षण जन।
भोगों से मन को हर लेते, रथनेमि किया ज्यों सुस्थिर मन॥

अन्वयार्थ—

पण्डिया = सम्यक् बोध वाले। पवियक्खणा = विचक्षण साधक। एवं = इसी प्रकार, ऐसे। करेन्ति = आत्मा को स्थिर करते हैं। भोगेसु= काम भोगों से। विणिअट्टन्ति = निवृत्त होते है। जहा = जैसे। से=वह। पुरिसुत्तमो = पुरुषोत्तम रथनेमि कामभोग से अलग हो गया अर्थात् अपने मन को दूर कर लिया, ऐसे पंडित आत्मा को स्थिर करते हैं॥ ऐसा मैं कहता हूँ॥

भावार्थ—

सम्यक् बोधवाले विचक्षण पुरुष वे हैं, जो मोहभाव के उदय से चंचल बनी चित्तवृत्ति को ज्ञानांकुश से स्थिर करते हैं, पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह भोगों से मन को मोड़ लेते हैं।

॥ इति द्वितीयमध्ययनम् ॥
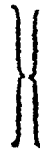
द्वितीय अध्ययन की टिप्पणी

गाथा-४ न सा महं, नो वि अहं–

पर पदार्थों से मोह हटाने का प्रमुख उपाय बाहरी वस्तुओं को अपने से अलग जान लिया जाय, यह भेद बुद्धि ही राग घटाने का सबल एवम् समर्थ उपाय है। जब भी किसी साधक का मन संयम में चंचल हुआ - इस भेद विचार ने ही उसकी आत्मा को पुनः स्थिर कर दिया। चूर्णि में एक उदाहरण मिलता है– एक वणिक् पुत्र दीक्षित होकर यह घोषणा कर रहा था कि– "वह मेरी नहीं मैं भी उसका नहीं हूँ।' किन्तु एकदा प्रबल मोह के उदय से उसके मन में राग जगा, वह कहने लगा– "वह मेरी है और मैं भी उसका हूँ।" मोह जागते ही वह वस्त्र-पात्र लेकर उसके गांव पहुंचा। मार्ग में पत्नी मिल गई, पर वह पहचान नहीं सका। अतः उसने उससे पूछा– "अमुक की पत्नी मर चुकी या जीवित है?" स्त्री ने साधु के मनो-भावों को समझकर दोनों के हित को भावना से बोली– "महाराज! वह तो दूसरों के साथ चली गई।" यह सुनकर साधु सोचने लगा– "मुझे जो पाठ सिखलाया वह ठीक है। वह मेरी नहीं और मैं भी उसका नहीं।" इस प्रकार के विचार से उसका संयम-भाव फिर स्थिर हो गया। भेद-विचार से राग का विष मन से निकल गया।

जब अरिहन्त अरिष्टनेमि वाड़े में पशुओं को देखकर, विरक्त हो रेवताचल की ओर बढ़े और दीक्षित हो गये। तब पीछे से रथनेमि भी दीक्षित हो गये। राजीमती नेमनाथ की प्रवज्या की बात से बड़ी उदास हुई और समय पाकर अनेक राजकुमारियों के साथ वह भी दीक्षित हो गई और वन्दन करने को गिरिराज की ओर चल पड़ी। रेवताचल की ओर जाती हुई सब साध्वियां मार्ग में वर्षा से भीग गई। वर्षा से बचने को सब साध्वियां इधर-अधर चली गई। राजीमती भी एक गुफा में आई और अपने कपड़े बदन से अलग कर फैलाए। उधर मुनि रथनेमि पहले से ही वहां थे, बिजली की चमक में उन्होंने राजीमती को देखा और विचलित हो गये।

राजीमती भी एकान्त में मुनि को देख भयभीत हुई और बाहों से अपने आपका संवरण करके बैठ गई। उसने कहा– मैं भोगराज की पुत्री हूँ और तुम अंधकवृष्णि के पुत्र हो, अतः कुल में गंधन कुल के सांप मत बनो। इनका संवाद उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में पठनीय है। यहां मुनि की अस्थिरता मिटाने को दी गई सूक्तियां बतलाई गई है। दशवैकालिक अध्याय २ की गाथा ६, ७, ८, ९. १० और ११ उत्तरा० अध्ययन २२ की गाथा ४२, ४३, ४४, ४६, ४९ से मिलाइये। दूसरे अध्ययन की गाथा ६ वहां प्रक्षिप्त मानी गई है।

गाथा ६ (कुले च अगन्धणे)

सर्प के मुख्य २ कुल होते हैं– (१) अगंधन और (२) गंधन।

गंधन कुल के सर्प वे होते हैं जो डस लेने के पीछे भी जब मन्त्रवादी से आकृष्ट किये जाते हैं तब भय के मारे खाई जगह पर मुंह लगाकर विष को वापस पी लेते हैं। किन्तु दूसरे अगन्धन कुल के सर्प वे हैं जो जलती आग में प्राण गंवाकर भी छोड़े हुए विष को वापस नहीं लेते। प्राचीन समय की एक घटना है–

एक समय किसी राजपुत्री को एक सांप ने डस लिया। बड़े - बड़े चिकित्सकों को बुलाया। उनमें एक गारुड़ी मन्त्र का जानकार था, उसने कहा कि– "कहो तो मन्त्र से विष उतारूं अथवा सांप को बुलाकर उसके डसे हुए स्थान से उसी के द्वारा विष निकलवाऊं।" राजा ने कहा– "सांप को बुलाकर विष को निकलवाओ।" गारुड़ी ने मन्त्र बल से सांप को बुलाया और पूछा– "इसको तूने डसा है?" सांप ने कहा– "हां, मैंने ही डसा है।" गारुड़ी के यह कहने पर कि– "डसे हुए स्थान से विष को खींच लो" सांप ने उत्तर दिया– "मैंने एक बार छोड़े हुए विष को आज तक कभी ग्रहण किया ही नहीं। अतः मैं अपने छोड़े विष को फिर नहीं लूंगा।" गारुड़ी ने आग जलाकर कहा– "या तो डसे हुए विष को निकालो या जली अग्नि में प्रवेश करो।" अगन्धन कुल के उस सर्प ने जलती आग में उछल कर गिरना मंजूर किया प्राण तक गंवा दिये किन्तु अपने छोड़े हुए विष को फिर से लेना - पीना नहीं चाहा।

खुड्डयायारकहा-तइयं अज्झयणं

तृतीय अध्ययन

मूल—
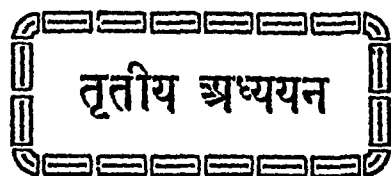
संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइन्नं, निग्गन्थाणं महेसिणं ॥१॥

हिन्दी पद्य—

संयम में स्थित आत्मावाले, संयोग मुक्त और त्रायी के ।
उनके लिये असेव्य कर्म ये, परमर्षि तथा निर्ग्रन्थों के ॥

अन्वयार्थ—

संजमे=संयम में । सुट्ठि०=सुस्थित आत्मा वाले । विप्पमुक्काण= वाह्य आभ्यंतर परिग्रह से मुक्त । ताइणं = षट्काय जीवों के रक्षक । तेसिं = उन । निग्गन्थाण महेसिणं = निर्ग्रन्थ महर्षिओं के । एयं = यह कहा जाने वाला । अणाइन्नं = आचरण में निषिद्ध है ।

वे निषिद्ध कार्य निम्न प्रकार हैं—

भावार्थ—

जो संयम धर्म में स्थिर, परिग्रह से मुक्त और षट्कायिक जीवों के रक्षक हैं, उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये निम्न कार्य आचरण में निषिद्ध माने गये हैं । जो इस प्रकार हैं—

संयम में स्थिर श्रमण निर्ग्रन्थों ने जिन कार्यों का आचरण नहीं किया वे निम्न प्रकार हैं—

मूल—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे अ, गंधमल्ले य वीअणे ॥२॥

हिन्दी पद्य —

औद्देशिक कृतक्रीत नियाग-अभ्याहृत ऐवं रात्रि अशन।
स्नान गंध माला धारण, सुख हेतु व्यजन का संचालन ॥

अन्वयार्थ —

उद्देसिय = साधु के उद्देश्य से बनाया गया आहार आदि अनाचीर्ण निषिद्ध है। कीयगडं = साधु के लिए खरीद कर तैयार किया गया अशन वसनादि। नियागं = नित्य आमंत्रण पूर्वक दिया गया आहारादि। अभिहडाणि = सामने लाकर दिया गया आहारादि। य = और। राइभत्ते = रात्रि भोजन। सिणाणे = स्नान करना। य = और। गंध = केसर चन्दनादि गंध। मल्ले = फूल माला। य=और। वीयणे = पंखे आदि से हवा करना अनाचीर्ण है।

भावार्थ—

जैन श्रमण सम्पूर्ण आरम्भ का त्यागी होता है, अतः औद्देशिक आदि आहार और स्नान, गंध, माला और बीजने का उपयोग उनके लिये वर्जित माना गया है।

मूल—

सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संबाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य।३।

हिन्दी पद्य—

सन्निधि गृहस्थ-पात्र-भोजन, नृप-पिण्ड पूछकर दिया अशन।
संबाधन और दंत प्रधावन, संपृच्छन दर्पण मुख दर्शन ॥

अन्वयार्थ—

सन्निही = घृत, तेल आदि का संग्रह रखना। गिहिमत्ते = गृहस्थ के थाल कटोरे आदि भाजन में आहार करना। रायपिंडे = राजपिंड का सेवन करना। किमिच्छए = जहां पूछकर इच्छानुसार दिया जाय वैसी दानशाला से आहारादि लेना। संवाहणा = मर्दन करना (मालिश करना) दंत पहोयणाय = और दांतों को बिना कारण धोना। देह पलोयणा= दर्पण आदि में मुख देखना। संपुच्छनां = गृहस्थ से सावद्य प्रश्न या कुशल पूछना।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थ मुनि असंग्रही और शोभा विभूषा के त्यागी होते हैं, उनके लिये 'बासी रहे न कुत्ता खाय' वाली कहावत सार्थक होती है। वे रात्रि के समय अशनादि कोई वस्तु पास में नहीं रखते। शोभा के लिये शरीर का मर्दन और दन्त प्रधावन आदि भी नहीं करते हैं। भोजन के कण दांतों में रहकर सडान उत्पन्न नहीं करे इसलिए अंगुली से साफ करते हैं।

मूल—

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥४॥

हिन्दी पद्य—

शतरंज जुआ क्रीडन करना, निष्कारण सिर छत्ता धरनो।
रोगोपचार जूता धारण, पावक का संचालन करना।

अन्वयार्थ—

अट्ठावए = अष्टापद-जुआ। य = और। नालीए = पाशा से खेल खेलना। छत्तस्स धारणट्ठाए=विना कारण छत्र धारण करना। तेगिच्छं= सावद्य चिकित्सा करना। पाहणा पाए = पैरों में चप्पल जूता आदि पहनना। समारंभं जोइणो = अग्नि का आरम्भ करना, लाईट जलाना आदि। अनाचीर्ण = निषिद्ध है।

भावार्थ—

जैन साधु प्रमाद और आराम से दूर रहता है। अतः किसी प्रकार की द्यूतक्रीड़ा, छत्र धारण, चिकित्सा, पादत्राण और अग्नि के आरम्भ का उपयोग नहीं करते।

अन्यत्र भी कहा है—

"अगणि-सत्थं जहा सुनिसियं" तथा "तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं" अर्थात् अग्नि अतिशय तीक्ष्ण शस्त्र है, अन्य शस्त्र एक ओर से ही काटते हैं, पर अग्नि वह चाहे कंडे की हो या बिजली की, चहुं ओर से जलाती है। अतः इनका मुनि के लिए सहेतुक भी आचरण वर्जित कहा गया है।

▭

मूल—

सिज्जायर - पिंडं च, आसन्दी पलियंकए।
गिहंतर निसेज्जा य, गायस्सुवट्टणाणि य ॥५॥

हिन्दी पद्य—

शय्यातर के घर की भिक्षा, कुर्सी पलंग पर उपवेशन ॥
बैठना गृहस्थ के घर में जा, तन पर मलना सुरभित उबटन।

अन्वयार्थ—

सिज्जायर पिंडं = शय्या दाता के यहां से आहारादि लेना। **आसंदी** = बेंत आदि से बने कुर्सी या मुढ्ढे आदि पर बैठना। **पलियंकए** = पलंग का उपयोग करना, उस पर बैठना सोना। **गिहन्तर निसज्जाए** = गृहस्थ के घर में या दो घरों के बीच में बैठना। **य** = और। **गायस्सुवट्टणाणि** = शरीर पर (बिना कारण) उबटन करना।

भावार्थ—

साधु का आहार-विहार किसी के लिए कष्टप्रद नहीं होता। अतः शय्यातर जिसके घर में रात्रिवास किया जाय उसके यहां का अशनादि भी जैन साधु स्वीकार नहीं करता तथा व्रत की शुद्धि के लिये खाट, पलंग, सुखासन, गृहस्थ के घर में बैठना और तन पर उद्वर्तन (उबटन) इनका भी वर्जन किया जाता है।

मूल—

गिहिणो वेआवडियं, जा य आजीव-वत्तिया।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउर-स्सरणाणि य ॥६॥

हिन्दी पद्य—

करना गृहस्थ जन की सेवा, कुल जाति बता भिक्षा अर्जन।
अधपके सचित वस्तु सेवन, आतुर हो करना भोग स्मरण॥

अन्वयार्थ—

गिहिणो = गृहस्थ की। वेयावडियं = वैयावच्च (सेवा) करना या वैयावच्च कराना। य=और। जा = जो। आजीव-वत्तिया = कुल जाति आदि बताकर जीविका चलाना। तत्तानिव्वुडभोइत्तं = अच्छी तरह नहीं तपा हो ऐसे मिश्र जलादि का उपयोग करना। य = और। आउस्सरणाणि = रोग आदि कष्ट के समय कुटुम्बी जन का स्मरण अनाचीर्ण है।

भावार्थ—

जैन निर्ग्रन्थ धैर्यवान् और निस्पृह होता है। वह गृहस्थ से सेवा नहीं लेता क्योंकि उसका जीवन स्वाश्रयी है। अपने कुल आदि का परिचय देकर भिक्षा नहीं लेता, मिश्रजल का उपयोग और रुग्णावस्था में परिजनों का स्मरण भी नहीं करता। क्योंकि उसको राग विजय करना है।

मूल—

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे।
कन्दे मूले य सचित्ते, फले बीए य आमए ॥७॥

हिन्दी पद्य—

जो सचित मूली वा अदरक, और इक्षु खंड को ग्रहण करे।
कंद मूल और फल सचित्त, कच्चे बीजों का अशन करे॥

अन्वयार्थ—

मूलए = मूला। य = और। सिंगवेरे = अदरख। उच्छुखंडं = इक्षु के खंड-कटके। अनिव्वुडे = ये सब कच्चा लेना। कंदे=सूरणकंद आदि कंद। य = और। सचित्ते = सचित्त। मूले = लता वृक्षादि के जड़। य = और। फले = फल तथा। आमए = कच्चे। बीए = तिल, जवार आदि बीजों का उपयोग करना अनाचीर्ण है।

भावार्थ—

जैन मुनि अचित भोजी होता है, इसलिए वह मूला, अदरख, कच्चे इक्षु खंड, सचित कंद मूल और कच्चे फल तथा भाजी बीजों का उपयोग भी नहीं करते। क्योंकि इनके सेवन से जीव हिंसा की वृद्धि होती है। अतः पूर्ण हिंसा त्यागी मुनि इनका वर्जन करते हैं।

मूल—

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥८॥

हिन्दी पद्य—

सौवर्चल, सैन्धव और रोमन, सामुद्रिक बिन पके लवण।
ऊषर एवं कृष्ण लवण, मुनिजन करते इनका वर्जन ॥

अन्वयार्थ—

आमए=बिना पकाया कच्चा। सोवच्चले=संचल नमक। सैंधवे-लोणे = सैंधा नमक। रोमालोणे = रोम का नमक। सामुद्दे = समुद्र का नमक। य = और। पंसुखारे = ऊसर भूमि का क्षार। आमए = कच्चा। कालालोणे = काला नमक ग्रहण करना अनाचीर्ण है।

भावार्थ—

जैन साधु के लिए बिना पका नमक भी अग्राह्य बतलाया है, कारण कच्चे नमक में असंख्य पृथ्वीकाय के जीव माने गये हैं। अतः सर्वथा हिंसा

त्यागी मुनि के लिए संचल लवण १, सैंधव लवण २, रोम का लवण ३, सामुद्री नमक ४, पांसुक्षार ५ और काला लवण ६ ग्रहण करना वर्जित है।

अग्नि पर पकाये गये तथा नींबू आदि में गाला गया अचित्त नमक ही ग्रहण किया जाता है। शेष नहीं।

मूल—

धूवणे ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंग विभूसणे ॥९॥

हिन्दी पद—

तन शोभा हित, धूप, वमन और बस्ति विरेचन का सेवन।
दृग अंजन दांतों का घिसना, तन मर्दन भूषण का धारण॥

अन्वयार्थ—

धूवणेत्ति = अगर आदि का धूप करना। य = और। वमणे = औषधि से वमन करना। वत्थिकम्म = बस्ति कर्म (मल शोधन के लिए बत्ती लगाना, एनिमा लेना)। विरेयणे = विरेचन-जुलाव लेना। अंजणे = आंख में अंजन करना। य = और। दंतवणे = दन्तकाष्ठ से दतून करना। गायब्भंग = बिना कारण तैलादि की मालिश करना। विभूसणे = शरीर की सजावट-शोभा करना।

भावार्थ—

जैन श्रमण शरीर की शोभा के लिए धूप, वमन, विरेचन, वस्तीकर्म अंजन, दतून, शरीर पर अभ्यंगन और विभूषा का आचरण नहीं करता।

जीव हिंसा के साथ धूप आदि से रागवृद्धि का भी संभव है। अतः ये सब उसके लिये अनाचीर्ण माने गये हैं।

मूल—

सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गन्थाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

ये सब बतलाये अनाचीर्ण, निग्रन्थ महर्षि श्रमणों के।
संयम पथ में जो जुड़े हुए, लघु रूप विहारी जीवन के॥

अन्वयार्थ—

एवं = उपरोक्त ये। सव्वं = सब। निग्गन्थाण = निर्ग्रन्थ। महेसिणं = महर्षियों के लिये जो। संजमम्मि = संयम साधन में। जुत्ताणं = लगे हुए य = और। लहु भूय विहारिणं = उपधि की अल्पता से लघुभूत विहारी हैं, उनके लिये। अणाइन्नं = अनाचीर्ण हैं।

भावार्थ—

संयम साधन में तत्पर और लघु विहारी निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए उपरोक्त सभी कार्य अनाचीर्ण कहे गये हैं। दंत पीड़ा, चक्षु रोग और उदर विकार आदि कारणिक स्थिति में औषध के रूप में प्रयोग करना पड़े यह दूसरी बात है, अन्यथा अनारंभी साधु को अंजन, मंजन, विरेचन आदि यथाशक्य इनसे बचते रहना चाहिए।

▭

मूल—

पंचासव-परिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गन्था उज्जुदंसिणो॥११॥

हिन्दी पद्य—

जो त्यागी हैं पंचाश्रव के, त्रिगुप्त जीव षट् पर संयत।
पंचेन्द्रिय के जयी धीर, ऋजुदर्शी होते संत सतत॥

अन्वयार्थ—

पंचासवपरि० = हिंसा आदि ५ आस्रवों को ज्ञान पूर्वक त्यागने वाले तिगुत्ता = मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति वाले। छसु = षट्काय के जीवों पर। संजया = दया करने वाले। पंचनिग्ग० = पांच इन्द्रियों को वश में करने वाले। धीर = धीर। निग्गन्था = निर्ग्रन्थ। उज्जुदंसिणो = सरल मोक्ष मार्ग को देखने वाले होते हैं।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थ हिंसा, असत्य, चौर्य अब्रह्म और परिग्रह रूप पांच आस्रवों के त्यागी, तीन गुप्तियों से गुप्त षट्काय जीवों की यतना करने वाले, पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाले धीर और ऋजुदर्शी होते हैं।

विना किसी महिमा पूजा और लोकैषणा के निश्छल भाव से साधना करना ही निर्ग्रन्थों का मुख्य दृष्टिकोण होता है।

मूल—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउड़ा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

लेते आतापन गर्मी में, सर्दी में खुले बदन रहते।
संयत और समाहित मुनि, वर्षा में सुस्थिर हो रहते ॥

अन्वयार्थ—

वे साधु– गिम्हेसु = ग्रीष्मकाल में। आयावयंति = सूर्य की आतापना लेते हैं। हेमंतेसु = शीतकाल में। अवाउड़ा = शरीर से वस्त्र हटा देते। वासासु = वर्षाकाल मे। पडिसंलीणा = इन्द्रियों को वश में रखने वाले। संजया = संयमी साधु। सुसमाहिया = उत्तम समाधि वाले होते हैं

भावार्थ—

श्रमण निर्ग्रन्थ को शरीर का मोह नहीं होता। तितिक्षाधर्म के अभ्यास हेतु, मुनि उष्णकाल में ताप सहते हैं, शीतकाल में खुले बदन शीत सहन करते हैं और वर्षा ऋतु में कायिक चेष्टाओं का संगोपन कर समाधि भाव में रहते हैं।

मूल—

परीषह - रिउदन्ता, धूअमोहा जिइंदिया।
सव्व दुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

परीषह शत्रु का दमन करे, निर्मोह सदा इन्द्रिय विजयी।
सब दुःखों का क्षीण करन, उद्यत रहते परमर्षि जयी॥

अन्वयार्थ—

परीषह रिउदन्ता = परीषह रूप शत्रुओं का दमन करने वाले। धूअमोहा = मोह को अलग हटाने वाले। जिइंदिया = जितेन्द्रिय। महेसिणा = महर्षि। सव्वदुक्ख पहीणट्ठा = सब दुःखों का नाश करने के लिये। पवकमंति = पराक्रम करते हैं, संयम साधना में जोर लगाते हैं।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थों की महिमा इसमें है कि वे क्षुधा पिपासादि परिषहों का दमन करने वाले, मोह रहित और जितेन्द्रिय होते हैं। ऐसे महर्षि दुःख मुक्ति के लिए आत्म साधना में अपना पराक्रम लगाते हैं।

मूल—

दुक्कराइं करित्ता णं, दुस्सहाइं सहित्तु य।
के इत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया॥१४॥

हिन्दी पद्य—

दुष्कर कर्मों का साधन कर, दुस्सह पीड़ाओं को सहकर।
जाते हैं कितने सुरपुर को, हो सिद्ध कोई नीरज बनकर॥

अन्वयार्थ—

दुक्कराइं = दुष्कर तप को। करित्ता = करके। य = और। दुस्सहाइं = दुःस्सह परिषहों को सहन करे। केइत्थ = कितने ही। देवलोएसु = देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। केइ = कितने ही। नीरया = कर्म रज से रहित होकर। सिज्झंति = सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थचर्या का फलः-दुष्कर तप नियमों का आचरण करके और दुःस्सह परिषहों को सहन कर कई साधक तो सर्वथा कर्म रज को दूर कर सिद्ध हो जाते हैं, और कई देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

साधना का लक्ष्य जन्म मरण के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होना है। फिर भी जिनके भोग कर्म शेष रहते हैं उनको स्वर्गादि के भवधारण भी करने पड़ते हैं।

८

मूल—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धि-मग्ग-मणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे।त्तिबेमि।

हिन्दी पद्य—

संयम और तपस्या से जो, पूर्वाजित कर्मों का क्षय कर।
करते हैं प्राप्त सिद्धि पथ को, त्रायी मुनि मुक्त अमर बनकर॥

अन्वयार्थ—

सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता = मोक्ष मार्ग को प्राप्त जीव। संजमेण = संयम से। य = और। तवेण = तपस्या से। पुव्वकम्माइं = पूर्व संचित कर्मों को। खवित्ता = क्षय करके। ताइणो = षट्काय जीव के रक्षक मुनि परिनिव्वुडा = परिनिर्वाण-पूर्ण शान्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—

अवशेष कर्मो को खपाने के लिए वे स्वर्ग से मनुष्य भव धारण करते हैं। वहां संयम और तपस्या से संचित कर्मो का क्षय करके सिद्धि मार्ग पर चलते हुए, जीव मात्र के रक्षक मुनि निराबाध आनन्द की प्राप्ति करते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ इति तृतीयं अध्ययनं समाप्तम् ॥

तृतीय अध्ययन की टिप्पणी

दूसरे श्रामण्य-पूर्विका अध्ययन में साधक को अधीरता छोड़कर संयम में धैर्य धारण की शिक्षा दी, वह धैर्य आचार में लाभकारी होता है। अनाचार में नहीं। अतः तृतीय अध्ययन में आचार का कथन किया जाता है। अध्ययन का नाम खुड्डियायार कहा है। इसमें साधकों के संक्षिप्त आचार का कथन किया गया है। आचार का पालन अनाचार के त्याग से ही होता है। अतः महर्षिओं द्वारा वर्जित कुछ कर्म आज के साधक भी वर्जन करे ऐसी शिक्षा दी गई है। वर्जनीय कर्म को अनाचीर्ण कहा है। मूल में उनकी संख्या का उल्लेख नहीं है, किन्तु चूर्णि और टीका में अनाचीर्ण ५२ और कहीं ५३ वताये गये हैं।

पहले औद्देशिक आदि अनाचार चार आहार सम्बन्धी है। १. श्रमण वर्ग के लिए बनाया गया आहार आदि लेना औद्देशिक दोष है। २. साधु के लिये खरीदकर दिया गया आहार आदि लेना क्रीत-कृत है। ३. नित्य आमन्त्रित पिण्ड लेना तीसरा दोष है। ४. गांव आदि से सामने लाया हुवा लेना चतुर्थ दोष है। उद्देशित क्रीत-कृत और नियाग के ग्रहण में हिंसा की अनुमोदना सम्भव है।

४. अभिहृत– साधु को देने के लिए अपने घर या गांव आदि से सामने लायी हुई वस्तु लेना अभिहृत दोष है। निशीथ सूत्र में वतलाया गया है कि साधु के लिए तीन घरों के आगे से आहार आदि लावे तो उसे लेना प्रायश्चित का कारण है। पिण्ड निर्युक्ति में सौ हाथ या उससे कम की दूरी से लाया हुआ आहार आचीर्ण माना गया है। किन्तु यह सीमा तीन घरों से अधिक होने पर नहीं मानी जाती। तीन घरों का मतलव जहां से साधु दाता के देने की प्रवृत्ति को देख सके, इसी सीमा में तीन घर माने गये हैं।

औद्देशिक अभिहृत तक के आहार आदि का विषय अन्यत्र भी कई सूत्रों में उपलब्ध होता है। इसका मुख्य हेतु सावद्य का अनुमोदन और साधु जीवन में परावलम्बनता का प्रवेश न हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि महावीर के धर्म मार्ग में अहिंसा का इतना सूक्ष्म विचार है कि

जहां सूक्ष्म हिंसा भी मालूम हो, वैसे आहार आदि से वचने का विधान किया गया है।

५. पांचवा अनाचीर्ण राइभत्ते– रात्रि भक्त के चार प्रकार हैं। १. दिन में लाकर दूसरे दिन खाना। २. दिन में लाकर रात में खाना। ३. रात में लाकर दिन को खाना। ४. रात को लाकर रात में खाना। रात्रि भोजन त्याग श्रमण निर्ग्रन्थ का छठा व्रत है, इसलिये भी रात्रि भोजन आचार से प्रतिकूल होने के कारण दोष माना गया है।

६. छठा अनाचीर्ण सिणाणे– अर्थात् स्नान भी साधक के लिए अनाचीर्ण है। वह दो प्रकार का है। देश स्नान और सर्व स्नान।

शौच या आहारादि के लेप के अतिरिक्त अंग प्रत्यंग का धोना, देश स्नान और सिर से लेकर पैर तक पूरे शरीर का धोना सर्व स्नान है। स्नान का वर्जन अहिंसा को मुख्य लक्ष्य कर किया गया है। छठे अध्ययन में कहा है कि रोगी हो अथवा निरोगी, जो भी साधक स्नान की इच्छा करता है वह आचार से फिसल जाता है और उसका जीवन संयमहीन हो जाता है। इसलिए साधक उष्ण अथवा शीत किसी भी जल से स्नान नहीं करे। संयमियो का यह घोर अस्नान व्रत जीवन भर के लिये होता है। हिंसा के साथ स्नान विभूषा का कारण होने से भी वर्जनीय कहा गया है। महावीर के धर्म मार्ग में अहिंसा को जितनी प्रधानता दी गई है, उतना देह शुद्धि को नहीं। उन्होंने देह शुद्धि में शरीर के मल निवारण और लेप शुद्धि पर ही ध्यान दिया है। विवेकी साधु अशुचि टालने और लोकों में दुर्गन्छा न हो इस दृष्टि से हाथ पैर वस्त्र आदि धोते हैं।

स्नान के लिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि भूमि की दरारों में जो सूक्ष्म त्रस एवम् स्थावर जीव हैं, स्नान करते हुए वे स्नान के पानी से पीड़ित होते हैं, इसलिए साधु स्नान नहीं करते। बौद्ध या वैदिक परम्परा में जैसे साधु को स्नान की छूट है वैसे जैन साधु के लिए कोई छूट नहीं है।

७. गन्धमल्ले-गन्धमाल्य– चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ और फूल माला का आसेवन साधु के लिये अग्राह्य है। इनके लिये वनस्पतिकाय के जीवों की विराधना होती है। वनस्पति और त्रस जीवों की हिंसा से वचने के लिए इसको अग्राह्य कहा है। विभूषा और रागवृद्धि से बचने के लिए भी

इसको अग्राह्य कहा है। विभूषा और रागवृद्धि से बचना भी शास्त्र का मुख्य दृष्टिकोण है।

८. **वीयणे-वीजन**– पंखे आदि से शरीर या उष्ण भोजनादि को हवा करना दोष है। पंखे आदि की हवा से वायु के असंख्य जीवों की हिंसा और सूक्ष्म त्रस जीवों का वध सम्भव है। इसलिए साधु मुंह से फूंक भी नहीं देता, खुले मुख नहीं बोलता, छींक आदि के समय भी मुख पर हाथ रखता है।

९. **सन्निही-सन्निधि**– तेल, घृत आदि पदार्थों का संचय करना, रात में रखना सन्निधि नाम का दोष है। संचय करना साधु के अपरिग्रह व्रत के प्रतिकूल माना गया है। दशवैकालिक सूत्र के षष्ठ अध्ययन में कहा है कि "विडमुब्भेइमं लोणं, तिलं, सप्पिं च फाणियं।" ज्ञात पुत्र महावीर की आज्ञा में रमण करने वाले साधु विड, लवण, तेल, घृत, गुड़ आदि को रात्रि में पास रखना नहीं चाहते। क्योंकि यह लोभ का अंशतः प्रभाव है। जो संचय करना चाहता है वह गृहस्थ है प्रव्रजित नहीं। जैन साधु का नियम है कि साधु अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने पर वात, पित्त, कफ के प्रकोप में शान्ति नहीं होने एवम् जीवनान्तकारी रोग की स्थिति में भी उससे वचने को औषध भैषज्य आदि का संचय नहीं करे।

१०. **गिहिमत्ते - गृहीभाजन**– गृहस्थ के बरतन में आहार सेवन करना दोष है। इसके आसेवन से पूर्वकर्म और पश्चात्कर्म लगने की संभावना है। भाजनों को धोने में सचित्त जल की विराधना और इधर-उधर पानी गिराने से त्रस जीवों की हिंसा सम्भव है। इसलिये गृहि–भाजन में साधु के लिए आहार आदि करना अकल्प है।

११. **रायपिंडे-राजपिंड**– राजा लेने वाले को जो चाहे दे, उस पिण्ड को किमिच्छक-राजपिण्ड कहते हैं। चूर्णिकार ने दोनों को एक माना है। किन्तु एक परम्परा राजपिण्ड और किमिच्छक को अलग - अलग मानती है। राजपिण्ड में मूर्धाभिषिक्त राजा का भोजन लेना साधु के लिए निषिद्ध है। साधु के लिए राजपिण्ड ग्रहण निषिद्ध माना गया है। राजपिण्ड से रागवृद्धि और रस लोलुपीपन बढ़ने की सम्भावना रहती है। वह कामोत्तेजक भी होता है, इसलिये अनाचीर्ण माना गया है।

१२. किमिच्छए-किमिच्छक– का अर्थ उन दानशालाओं से लिया गया है जहां इच्छानुसार वस्तु की प्राप्ति होती हो, साधु-साध्वियों के लिये वहां से आहारादि लेना भी अग्राह्य कहा है।

१३. सम्बाहणा– तैल आदि से विना कारण शरीर का मर्दन करना सम्बाधन कहा जाता है। वह अस्थि, मांस, त्वचा और रोम के लिए सुखदायी होता है। साधु देहासक्ति से बचने और प्रमाद वृद्धि न हो इसलिए मर्दन को अकल्पनीय मानते हैं।

१४. दन्तपहोयणाए-दन्त प्रधावन– दन्तकाष्ठ आदि से दांत का मल साफ करना दन्त प्रधावन है। सूत्र कृतांग सूत्र में दांतोन से दांतों के प्रक्षालन का निषेध किया है। निशीथ सूत्र में कहा है कि– साधु के लिए विभूषा निमित्त दांत घिसने तथा प्रक्षालन करने का निषेध है। वैदिक परम्परा में भी दन्तधावन पर्व तिथियों में वर्जित माना गया है। जैसाकि लघुहारित और नृसिंह पुराण में लिखा है—

> प्रतिपत् पर्व षष्ठीसु, नवम्यां चैव सत्तमः।
> दन्तानां काष्ठ संयोगात्, दहत्यासप्तमं कुलम्
> अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च
> अपां द्वादशगण्डूषै, मुखशुद्धि समाचरेत्।

उपरोक्त श्लोकों में प्रतिपदा आदि पर्व तिथियों में दन्तधावन वर्जित किया है। श्राद्धदिन, यज्ञदिन नियमदिन, उपवास या व्रत के दिन में भी इसका निषेध किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि हिन्दू शास्त्रों में भी धार्मिक क्रिया रूप में इसका विधान नहीं है।

१५. संपुच्छणा– अपने अंग उपांग की सुन्दरता के लिये दूसरे से पूछना अथवा गृहस्थों से आरम्भ समारंभ सम्बन्धी सावद्य प्रश्न पूछना, रोगी गृहस्थ से कुशल पूछना जैन श्रमण के लिए अकल्पनीय है। आवश्यकता से कभी किसी को तपस्या एवम् बीमारी की स्थिति में पूछना हो तो निरवद्य भाषा से पूछना चाहिये। संप्रश्न से गृहिसंस्तव को बढ़ावा मिलता है। इसलिये इसका निषेध सम्भव है। सम्पुच्छणा का दूसरा अर्थ - शरीर के रज, मैल, आदि साफ करना होता है। विभूषा त्यागी साधु के लिए यह अनाचीर्ण माना गया है।

१६. देह पलोयणाए (देह प्रलोकन)– दर्पण में रूप देखना अथवा दर्पण आदि में शरीर को देखना ममत्व जगाने का कारण हो सकता है। निशीथ सूत्र में दर्पण, पानी, तलवार, तैल आदि में रूप देखने का प्रायश्चित बतलाया है।

१७-१८. अट्ठावए नालीए (अष्टापद और नालिका)– जुआ, आज का शतरंज, आदि खेल जिसमें हार जीत का दाव लगाया जाता हो, नालिका- पासों के द्वारा जुआ खेलना अथवा इच्छानुकूल पासा डालकर खेलना दोष है।

१९. छत्तस्स धारणट्ठाए (छत्र धारण)– बिना खास कारण के छत्र धारण करना अनाचीर्ण है। वर्षा अथवा धूप से बचने के लिए छत्र धारण नहीं करना, महिमा बढ़ाने के लिए महन्त की तरह छत्र नहीं लगाना, यह योगी की निशानो है। जैन श्रमण पूर्ण अपरिग्रही है। उसके लिये यह राजसी साधन अनाचीर्ण माने गये हैं। केवल गाढ रोग की स्थिति में स्थविरो के लिए अपवाद का कथन मिलता हैं।

२०. तेगिच्छम्– उत्तराध्ययन सूत्र के परीषह अध्ययन में रोग को समभाव से सहन करने और चिकित्सा का अभिनन्दन नहीं करने का उपदेश दिया गया है। मृगापुत्र को माता ने कहा– "दुक्खं निप्पडिकम्मया" उत्तर मे मृगापुत्र ने कहा– "मृग की कौन चिकित्सा करता है? मैं मृग की तरह रहूँगा।" चिकित्सा वर्जन यह मुनियों का आदर्श मार्ग है। इसका पालन विशिष्ट शक्तिशाली मुनि ही कर पाते हैं। सामान्य मुनियों के लिए सावद्य चिकित्सा ही अनाचीर्ण है। श्रावक के अतिथि संविभाग व्रत में औषध भैषज्य का भी उल्लेख मिलता है। इससे सबके लिए चिकित्सा अनाचीर्ण नहीं है।

२१. पाहणापाये (उपानत्)– जैन श्रमण को काष्ट, चमड़े और रबड़ आदि के जूते पहनना अनाचीर्ण है। जैन साधु त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागी हैं। कांटे, कीले और भूमि के ताप को सहकर भी वे खुले पैर चलते हैं। इसलिये कि जूते के नीचे दबकर किसी सूक्ष्म-स्थूल जीवों की हिंसा न हो। हिन्दू परम्परा में संन्यासी के लिये जूता न रखकर पादुका का विधान है। जैन श्रमण परीषह सहने और हिंसा निवारण के लिए जूते चप्पल का उपयोग नहीं करते।

२२. समारंभ जोइणो (ज्योति समारंभ) चूल्हे, विद्युत आदि की ज्योति का आरम्भ करना अनाचीर्ण है। शास्त्र में कहा है कि– साधु अग्नि को सुलगाने की इच्छा भी नहीं करते, क्योंकि यह बड़ा पापकारी शस्त्र है। लोहे के अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और सब ओर से दुराश्रय है। यह सब दिशा-अनुदिशा में जलता है। आरम्भ में पकाना, पकवाना, जलना जलवाना, उजाला करना आदि से अग्नि की विराधना होती है। अग्नि का आरम्भ करने वाले पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रित रहने वाले जीवों का भी वध करते है। अतः यह भी अनाचार है।

२३. सिज्जायर पिंड (शय्यातर पिंड)– शय्यातर का आहार आदि लेना अनाचीर्ण है। साधु को रहने के लिए मकान देने वाला शय्यातर कहा जाता है। वह आचारांग और निशीथ सूत्र के अनुसार गृह स्वामी या उसके द्वारा संदिष्ट हो सकता है। जैसाकि कहा है– सेज्जातरो पभुआ, प्रभु संदिट्ठो वा होति कातव्वो। नि० भा०।

शय्यातर कब होता है, इस सम्बन्ध में निशीथ भाष्य ने १४ मत प्रस्तुत कर अन्त में अपना मत बतलाया है कि– साधु रात में जिस उपा- में रहे, सोये और चरम पहर का आवश्यक करे उनका स्वामी शय्यातर है। शय्यातर के घर के अशन-पान, खाद्य-स्वाद्य, वस्त्र, पात्र आदि साधु के लिए अग्राह्य होते हैं; तृण, राख, पाट, चौकी, शिष्य-शिष्या नहीं। शय्यातर पिंड लेने से उद्गम आदि दोष की सम्भावना रहती है। दाता को भार प्रतीत होना भी सम्भव है। अतः यह अग्राह्य कहा है।

२४. आसंदी– बैठने के आसन विशेष को आसंदी कहते हैं। टीका-कार के अनुसार मूंज, सण या सूत आदि गूंथे खाट, तथा कुर्सी आदि साधु के लिए अग्राह्य है। आसंदी में प्रतिलेखना संभव नहीं होती। अतः यह अनाचीर्ण है।

२५. पलियंकए (पर्यङ्क)– सोने के उपयोग में आवे उसे पर्यङ्क कहते हैं। वेत्रासन के आसन भी इसीमें अन्तर्हित समझें। खाट और आसालंक आदि का प्रतिलेखन कठिन होता है, इससे जीवों की हिंसा सम्भव है। मंच आसालक, निषद्या और पीठ को भी आसंदी में ही समझना चाहिए। सर्वज्ञ वचनों में श्रद्धा रखने वाले साधु इन पर न बैठे न सोयें।

२६. गिहन्तर निसिज्जा (गृहान्तर निषद्या)– भिक्षा के लिये गया हुए साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर में बैठना अकल्प है। जैसाकि कहा है– "गोयरग्ग–पविट्ठो य, न निसीएज्ज कत्थइ ।" चूर्णिकार जिनदास और हरिभद्र के अनुसार घर में अथवा दो घरों के अन्तर में बैठना ऐसा अर्थ किया है। विशेष रोगी-तपस्वी और वृद्ध आदि के लिए बैठना अनाचार नहीं है। स्वस्थ दशा में गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति, प्राणियों का वध, याचकों के प्रतिघात और गृहपति के क्रोध का कारण बतलाया गया है। अतः गृहान्तर निषद्या अनाचार है।

२७. गायसुव्वट्टणाणि (गात्र उद्वर्तन)– शरीर पर पीठी आदि का मलना साधु के लिये अनाचार है। शरीर की विभूषा सावद्य बहुल है, इससे कर्म बन्ध होता है। अतः निर्युक्ति में कहा है, छठे अध्ययन में कहा है– सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य। गायस्सुव्वट्टणाए नायरंति कयाइवि ॥ द० ६ ॥ अर्थात् स्नान अथवा कल्क, लोध्र और पद्म शरीर के उद्वर्तन के लिए साधु कभी आचरण नहीं करते।

२८. गिहिणो वेयावडियं (गृहि वैयावृत्य)– गृहस्थ की वैयावृत्य करना अनाचार है। साधु को गृहस्थ के साथ अन्नादि का संविभाग या गृहस्थ का आदर तथा उपकार करना एवम् अन्नादि देना और सेवा करना साधु के लिए अकल्प है।

२९. आजीववत्तिया– जाति, कुल आदि बतलाकर आजीविका करना साधु को अकल्पनीय है। स्थानांग सूत्र के पांचवें स्थान में ५ प्रकार की आजीववृत्ति बतलाई है। जैसे– पंचविहे आजीविते पन्नते तंजहा– १. जातिआजीवे, २. कुल आजीवे, ३. कम्माजीवे, ४. सिप्पाजीवे, ५. लिंगाजीवे।

अर्थात् जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिंग से आहार आदि प्राप्त करना ये पांच प्रकार की आजीववृत्ति कही गई है। व्यवहार भाष्य में तप और श्रुत को मिलाकर ६ प्रकार की उपजीविका करने वाले को कुशील कहा है। मैं अमुक जाति कुल या गण का हूँ तथा मैं अमुक कर्म अथवा शिल्प में कुशल हूँ। मैं बड़ा तपस्वी एवम् बहुश्रुत हूँ। ऐसा कहकर या अन्य प्रकार से बतलाकर आहार आदि लेना साधु का अनाचार है। ऐसा करने से दीनता या जिह्वा लोलुपता प्रकट होती है, इसलिए आजीववृत्ति [illegible]ा निषेध किया है।

३०. तत्तानिव्वुड भोइत्तं (तप्तानिवृत्त भोजित्व)– गर्म होकर जो शीतल हो गया ऐसे जल का सेवन करना। फल, फूल, धान्य आदि सब वस्तुएं जो पहले सचित्त होती है, उनमें सब जीव च्युत हो जाते हैं, मात्र शरीर रह जाता है तब सब वस्तुएं अचित्त बन जाती है। जीवों का शरीर से च्यवन काल-मर्यादा से स्वयं होता है और प्रतिकूल पदार्थ के संयोग से कालपूर्ण होने के पहले भी हो जाता है। जीवों की मृत्यु के कारणभूत पदार्थ को शस्त्र कहते हैं। सचित्त जल और वनस्पति अग्नि से उबालने पर अचित्त हो जातं है। कदाचित् वे पूर्ण मात्रा मे उबाले हुए न हो वे उस स्थिति मे मिश्र होते हैं। उनमें सचित्त-अचित्त मिश्रित भाव होता है। ऐसा पदार्थ तप्तानिर्वृत कहलाता है। तप्तानिर्वृत जल का ग्रहण निषिद्ध है। आगे कहा है कि–"उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए।" द० ८।६।

यहां गर्म जल जो उबालकर प्रासुक हो चुका है, उसके लेने का विधान है। कुछ आचार्य "तत्तानिव्वुड भोइत्तं" इस पद में भोइत्तं शब्द से जल की तरह अन्न का भी ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार एक बार भुने हुए धान्य को लेने का निषेध किया गया है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने - ग्रीष्म काल में एक दिन-रात के बाद गर्म पानी फिर सचित्त होना माना है तथा हेमन्त और वर्षा ऋतु में पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त माना है। जैसे अचित्त जलकाल अवधि पूर्ण हो जाने से फिर से सचित्त हो जाता है। वैसे बहुत समय पड़ा रहकर अचित्त भी सचित्त हो जाता है। क्योंकि जल की सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों योनियां है।

स्थानांग सूत्र के तीसरे अध्ययन में कहा है– "तिविहा जोणी पन्नत्ता तंजहा सचित्ता, अचित्ता, मीसिया।" एवम् "एगिंदियाणं, विगलिंदियाणं संमुच्छिम पंचिंदिय तिरिक्खजोणियाणं समुच्छिम मणुस्साण य।" स्था० ३।१०१। अर्थात् अनिर्वृत जलादि के ग्रहण मे हिंसा की सम्भावना होने से साधु के लिए अग्राह्य है।

३१. आउरस्सरणाणि (आतुर स्मरण)– रोगादि से पीड़ित होने पर पूर्वभुक्त वस्तुओं का स्मरण करना। टीकाकार नेमीचन्द्र ने रोगातुर होने पर माता-पिता आदि की स्मृति करना ऐसा अर्थ किया है। परिचितों के स्मरण से मानसिक चंचलता और आर्त्तध्यान बढ़ने की सम्भावना रहती है। दूसरे अर्थ में आतुर कष्टी को शरण देना कहा है। साधु के आतुर स्मरण अनाचीर्ण है।

३२-३३. मूलए-सिंगवेरे– व्यवहार में वहु प्रचलित मूलक-मूला और श्रृङ्गवेर-अदरख यदि शस्त्र परिणत नहीं हो तो उसका लेना साधु के लिए आचार विरुद्ध है।

३४. उच्छुखण्डे सचित्त इक्षुखण्ड– जिसके दोनों पोर विद्यमान हो वह सचित्त रहता है। वैसे इक्षु खण्ड अनिर्वृत लेना अनाचार है। जिसमें नमक आदि शस्त्र का प्रयोग हुआ हो फिर भी जो जीव रहित नहीं हुआ हो उसे अनिर्वृत कहा गया है। ऐसे इक्षु खण्ड का लेना साधु के लिए अकल्प है।

३५-३६. कन्दे, मूले– सचित्त कन्द और मूल का लेना भी साधु के लिए अग्राह्य है। यहां सचित्त का अर्थ सजीव समझना चाहिए। शकरकन्द आदि भूमि में उत्पन्न होने वाले और मूल से सामान्य जड़ समझना चाहिए। साधु सचित्त भोजन का त्यागी है। उसके लिए किसी भी सचित्त वस्तु का सेवन कल्प विरुद्ध है।

३७-३८. फले वीए य आमए– (फल और वीज) आम, जामुन आदि फल और गेहूँ, मूंग, मोठ, तिल आदि वीज कच्चे हो तो उनको लेना अनाचार है। मूल से वीज तक के पदार्थों का ग्रहण हिंसाजनक है। इनके ग्रहण से वनस्पति के अतिरिक्त तदाश्रित त्रस जीवों की भी हिंसा सम्भव है। विशेषकर इक्षुखण्ड में खाने का भाग अल्प और गिराने का अधिक होता है। इसलिये उसको अग्राह्य कहा है।

३९ से ४४. सोवच्चले आदि– १. सोवर्चल लवण, २. सैन्धव लवण, ३. रोमा लवण, ४. समुद्री लवण, ५. पांशुक्षार, और ६. काला लवण ये छः प्रकार के सचित्त लवण साधु के लिये अग्राह्य वतलाये गये हैं।

सोवर्चल और सैन्धव लवण खान से उत्पन्न होते हैं। ये अग्नि आदि से पकाये गये नहीं होते। अतः वैसे कच्चे लवण का ग्रहण निषिद्ध कहा है। कारण इसमें जीव हिंसा का होना सम्भव है।

४५. धूवणेत्ति– शरीर और वस्त्रादि को आरोग्य के लिए धूप देना अथवा धूम्रपान करना साधु के लिए अनाचार है।

४६-४८. वमणे-वत्थिकम्म विरेयणे– जानकर विना कारण वमन करना, नली से स्नेह चढ़ाकर या वत्ती देकर वस्तिकर्म करना, एनिमा भी

इसीमें समझना चाहिए। जुलाव लेकर विरेचन करना। शरीर का वर्ण सुन्दर हो, स्थूल या कृश होने आदि निमित्त से वमन, विरेचन, वस्तिकर्म करना साधु के लिए निषिद्ध है। वमन आदि से त्रस स्थावर जीवों की हिंसा सम्भव है। अतः उत्सर्ग मार्ग में इनका संयमी के लिए निषेध है।

४९. अंजणे– विना कारण आंखों में काजल, सुरमा तथा अंजन डालना भी साधु के लिए अनाचार है।

५०. दन्तवणे– दांतों की शोभा करना या मल उतारना साधु के लिए निषिद्ध है। इसका आशय इन्द्रिय संयम का रक्षण करना है।

५१. गायब्भंगे (गात्र अभ्यंग)– साधु शरीर की विभूषा के त्यागी होते हैं। इसलिए विना किसी कारण शरीर पर तैल की मालिश करना भी अकल्पनीय माना है।

५२. विभूसणे (विभूषण)– जैन श्रमण पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। वे नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इसलिये उनके लिये विभूषा - नख, केश आदि का संवारना, वेश-भूषा आदि की सजावट अकरणीय है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि– नग्न तथा मुण्डित और बड़े नख, केश वाले मैथुन से उपरत साधु को विभूषा से क्या करना है? विभूषा से स्व पर के मन में रागवृद्धि संभव होने से इसे अनाचीर्ण कहा गया है।

नोट– तिरेपन की परम्परा वाले "राजपिण्ड और किमिच्छक" को एक मानते हैं। बावन की परम्परा वाले "आसन्दी और पर्यङ्क" तथा "गात्राभ्यङ्ग और विभूषणा" को एक मानते हैं। इसकी दूसरी परम्परा गात्राभ्यंग और विभूषण को एक मानने के स्थान पर लवण को सैंधव का विशेषण मानकर दोनों को एक अनाचार मानती है।

उपर कथित अनाचारों के अतिरिक्त जो संयम मार्ग के प्रतिकूल व्यवहार है, साधु के लिए वे सब अकरणीय हैं। अनाचारों का वर्जन कर जो शुद्ध आचार धर्म का पालन करते हैं वे दिव्य लोक या सिद्धिगति के अधिकारी होते हैं।

छज्जीवणिया–चउत्थं अज्झयणं
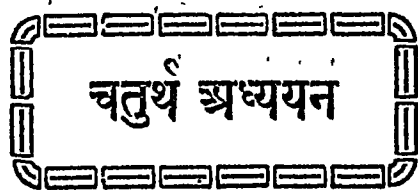
उपक्रम

चतुर्थ अध्ययन षड्जीवनिका में षट्काय के जीवों के रक्षण का उपदेश दिया है। अतः इसको धर्म प्रज्ञप्ति भी कहा है। नियुक्तिकार ने इसके पर्यायवाचक ६ नाम बताये हैं। जैसे कहा है– "जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपण्णत्ती। तत्तो चरितधम्मो, चरणे धम्मे य एगट्ठा।" दश० नि० ४। २३३॥

मुक्तिमार्ग में आरोहण का क्रम इसमें बहुत ही सुन्दर ढंग से बतलाया है। सर्व प्रथम जीवाजीव का ज्ञान करना १, जीवाजीव के ज्ञान में सब जीवों की गति जानना २, फिर पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष को जानना ३, जब पुण्य पापादि को जानता है, फिर भोगों से निर्वेद प्राप्त करता है ४, संयोग का त्याग करता ५, मुण्डित होकर अनगार धर्म धारण करता ६, उत्कृष्ट संवर धर्म का स्पर्श करता ७, अबोधिकृत कर्म रज को अलग करता ८, सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करता ९, लोक अलोक को जानता १०, मन, वचन और काय के योगों का सम्पूर्ण निरोध करता ११, आठों कर्मों का क्षय कर सम्पूर्ण कर्म रहित होकर सिद्धि प्राप्त करता १२, लोकाग्र पर शाश्वत सिद्ध होता है।

अध्ययन में चारित्र धर्म की शिक्षा देते, पांच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमण रूप मुनि-धर्म का प्रतिपादन कर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय की त्रिकरण, त्रियोग से सम्पूर्ण हिंसा त्याग की शिक्षा दी है। इस प्रकार अध्ययन से चारित्र धर्म का सम्पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। गद्य पाठ के पश्चात् २८ गाथाओं से चारित्र धर्म की साधना में यतना की प्रधानता और साधना का क्रम बतलाया गया है। चलने, फिरने, बैठने, खड़े रहने, सोने, बोलने और खाने की प्रवृत्ति में पाप

कर्म की सम्भावना होती है। किन्तु यतना से क्रिया करने वाला पापकर्म का बंध नहीं करता। इस विधि से पाप से बचने का मार्ग बतलाया है। यह अध्ययन की खास विशेषता है कि चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् भी जो सुख की चाह और प्रार्थना करने वाला है, साता की सुख की प्राप्ति के लिए आकुल रहता है, अतिशय निद्रालु और बार-बार हाथ पैर आदि को धोने वाला हो उसकी सद्‌गति दुर्लभ होती है। सुलभ सद्‌गति किनकी होती है–इसका भी स्पष्टीकरण किया है। जो साधक तपगुण की प्रधानता वाले हो, सरल और मोक्षमार्ग में मति वाले हो, क्षमा एवम् संयम में रमण करते हो. आये हुए परीषह को शांत भाव से सहन करते हो, उनकी सुगति सुलभ होती है।

अन्त में कहा है कि श्रद्धाशील साधक षट्‌काय जीवों की यतना करे, दुर्लभ श्रमण धर्म को प्राप्त कर मन, वचन, काया की क्रिया से जीवों की विराधना हो, ऐसा काम नहीं करे।

मूल—

सुअं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं! इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया-सुअक्खाया सुपण्णत्ता, सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥१॥

हिन्दी पद—

सुना शिष्य मैंने उस प्रभु से, कैसा तारक कहा वचन।
निश्चय ही इस प्रवचन में, छः जीव निकायों का वर्णन॥
जो काश्यपवंशी श्रमण वीर ने, भलीभांति बतलाया है।
वह श्रेय धर्म प्रज्ञप्ति मुझे, पढ़ने में मन को भाया है॥

अन्वयार्थ—

आउसं=हे आयुष्मन् शिष्य। मे=मैंने। तेण=उस। भग०=भगवान् से। अक्खायं=कहा गया। एवं=इस प्रकार। सुयं=सुना है। इह=

इस जिन शासन में। खलु = निश्चय। छज्जीव० = षड्जीव निकाय। नामज्झ० = नाम का अध्ययन। समणेणं = श्रमण। भगवया = ज्ञानी। कासवेणं=काश्यप गोत्री। महा०=महावीर द्वारा। पवेइया=जाना गया। सुअक्खाया=अच्छी तरह कहा गया। सुपण्णत्ता=समझाया गया है। मे = मेरे लिए। धम्मपण्णत्ति = वह धर्म प्रज्ञप्ति। अज्झयणं=अध्ययन। अहिज्जि०=पढ़ना। सेयं=श्रेयस्कर है।

भावार्थ—

सुधर्मा स्वामी ने शिष्य जम्बू को सम्बोधन करते हुए कहा कि-हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि जिन शासन में षड्जीव निकाय नाम का अध्ययन काश्यप गोत्री भगवान् महावीर ने अच्छी तरह जाना, कथन किया और समझाया। उस धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन का पढ़ना मेरे लिए श्रेयस्कर है।

टिप्पणी- यहां पर षड्जीवनिका और धर्म प्रज्ञप्ति इस प्रकार अध्ययन के दो नाम बताये गये हैं।

मूल—

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया; सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं, अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ॥२॥

हिन्दी पद्य—

षट्जीव निकाय नामवाला, अध्ययन कौन जो यहां कहा।
भगवान वीर उस काश्यप ने, समझाया जिसका मर्म महा॥
अध्ययन धर्म प्रज्ञप्ति रूप है, प्रभु ने कथन किया जिसका।
है श्रेयस्कर मेरे हित में, दे मनोयोग पढ़ना उसका॥

अन्वयार्थ—

सा=वह। छज्जी०=षड्जीव निकाय। नाम०=नाम का अध्ययन कयरा=कौनसा है, जो। खलु=निश्चय। सम०=श्रमण। भगवया०=

भगवान्। महा० का० =काश्यप गोत्री महावीर द्वारा। पवे० = अच्छी तरह जाना गया। सुअ० = सुअख्यात। सुप० = और सुप्रज्ञप्त। धम्म०=धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन। अहि०=पढ़ना। मे=मेरे लिये। सेयं=श्रेयस्कर है।

भावार्थ—

गुरू द्वारा धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन का परिचय सुनकर शिष्य, जिज्ञासा करता है कि गुरूदेव ! वह धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन कौनसा है, जिसको श्रमण भगवान् महावीर ने अच्छी तरह जाना, कथन किया और समझाया है। जिसका अध्ययन मेरे लिये हितकारी है। गुरू शिष्य के प्रश्नोत्तर में शब्दों की पुनरावृत्ति दोष रूप नहीं मानी जाती। अतः पाठ में आये हुए शब्दों की पुनरुक्ति देखकर शंका नहीं करनी चाहिए।

मूल—

इमा खलु सा छज्जीवणिआ नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया-सुअक्खाया, सुपण्णत्ता, सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ति तंजहा-पुढ़वीकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया ॥३॥

हिन्दी पद्य—

निश्चय षट्जीव निकायरूप, यह वर्णन सुखद मनोरम है।
उस श्रमणवीर प्रभु काश्यप ने, है कहा जिसे अति उत्तम है॥
जिसको सम्यक् है बतलाया, एवं आख्यान किया जिसका।
अध्ययन धर्म प्रज्ञप्ति सदा, क्षेमंकर है जन जीवन का॥
पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक भी जीव यहां।
है वायु वनस्पतिकायिक फिर, त्रसकायिक ऐसे भेद जहां॥

अन्वयार्थ—

पूर्ववत्। तंजहा=वह धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन इस प्रकार है। जीव ६ प्रकार के हैं। पुढवी०=पृथ्वीकायिकजीव। आउ०=अप्कायिकजीव।

तेउ० = अग्निकाय। वाउ० = वायुकायिक जीव। वणस्स०=वनस्पति-कायिकजीव। तस०=गतिशील त्रसकायिकजीव।

भावार्थ—

संयम जीवन का लक्ष्य, जीव मात्र की रक्षा करना है। संक्षेप में संसार के सारे जीव ६ विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। जैसे-पृथ्वी-कायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

ऐसा कोई जीव नहीं जो इन विभागों में न आता हो। इन ६ प्रकार के जीवों को संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए—

१. पृथ्वीकाय– पृथ्वी कठिनता लक्षण वाली है, पृथ्वी ही जिनका शरीर है, ऐसे जीवों को पृथ्वीकायिक कहते हैं। जैसे– मिट्टी, लवण, खड़ी, अभ्रक धातु आदि।

२. अपकाय– शीतलता गुणवाला, जल ही जिनका शरीर है, वे अप्कायिक कहलाते हैं। जैसे– वर्षा का पानी, ओस, हिम आदि।

३. तेजस्कायिक– दाहकता गुण वाली अग्नि ही जिनका शरीर है, उनको तेजस्कायिक कहते हैं। जैसे–अंगार, ज्वाला, अर्चि, विद्युत आदि।

४. वायुकायिक– गतिशील वायु ही जिनका शरीर है, वे जीव वायु-काय कहलाते हैं। जैसे– उत्कलित वायु, संवर्तक वायु, घनवात, तनुवात आदि।

५. वनस्पतिकाय– हरित वनस्पति ही जिनका शरीर है उनको वनस्पतिकाय कहते हैं। जैसे– तृण, वृक्ष, लता आदि। इनके १० अंग होते हैं। १. मूल, २. कंद, ३. स्कंध, ४. त्वचा, ५. शाखा, ६. प्रवाल, ७. पत्र, ८. पुष्प, ९. फल और १०. बीज।

६. त्रसकाय– त्रसनशील शरीर वाले जीवों को त्रसकायिक कहते हैं। ये सर्दी-गर्मी का बचाव करने को स्थानान्तरण करते हैं। जैसे कीड़ी, मक्खी मच्छर, पशु-पक्षी, मनुष्यादि।

मूल—

पुढ़वी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥४॥

हिन्दी पद्य—

पृथ्वी सचित्त है बतलाया, और जीव पृथक सत्ता वाले।
जीव अनेक शस्त्रपरिणति, तज सब के सब जीवन वाले॥

अन्वयार्थ—

पुढ़वी=पृथ्वी। चित्त०=चित्तवती कही गई है उसमें। पुढ़ोसत्ता=पृथक सत्ता वाले। अणेग=अनेक जीव हैं। सत्थपरि०=अग्नि आदि शस्त्र से परिणत के। अन्नत्थ=अतिरिक्त पृथ्वी सजीव होती है।

भावार्थ—

नैयायिक आदि दर्शनों ने पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश को तत्व माना है, किन्तु उन दार्शनिकों ने पृथ्वी आदि को सचेतन नहीं माना। प्रभु महावीर पृथ्वी आदि को सचेतन वतलाते हुए कहते हैं कि– पृथ्वी चेतनावाली अर्थात् सचेतन है। कंकर, पत्थर, शिला, लवण, खड़ी आदि में सूक्ष्म शरीर वाले अनेक जीव हैं। जैन शास्त्र के अनुसार छोटीसी नमक की कंकरी में असंख्य जीव है। तिल पपड़ी में जमे तिलकणों की तरह पृथ्वीकाय के शरीर पृथक सत्तावाले हैं। सर्दी-गर्मी और पथिकों के चरण-घर्षण से जो निर्जीव हो चुके हैं, उनके अतिरिक्त पृथ्वी चेतना वाली कही गई है।

आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में भी कहा है 'संति पाणा पुढो-सिया' पृथ्वीकाय के जीव पृथक २ शरीरों में आश्रित है।

मूल—

आऊ चित्तमंतमक्खाया, अणेगजीवा पुढो सत्ता-अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥५॥

हिन्दी पद्य—

है अपकायिक भी जीव सहित, पहले जैसे लक्षण वाले।
वे ही अचित्त जो हो जाते, शस्त्रों से आहत तन वाले।।

अन्वयार्थ—

आउ=जलकाय । चित्तमंत=चेतनावान् कहा गया है, जलकाय में पुढो=पृथक सत्ता वाले । अणेग=अनेक जीव हैं । सत्थ० =अग्नि आदि शस्त्र परिणति के । अन्नत्थ=अतिरिक्त आउ (जल) सजीव होता है ।

भावार्थ—

पृथ्वी के समान जलकाय भी चेतनावान् कहा गया है । एक-एक बूंद में अनेक जीव हैं । आचारंग के प्रथम शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कहा है कि– "सन्ति पाणा उदय निस्सिया जीवा अणेगा ।" जल में जलकायिक जीव एक बूंद में असंख्य होते हैं, और जल के आश्रित हजारों त्रस जीव याने कीड़े रहते हैं । जो विज्ञान के सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से देखे जाते हैं । अग्नि, क्षार आदि विरोधी तत्वों से परिणत पानी अचित्त है । उसके अतिरिक्त जल चेतनावान सजीव है । खारा पानी मीठे पानी का और मीठा खारे पानी का शस्त्र है । कूप, तलाई, नदी, समुद्र और मेघ का पानी और जमा हुआ पानी का बर्फ भी अप्काय का अंग और जीव का पिंड है ।

मूल—

तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा-
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।६।।

हिन्दी पद्य—

तेउ सजीव है बतलाया, सब जीव पृथक सत्ता वाले।
शस्त्रों से आहत को तजकर, है अनल सचेतन तन वाले।।

अन्वयार्थ—

तेउ=अग्निकाय । चित्त=चेतना वाली कही गई है, उसमें । अणेग= अनेक जीव । पुढो = पृथक् सत्ता वाले हैं । सत्थ=शस्त्र परिणत के । अन्नत्थ=अतिरिक्त वे अग्निकाय भी सजीव हैं ।

तेजस्काय अग्नि को चितवान् कहा गया है। उल्का, अंगार, ज्वाला और विद्युत आदि सब प्रकार की अग्नि सजीव है। अंगार के सूक्ष्म कण में भी असंख्य जीव है। अंगुल के असंख्यात् भाग प्रमाण शरीर वाले ये सब जीव अलग-अलग सत्ता वाले हैं। पानी, मिट्टी आदि विरोधी तत्वों से परिणत को छोड़कर शेष अग्नि भी चेतनावान है। सोना, ईंट, बुझे कोयले और गर्म पानी की आग शस्त्र परिणत होने से अचित्त होती है। अग्नि के जलाने और बुझाने में असंख्य तेजस्काय, असंख्य जलकाय, असंख्य वायुकाय और संख्यातीत त्रसजीवों की हिंसा होती है। अतः अग्निकाय के आरम्भ से बचना भी आवश्यक है।

मूल—

वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता
अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥७॥

हिन्दी पद्य—

है पवन सचेतन कहा गया, सब जीव पृथक सत्ताधारी।
शस्त्रों से परिणत को तजकर, जानों ये भी जीवनधारी ॥

अन्वयार्थ—

वाउ = वायुकाय। चित्त = चेतना वाली कही गई है। अणे० = अनेक जीव। पुढो०=पृथक्-पृथक् सत्ता वाले। सत्थ=शस्त्र परिणत के। अन्नत्थ=अतिरिक्त वे सजीव हैं।

भावार्थ—

वायुकायिक चेतनावान है। उत्कलवात, मंडलवात, नवात, घतन-वात, झंझावात आदि वायुकाय जीव हैं। मुख की जरासी फूंक में असंख्य जीव हैं। आघात, टक्कर और अग्नि आदि वायुकाय के शस्त्र हैं। पंखे की हवा, इंजन की वाष्प और गैस आदि की वायु अचित्त सम्भव है। आघात टकराहट और अग्नि आदि शस्त्रों से वायु अचित्त होती है।

वायु की टक्कर से उड़ने वाले सूक्ष्म प्राणी नीचे गिरकर सिकुड़ जाते हैं, मूर्छित हो जाते हैं व मर जाते हैं, इसलिये वायु का आरम्भ भी वर्जनीय कहा गया है।

उपरोक्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकाय के जीव अव्यक्त चेतनावाले होते हैं। जन्म से अन्धे बहरे और गूंगे मनुष्यों की तरह छेदन-भेदन की वेदना भोगते हुए भी ये अपना दुःख और शोक व्यक्त नहीं कर पाते। फिर भी चेतनावान् होने से ये सजीव हैं।

▭

मूल—

वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थपरिणएण तंजहा— अग्गबीआ-मूलबीआ-पोरबीआ-खंधबीआ, बीअरुहा, संमुच्छिमा, तणलया, वणस्सइ काइआ सबीआ, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥८॥

हिन्दी पद्य—

जो जीव वनस्पतिकायिक हैं, उनके ये भेद निराले हैं।
कुछ अग्रबीज कुछ मूल बीज, कुछ पर्व बीज तनवाले हैं॥
कुछ स्कन्ध बीज, कुछ बीजरुहा, संमुर्छिम और तृणादिकाय।
ये हैं सचित और बीजयुक्त, शस्त्रों से परिणति हो नहीं काय॥

अन्वयार्थ—

वण=वनस्पतिकाय। चित्तमंत=चेतना वाली गई है। सत्थपरि०=शस्त्र परिणत के। अन्नत्थ=अतिरिक्त वनस्पति में। अणेग=अनेक जीव। पुढो=पृथक्-पृथक् सत्ता वाले कहे गये हैं। तंजहा=जैसे वनस्पति के मुख्य प्रकार ये हैं- १. अग्रबीज, २. मूलबीज, ३. पर्ववीज, ४. स्कंधबीज, ५. बीजरुह, ६. संमूर्छिम, ७. तृणलता। वन०=वनस्पतिकायिक। सबीया=बीज सहित। चित्तमं०=चेतना वाली कही गई हैं। सत्थपरि०=शस्त्र परिणत

के । अन्नत्थ=अतिरिक्त वनस्पति में । अणेग=अनेक जीव । पुढो=पृथक २ सत्ता वाले कहे गये हैं ।

भावार्थ—

वनस्पति चेतनावाली है। वनस्पति में अनेक जीव पृथक्-पृथक् सत्ता वाले हैं, मुख्य रूप से सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक ऐसे वनस्पति के ३ प्रकार हैं । अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरूह, संमूर्छिम, तृण, लता ये वनस्पति के मुख्य प्रकार हैं। इनमें सूक्ष्म वनस्पति के जीव लोक व्यापी हैं । ये किसी से मारे नहीं मरते । इनकी विराधना श्रद्धना, प्ररूपणा एवम् उपेक्षा भाव की दृष्टि से होती है । प्रकारान्तर से वनस्पति के आठ प्रकार बतलाये हैं ।

अग्नि, नमक आदि शस्त्रों से अचितीकृत के अतिरिक्त शेष वनस्पति सचित्त मानी गई है । वनस्पति के जीव मनुष्य की भांति विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं ।

जैसे मनुष्य का जन्म होता है, वैसे वनस्पति भी उत्पन्न होती है । मनुष्य बढ़ता है, ऐसे वनस्पति भी पोषण पाकर बढ़ती है । मनुष्य चेतना युक्त है, ऐसे वनस्पति भी चेतना युक्त है । मनुष्य का अंग कटने पर म्लान होता है वैसे वनस्पति भी छिन्न म्लान होती है । मनुष्य आहार करता है, ऐसे वनस्पति भी आहार लेती है । मनुष्य तन अनित्य है, ऐसे वनस्पति भी अनित्य है । मनुष्य तन में चय-उपचय होता है, ऐसे वनस्पति भी अपचित-उपचित होती है ।

८

मूल—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तंजहा– १. अंडया; २. पोयया, ३. जराउया, ४. रसया, ५. संसेइमा, ६. संमुच्छिमा, ७. उब्भिया, ८. उववाइया, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं रुयं भंतं,

तसियं पलाइयं, आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जा य कुंथुपिविलिया, सव्वे बेइन्दिया, सव्वे तेइन्दिया, सव्वे चउरिन्दिया, सव्वे पंचेन्दिया, सव्वे तिरिक्ख जोणिया; सव्वे नेरइया, सव्वे मणुआ, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिया, एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ 'तसकाउत्ति' पवुच्चइ ॥९॥

हिन्दी पद्य—

जो ये अनेक चलने वाले, जगती में त्रस कहलाते हैं।
अंडज१, पोतज२, रसज३, जरायुज४, स्वेदज५, प्राणी होते हैं ॥
संमूर्छिम६, उद्भिज७ उपपातिक, चेष्टा है जिनके जीवन में।
ज्ञातृ अपेक्षा से कितनी, होती है काम क्रिया इनमें ॥
सम्मुख आना पीछे जाना, संकोचन अंगों का करना।
निज हाथ पांव को फैलाना, इच्छा से रुदन भ्रमण करना ॥
होना उद्विग्न भयादि देख, स्वस्थान छोड़कर भग जाना।
यों इनके गमनागमनों से, है सिद्ध प्राणधारी कहना ॥
सब कीट पतंगे जो प्राणी, फिर कुन्थु पिपीलिका तन वाले।
हैं दो इन्द्रिय त्रिइन्द्रिय सब, चतुरिन्द्रिय, पंचइन्द्रिय वाले ॥
तिर्यक् योनिज और नारकी, मनुज देव को तन प्यारे।
ये अष्टकाय के अन्तर्हित, गतिशील कहे त्रस तन वाले ॥

अन्वयार्थ—

पुण=फिर। जे इमे=जो ये। पाणा=प्राणी हैं। तंजहा=जैसे कि। अंडया = अंडज। पोयया=पोतज। जरा०=जरायुज। रसया = रसज। संसेइया = संस्वेदज। संमुच्छिमा = संमूर्च्छनज। उब्भिया = उद्भिज। उववा०=औपपातिक। जेसिं=जिन। केसिं=किन्हीं। पाणाणं=प्राणियों के अभि० = सामने आना। पडि० = पीछे जाना। संकु०=संकोच करना। पसारि०=अंग फैलाना। रुयं=शब्द करना। भंतं=भ्रमण करना। तसियं=

त्रस्त, भयभीत होना। पलाइयं=भगना। आगई-गई=आगति और गति के विन्नाया=ज्ञाता होना यह त्रस जीव की पहिचान है, त्रस कौन। जे=जो। कीडपयंगा = कीट पतंग हैं। जाय = और जो। कुंथुपिपी० = कुंथु तथा पिपीलिका कीड़ी है। सव्वे=सब। बेइं०=दो इन्द्रिय वाले जीव। सव्वे=सब। तेइं०=तीन इन्द्रियों वाले जीव। सव्वे चउ०=सब चार इन्द्रिय वाले जीव। सव्वे पं०=सव पांच इन्द्रियों वाले जीव, जैसे। सव्वे त्ति०=सव तिर्यच योनि के जीव। सव्वे ने०=सब नर्क के जीव। सव्वे म०=सव मनुष्य और। सव्वे=सव। पाणा=प्राणी। परमाहम्मि०=परम सुख के अभिलाषी हैं। एसो=यह। खलु=निश्चय। छट्ठो जी०=छठा जीव निकाय। तस=त्रसकाय। त्ति=इस नाम से। पवुच्चइ=कहा जाता है।

भावार्थ—

त्रस प्राणी अनेक प्रकार के कहे गये हैं, जो मुख्य इस प्रकार है—१. अंडे से उत्पन्न होने वाले अंडज, २. थैली से उत्पन्न होने वाले पोतज, ३. जर से लिपटे उत्पन्न होने वाले जरायुज, ४. रस में विकार होने से उत्पन्न होने वाले रसज. ५. स्वेद पसीने से उत्पन्न होने वाले स्वेदज, ६. विना गर्भ के उत्पन्न होने वाले सम्मूर्छिम, ७. भूमि फाड़कर उत्पन्न होने वाले उद्‌भिज, ८. उपपात से उत्पन्न होने वाले औपपातिक। इस प्रकार से आठ प्रकार के सजीव हैं।

जिन प्राणियों में सामने आना, पीछे जाना, संकोच, प्रसारण, शब्द करना, भ्रमण करना, भयभीत होना, भागना और आगति - गति का ज्ञान होना इनसे त्रस जीव जाने जाते हैं। जो कीड़ पतंगे-कुंथु एवम् पिपीलिका आदि सव दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय वाले जीव त्रस हैं। गति की अपेक्षा एकेन्द्रिय को छोड़कर, सव तिर्यच योनि के जीव, सब नारकीय जीव, सब मनुष्य और सव देवता ये सब त्रस प्राणी परम सुख के अभिलाषी हैं। कोई जीव दुःख नहीं चाहता। ये सब जीव त्रसकाय कहे जाते हैं। ये सुख दुःख को और हर्ष खेद को व्यक्त करते हैं, अतः इनमें स्थूल चेतना है।

मूल—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा, दंडंसमारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अण्णं न समणुजाणामि।

तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे षट्कायिक जीवों पर, नहीं स्वयं दण्ड आरम्भ करना।
दण्ड दिलाना नहीं पर से, देते पर को न भला कहना॥
हिंसा को वर्जन जीवन भर, हमको करना मनसे तनसे।
ना स्वयं करे ना करवायें, करते को शुभ न कहे मनसे॥
ऐसे दण्डों से गुरुवरजी, मैं स्वयं दूर अब होता हूं।
निन्दा गर्हाकर पापों का, व्युत्सर्ग हृदय से करता हूं॥

अन्वयार्थ—

इच्चेसिं=इन। छण्हंजीवनि०=६ जीव निकायों के लिए। सयं=स्वयं दण्डं=दण्ड का। नेव समा०=समारम्भ करना नहीं। अन्नेहिं=दूसरों से। दंडं=दण्ड का। नेव समारं०=समारम्भ करवाना नहीं। दंडं=दण्ड का। समारंभे=समारम्भ करने वाले। अन्ने=अन्य को। न समणु=अच्छा नहीं मानना। जाव=जीवन भर के लिए। तिविहं=तीन करण। तिविहेणं= मणेणं=मन से। वाया=वचन और। काए=काया से। न करेमि=करूं नहीं। न कार०=करवाऊं नहीं। करंतंपि=करने वाले। अन्नं=अन्य का न समणु०=अनुमोदन भी करना नहीं। तस्स=उस पूर्वकृत समारम्भ का भन्ते!=हे पूज्य। पडि०=प्रतिक्रमण करता। निन्दा०=निन्दा करता हूँ। गरि०=गर्हा करता हूँ। अप्पाणं=पापकारी आत्मा का। वोसि०=व्युत्सर्ग करता हूँ।

भावार्थ—

षड्कायिक जीवों का परिचय देकर अब गुरूदेव उनकी रक्षा का उपदेश देते हैं– जैन मुनि का यह संकल्प होता है कि पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकायिक तक के इन जीवों पर स्वयं दण्ड का समारम्भ करना नहीं। दूसरों से दण्ड समारम्भ कराना नहीं और हिंसादि दण्ड करने वालों का अनुमोदन करना नहीं। मन, वचन और काया से तीन करण और तीन योग से जीवन भर के लिये भूतकाल में जो दण्ड समारम्भ किया है, उसके लिए प्रतिक्रमण करना निन्दा एवम् गुरू साक्षिक गर्हा करते हुए पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

मूल—

पढमे भन्ते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! पाणाइवायं, पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

पढमे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओ मि, सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥११॥

हिन्दी पद्य—

प्रथम महाव्रत में भदन्त, प्राणातिपात विरमण होता।
इसलिए सभी हिंसा कार्यों से, छोड़ रहा हूं मैं नाता ॥
हो सूक्ष्म तथा बादर अथवा त्रस, स्थावर भी कोई जीव कहीं।
हिंसा न करूं ना करवाऊं, करते को अच्छा कहूं नहीं ॥

तीन करण और तीन योग से, मन वचन और अपने तन से ।
करूं न करवाऊं मैं हिंसा, भला नहीं जानूं मन से ॥
होता हिंसा से अलग और, निन्दा गर्हा मैं करता हूं ।
प्रथम महाव्रत जीवघात से, विरत सर्वथा होता हूं ॥

अन्वयार्थ—

भन्ते ! = हे भगवान् । पढमे = प्रथम । महव्वए = महाव्रत में । पाणाइवा०=प्राणातिपात से । वेर०=निवृत्ति करता हूँ । भन्ते! = हे पूज्य सव्वं=सर्वथा । पाणाइ०=प्राणातिपात का । पच्च० =प्रत्याख्यान करता हूँ । सुहुमं=सूक्ष्म । वा=या । बायरं=स्थूल । तसं=त्रस । वा=अथवा । स्थावरं=स्थावर जीव को । सयं=स्वयं । पाणे=प्राणों का । नेव अइ०= अतिपात हनन करना नहीं ।

नेवन्नेहिं पाणे .... अन्नं न समणुजाणामि ।

दूसरों से प्राणों का अतिपात कराऊंगा नहीं । प्राणों का अतिपात करने वाले को अच्छा भी नहीं समझूं । यावज्जीवन अर्थात् जीवन भर के लिये तीन करण, तीन योग से मन से, वचन से, काया से स्वयं करूंगा नहीं दूसरे से कराऊंगा नहीं और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा ।

तस्स भन्ते !.. वोसिरामि ।

हे भगवन् ! मैं अतीत में किये गये, प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ । पूर्वकृत पाप की निन्दा करता हूँ । गुरू साक्षिक गर्हा करता हूँ और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

पढमे भन्ते !.. पाणाइ वायाओ वेरमणं ।

हे भगवन् ! मैं प्रथम महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ । अब सर्वथा प्राणातिपात से निवृत्ति करता हूँ ।

भावार्थ—

जैन मुनि महाव्रती होने से पूर्ण अहिंसक होते हैं । वे सूक्ष्म या बादर, त्रस अथवा स्थावर, किसी भी जीव की स्वयं हिंसा करते नहीं, दूसरों से

करवाते नहीं और हिंसा करने वाले को अच्छा भी नहीं मानते। प्रथम महाव्रत में सर्वथा हिंसा वर्जन की प्रतिज्ञा को दुहराते हुए मुनि कहता है कि मैं जीवन भर के लिए तीन करण और तीन योग से अर्थात् हिंसा करूं नहीं, कराऊं नहीं, करने वाले का अनुमोदन करूं नहीं। मन, वचन और काय से पूर्वकृत हिंसा के पाप को हल्का करने के लिए प्रतिक्रमण करता, पाप की निन्दा और गुरू साक्षि से गर्हा करता और पापकारी आत्मा को पाप से अलग करता हूँ। इस प्रकार गुरू के समक्ष प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन करने से व्रत में दृढ़ता आती है। अतः शिष्य ने अपनी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन किया है।

मूल—

अहावरे दोच्चे भन्ते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भन्ते! मुसावायं पच्चक्खामि। से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा, नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा मुसं वयन्ते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

दोच्चे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ, मुसावायाओ वेरमणं ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

द्वितीय महाव्रत मृषावाद - विरमण नामक कहलाता हैं।
भन्ते! मृषावाद का इसमें, वर्जन करना पड़ता है ॥
क्रोध लोभ भय हास्य निमित्तक, झूंठ नहीं मैं बोलूंगा।

औरों से नहीं कहलाऊंगा, कहते को भला न मानूंगा ॥
त्रिविध करण और त्रिविध योग, मन वचन और अपने तन से।
कहूं न कहलाऊं मैं मिथ्या, भला नहीं मानूं मन से ॥
होता मिथ्या से अलग और, निन्दा गर्हा मैं करता हूं ।
द्वितीय महाव्रत मृषावाद, विरमण को धारण करता हूं ॥

अन्वयार्थ—

अहावरे=अब आगे। भन्ते!=हे भगवन्। दूच्चे=दूसरे महाव्रत में। मुसावा०=मृषावाद से। विरमणं=विरति होती है। भन्ते!=हे पूज्य। सव्वं=सब प्रकार के। मुसावा०=मृषावाद का। पच्चक्खा०=प्रत्याख्यान करता हूँ। से=वह मृषावाद। कोहा=क्रोध से। लोहा=लोभ से। भया वा=भय से, अथवा। हासा वा=हास्य के वश। सयं=स्वयं। मुसा=मृषावाद। नेव०=बोलूं नहीं। अन्नेहि=बोलने वाले दूसरों को भी। मुसं=मृषावाद। नेव वा०=बोलाऊं नहीं।

॥ अन्ने ण समणु .... वोसरामि ॥

मृषा (झूठ) बोलने वालों को अच्छा भी नहीं समझूंगा, यावज्जीवन अर्थात् जीवन भर के लिये, तीनकरण तीन योग से, मन से, वचन से, काया से, स्वयं मृषा बोलूंगा नहीं दूसरों से बुलवाऊंगा नहीं, और मृषा बोलने वाले का अनुमोदन भी करूंगा नहीं।

॥ तस्स भन्ते .... वोसरामि ॥

हे भगवन्! मै अतीत में किये गये मृषावाद से, निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गुरुसाक्षिक गर्हा करता हूँ, और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

॥ दोच्चे भन्ते! .... मुसा वायाओ वेरमणं ॥

हे भगवन्! मैं दूसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ, अब सर्वथा मृषावाद से निवृत्ति-करता हूँ।

भावार्थ—

मृषावाद दूसरा अधर्म द्वार है, इसको खुला रखने से अन्यान्य पाप भी आसानी से प्रविष्ट होते रहते हैं। अतः पाप प्रवृत्ति को कम करने के लिये-दूसरे महाव्रत में मृषावाद का विरमण किया जाता है। इस व्रत के लिये साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि, छोटा बड़ा सहेतुक या अहेतुक किसी भी प्रकार का, मैं मिथ्या भाषण करूं नहीं करवाऊं नहीं मृषा भाषण का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, तीनकरण और तीन योग से जीवन भर के लिये, अज्ञानवश जो पहले मृषा भाषण किया है, उसके लिये प्रतिक्रमण करता हूँ। आत्मसाक्षि से पाप की निन्दा और गुरुसाक्षी से गर्हा करता एवं पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

'सत्यमहाव्रती' अन्यान्य सद्गुणों का आश्रय धाम बन जाता है, शास्त्र में कहा है कि—"सच्चं लोगम्मि सारभूयं" अर्थात् सत्य लोक में सारभूत है। सत्य के शास्त्रान्तर में-भाव सत्य १ कारण सत्य २ योग सत्य ३ ऐसे ३ भेद किये हैं। परन्तु यहां मुख्य रूप से इस व्रत में वाणी के असत्य का ही त्याग बताया है। प्रतिज्ञा पाठ से इस बात को भलीभांति जाना जा सकता है।

मूल—

अहावरे तच्चे भन्ते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं। सव्वं भन्ते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणु वा, थूलं वा, चित्तमंत वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हावेज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

तृतीय महाव्रत चौर्य कर्म से, अब मैं विरमण करता हूं।
बिना दिये पर वस्तु ग्रहण को, शुद्ध भाव से तजता हूं॥
ग्राम नगर अथवा वन में, लेना अदत्त थोड़ा व अधिक।
स्थूल सूक्ष्म निर्जीव तथा, चाहे हो चैतन्य सहित॥
लूंगा अदत्त ना वस्तु कोई, औरों से नहीं लिवाऊंगा।
बिना दिये लेने वाले को, भला नहीं बतलाऊंगा॥
तीन करण और तीन योग से, मन से वचन तथा तन से।
करूं न करवाऊं करते को, भला न जानूंगा मन से॥
होता चोरी से पृथक् और, निंदा गर्हा मैं करता हूं।
तृतीय महाव्रत चौर्य विरति का, व्रत मैं धारण करता हूं॥
करता भदन्त मै चौर्य त्याग, उपरत इस कर्म से होता हूं।
अचौर्य महाव्रत पालन में, अपने को अर्पण करता हूं॥

अन्वयार्थ—

अहावरे० भंते मह०=हे भगवन्! तीसरे महाव्रत में। अदिन्ना०=अदत्तादान की। विर०=निवृत्ति होती है। सव्वं भन्ते अ०=सब प्रकार के अदत्तादान का। पच्च०=मैं प्रत्याख्यान करता हूं। से गामे०=ग्राम में, नगर में, या अरण्य में। अप्पं वा०=थोड़ा हो या। बहुं०=बहुत। अणु०=छोटी वस्तु हो या। थूलं०=स्थूल हो। चित्तमं०=सचित्त हो या अचित्त।

॥ नेव सयं .... समणुजाणामि ॥

स्वयं अदत्त ग्रहण करूं नहीं, दूसरों से, अदत्त ग्रहण कराऊं नहीं, अदत्त ग्रहण करने वाले अन्य को अच्छा समझूं नहीं।

॥ तस्स भन्ते ! .... वोसरामि ॥

हे भगवन् ! पूर्व गृहीत उस अदत्त का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता और गुरु साक्षिक पापकारी आत्मा की गर्हा करता हूँ व्युत्सर्ग करता हूँ ।

॥ तच्चे भन्ते ! महव्व० ....ओ वेरमणं ॥

तीसरे महाव्रत में सब प्रकार के अदत्तादान से निवृत्ति करने को उपस्थित हूँ ।

भावार्थ—

तीसरा महाव्रत अदत्तादान विरमण है । अहिंसा और सत्य महाव्रत के पश्चात् अचौर्य महाव्रत आता है । जैन मुनि के व्रत में देश, काल और परिस्थिति की कोई छूट नहीं होती अतः उनको महाव्रत कहा जाता है । महाव्रत ५ हैं । अहिंसा की पूर्णता के लिये जैसे सत्य आवश्यक है, वैसे सत्य की परिपालना के लिये–अचौर्य व्रत भी आवश्यक है । चोरी द्रव्य की तरह भावों की भी होती है । जैसे-दशवैकालिक में कहा है—

'तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे, य जे नरे' ।
आयारभाव तेणे य, कुव्वइ देव किव्विसं ॥

तपस्तेन, व्रतस्तेन, रूपस्तेन और आचारस्तेन ये भावस्तेन हैं । परन्तु यहां पर वाह्य वस्तु के– अदत्तादान को ही मुख्यत्वेन वर्जन किया है । साधु सम्पूर्ण अदत्त का त्यागी होता है । अल्प या वहुत, अणु और स्थूल, सचित्त एवं अचित्त ऐसे छह प्रकार के अदत्त का ग्रहण मुनि के लिये तीन करण और तीन योग से जीवन भर के लिये वर्जित बतलाया गया है । शिष्य ने प्रतिज्ञा की है कि मैं छहों प्रकार के अदत्तादान का तीन करण और तीन योग से जीवन भर के लिये परित्याग करता हूँ । मैं सब प्रकार के अदत्तादान की विरति में तत्परता से उपस्थित हूँ । साधु साध्वी के लिये आवश्यक सूत्र में देव अदत्त १ गुरु अदत्त २ राज्य अदत्त ३ गाथापति अदत्त ४ और साधर्मि अदत्त ५ इन पांच प्रकार के अदत्त का भी वर्जन किया गया है ।

मूल—

अहावरे चउत्थे भन्ते ! महव्वए मेंहुणाओ वेरमणं सव्वं भन्ते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवन्ते वि अन्ने न समणु-जाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणु-जाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

चउत्थे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेंहु-णाओ वेरमणं।

हिन्दी पद्य—

मैथुन विरमण है व्रत चौथा, मैं तन मन से अपनाता हूं।
हे भदन्त ! सारे मैथुन से, निज मन दूर हटाता हूं॥
देव मनुज या तिर्यंचों से, मैथुन सेवन करूं नहीं।
मैथुन कर्म न करें करावे, अनुमोदन मन धरूं नहीं॥
तीन करण और तीन योग, मन वचन तथा अपने तन से।
करूं न करवाऊं मैं मैथुन, अनुमोदन न करूं मन से॥
करता भदन्त ! मैथुनवर्जन, निन्दा गर्हा भी करता हूं।
मैथुन सेवन के महापाप से, दूर स्वयं को करता हूं॥

अन्वयार्थ—

अहावरे च०=हे भगवन् चौथे। मह०=महाव्रत में। मेहु० वि०= मैथुन का परित्याग होता है। सव्वं० भं० मे०=भगवन् ! मैं सर्वथा मैथुन अर्थात् कुशील का परित्याग करता हूँ। से दिव्वं वा०=वह मैथुन, देव

सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, या, तिर्यंच सम्बन्धी हो। नेव सयं मे०=मैं स्वयं मैथुन सेवन करूं नहीं।

नेवन्नेहिं मेहुणं........................ .... न समणुजाणामि ॥

दूसरों से मैथुन सेवन करवाऊं नहीं, मैथुन सेवन करने वाले अन्य को अच्छा भी समझूं नहीं।

जीवन भर के लिते, तीन करण तीन योग से मन वचग और काय से मैथुन सेवन करूं नहीं, सेवन कराऊं नहीं, मैथुन सेवन करने वालों को अच्छा समझूं नहीं।

तस्स भन्ते ! .... वोसिरामि ॥

हे भगवम् पहले के मैथुन सेवन का, प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा करता हूँ, गुरु साक्षि से गर्हा करता और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

चउत्थे भन्ते ?... वेरमणं ॥

हे भगवन् ! मैं चौथे महाव्रत में उपस्थित हूँ, सर्वथा मैथुन से निवृत्त हूँ।

भावार्थ—

पहले तीन महाव्रतों में हिंसा, मृषावाद, और अदत्त का विरमण होता है। जो मैथुन त्याग के विना यथावत् नहीं पाला जाता, अतः अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य की निर्दोष आराधना के लिये चौथे महाव्रत में मैथुन का विरमण किया जाता है।

औदारिक और वैक्रिय शरीर के सम्बन्ध से मैथुन १८ प्रकार का होता है। शिष्य प्रतिज्ञा करता है कि भगवन् ! मैं देव मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी किसी प्रकार का मैथुन सेवन करूंगा नहीं, दूसरों से करवाऊंगा

नहीं और मैथुन सेवन करने वालों को भला जानूंगा नहीं, जीवन पर्यन्त तीनकरण, तीन योग से मन वाणी और काय से वर्तमान की साधना में, भूतकाल की स्मृति, चंचलता उत्पन्न नहीं करे इस दृष्टि से पूर्व के भुक्त भोगों के लिये शिष्य प्रतिक्रमण करता है और निंदा एवं गुरु साक्षिक गर्हा करके दूषित आत्मा का व्युत्सर्ग करता है।

प्रत्येक महाव्रत की सुरक्षा के लिये आचारांग सूत्र में पांच पांच भावना वतलाई गई हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये–पांच भावनाओं के अतिरिक्त नवगुप्तियां अलग वतलाई गई हैं। नवगुप्तियों के साथ ब्रह्मचर्य की आराधना करने वाला, देवों का भी पूजनीय होता है। जैसे कहा है :–

'बंभयारिं नमस्सन्ति, दुक्करं जे करन्ति ते'

(उत्तरा० १६)

मूल—

अहावरे पंचमे भन्ते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भंते! परिग्गहं, पच्चक्खामि, से गामे वा, नगरे वा, रण्णे वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चितमंतं वा, अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि करंतं पि अन्न न समणुजाणामि।

तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

पंचमे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं॥

हिन्दी पद्य—

परिग्रह विरमण पंचमव्रत, मैं भली भांति अपनाता हूं।
हे भदन्त ! सब तरह परिग्रह, से मन दूर हटाता हूं॥
चाहे थोड़ा या बहुत अधिक, अणु अथवा स्थूल परिग्रह हो।
हो सचित्त अथवा अचित्त, लेना मन के अनुरूप न हो॥
ना स्वयं परिग्रह ग्रहण करूं, औरों से ग्रहण कराऊं ना।
तथा परिग्रह रखने वाले, को भी अच्छा मानूं ना॥
तीन करण और तीन योग से, मन से वचन तथा तन से।
करूं न करवाऊं संग्रह को, भला नहीं जानूं मन से।
करता भदन्त ! सब संगत्याग, निन्दा गर्हा मैं करता हूं।
परिग्रह विरमण व्रत पालन में, अब मन को अर्पण करता हूं॥

अन्वयार्थ—

अहावरे पंचमे भन्ते !०=भगवन् ! पंचम महाव्रत में। परि० वेर०= परिग्रह से निवृत्ति की जाती है। सव्वं भं०=हे पूज्य मैं सर्वथा परिग्रह का त्याग करता हूँ। से गामे वा०=गांव, नगर या। अर०=वन में। अप्पं०= थोड़ा या बहुत। अणु०=छोटा अथवा बड़ा। चित्तमं०=सचित्त या अचित्त कोई। नेव सयं प०=परिग्रह स्वयं ग्रहण करूंगा नहीं। नेवन्ने०=दूसरों से परिग्रह ग्रहण करवाऊं नहीं।

परिग्गहं परिगि०..समणुजाणामि॥

परिग्रह ग्रहण करने वाले अन्य का अनुमोदन भी करूंगा नहीं। जीवन पर्यन्त तीन करण, और तीन योग से, मन वचन और काय से परिग्रह का संग्रह करूं नहीं, दूसरों से करवाऊं नहीं, परिग्रह का संग्रह करने वाले अन्य को भला समझूं नहीं।

तस्स भन्ते !..वोसिरामि॥

हे भगवन् ! पहले जो परिग्रह किया है, उसका प्रतिक्रमण करता, निन्दा करता, गुरु साक्षि से गर्हा करता, और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

पंचमे भन्ते !.. वेरमणं ॥

हे भगवन् ! पांचवें महाव्रत में उपस्थित हुआ हूँ, अब सर्वथा परिग्रह करने से निवृत्ति करता हूँ ।

भावार्थ—

पांचवें महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा विरमण किया जाता है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इन चार पापों के पीछे पांचवां पाप परिग्रह कहा है, हिंसादि चार पापों का यह जनक और पोषक है । परिग्रह के लिये ही हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील का सेवन किया जाता है, अतः परिग्रह को पापों का मूल कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा । परिग्रह के त्याग की भावना लिये शिष्य निवेदन करता है कि गुरुदेव ! मैं स्वयं परिग्रह नहीं रक्खूंगा, दूसरों के द्वारा रखाऊंगा नहीं और परिग्रह रखने वाले अन्य को भला भी मानूंगा नहीं, जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से त्याग करता हूँ ।

वीतराग देव ने बतलाया है कि परिग्रह रखना जैसे पाप है, वैसे दूसरों के पास पैसा जमा कराना, और करने वाले का अनुमोदन भी पाप-बन्ध का कारण है, इसलिये जैन मुनि प्रतिज्ञा करता है कि मन वचन और काय से परिग्रह रक्खूं नहीं, रखाऊं नहीं और परिग्रह रखने वाले को भला भी मानूंगा नहीं । पूर्व में जो परिग्रह किया है, उसके लिये प्रतिक्रमण करता, निन्दा करता, गुरु की साक्षि से गर्हा करता और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

टिप्पणी—

परिग्रह का अर्थ है, राग के अधीन हो पदार्थों का ग्रहण करना । शरीरधारी को अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, औषधि आदि ग्रहण करने पड़ते हैं । बाह्य पदार्थ को लिये बिना, कोई जीवन नहीं चला सकता ।

परन्तु उनके ग्रहण में यदि राग नहीं है, तो वे परिग्रह नहीं कहलाते ।

परिग्रह के मुख्य दो प्रकार हैं— १ आभ्यन्तर और २ बाह्य । बाहरी परिग्रह मुख्यता से दो प्रकार का है-सजीव परिग्रह और निर्जीव परिग्रह ।

दास, दासी, पुत्र, कलत्र, और वृक्षादि सजीव परिग्रह, और सोना-चांदी, वस्त्र आदि निर्जीव परिग्रह हैं। संयमी साधु परोपकार और सामाजिक कार्य के लिये भी पैसा जमा नहीं रखता। संयम साधन के लिये वस्त्र, पात्र और शास्त्रादि धर्मोपकरण भी सीमित ही ग्रहण करता और बिना मूर्छा भाव के धारण करता है। वस्त्र-पात्र और शास्त्र एवं पुस्तकों का संग्रह भी मर्यादा उपरान्त नहीं रखता।

पंचम महाव्रत में साधु ने सर्वथा परिग्रह का त्याग किया है। अतः धर्मोपकरण पर भी मूर्च्छाभाव नहीं रखता, क्योंकि–'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' मूर्च्छाभाव परिग्रह कहा गया है। साधु का पंचम महाव्रत कहा गया है।

मूल—

अहावरे छट्ठे भन्ते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा; नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं भुंजतेवि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

छट्ठे भन्ते ! व ए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

रजनी भोजन त्याग रूप, व्रत छट्ठे को अपनाता हूं।
हे पूज्य ! रात्रि के भोजन को, अब मन से दूर हटाता हूं॥
अशन पान खादिम या स्वादिम, स्वयं नहीं मैं खाऊंगा।
और खिलाऊंगा न किसी को, खाते को भला न मानूंगा॥

त्रिकरण त्रियोग से आजीवन, मन वचन तथा अपने तन से।
करूं न करवाऊं निशि भोजन, भला नहीं जानूं मन से ॥
करता भदन्त ! निशि अशन त्याग, निन्दा गर्हा भी करता हूं।
त्याग रात्रि भोजन, व्रत पालन, में मन अर्पित करता हूं ॥

अन्वयार्थ—

अहावरे छट्ठे भन्ते०=इसके पीछे छठे व्रत में। राइ भोय०=रात्रि भोजन का वर्जन किया जाता है। सव्वं भन्ते!०=हे भगवन् ! मैं सर्वथा रात्रि भोजन का त्याग करता हूं। से असणं वा०=वह भोजन, अशन, पान, खादिम या खाद्य वस्तु को।

नेव सयं राइं भुंजिज्जा.................................... समणुजाणामि ॥

मैं स्वयं रात में खाऊंगा नहीं, दूसरों को रात में भोजन कराऊंगा नहीं। रात में खाने वाले दूसरों का अनुमोदन करूंगा नहीं जीवन पर्यंत तीन करण तीन योग से, मन वचन और काया से रात्रि में भोजन करूंगा नहीं, दूसरों से रात्रि भोजन कराऊंगा नहीं, रात्रि भोजन करने वाले अन्य को भला मानूंगा नहीं।

तस्स भन्ते !..वोसिरामि ॥

हे भगवन् ! भूतकाल में किये उस पाप का प्रतिक्रमण करता हूं, निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं, दूषित आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

छट्ठे भन्ते ! ....वेरमणं ॥

हे भगवन् ! इस प्रकार छट्ठे व्रत में उपस्थित हूं। रात्रि भोजन से सर्वथा निवृत्ति करता हूं।

भावार्थ—

पांच महाव्रतों के बाद छठे व्रत में रात्रि भोजन की विरति होती है। भन्ते ! मैं सब प्रकार से रात्रि भोजन का प्रत्याख्यान करता हूं। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य किसी भी वस्तु का मैं स्वयं रात्रि में उपयोग नहीं

करूंगा, दूसरों को भी नहीं खिलाऊंगा, और खाने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

भन्ते ! मै अतीत के रात्रि भोजन से निवृत्त होता हूँ, निन्दा करता हूं. गर्हा करता हूं, और दूषित आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

टिप्पणी—

पांच महाव्रतों के पश्चात् रात्रि भोजन विरमण को भी व्रत के रूप से कथन किया है।

वैसे यह अहिंसा महाव्रत में गर्भित हो जाता, किन्तु साधक पांच महाव्रतों की तरह इसे भी अवश्य पालनोय व्रत समझें, इसलिये इसको छठे व्रत रूप से कहा गया है।

छठे अध्ययन को २४ वीं गाथा में कहा है कि सचित्त जल से गीला वीजयुक्त भोजन और भूमि पर गिरे हुए छोटे जीवों को दिन को बचाया जा सकता है। किन्तु रात में कैसे बचाया जाय ? इसलिये रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये।

मूल—

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं-राइभोयण-वेरमण-छट्ठाइं;
अत्तहियट्ठाए उवसं पजित्ताणं विहरामि ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

पूर्व कथित ये पंच महाव्रत, छट्ठा रात्रि भोजन विरमण।
अपने हित के हेतु ग्रहण, कर करता हूं मैं जग विचरण॥

अन्वयार्थ—

इच्चे०=इस प्रकार ये। पंच० मह०=पांच महाव्रत और। राइ भो०=छठे रात्रि भोजन विरमण को। अत्तहि०=आत्मा के हितार्थ। उवसं०=स्वीकार करके। विहरामि०=विचरता हूं।

भावार्थ—

मैं इन पांच महाव्रतों और रात्रि भोजन विरति रूप छठे व्रत को आत्म कल्याण के लिये स्वीकार कर विचरण करता हूं।

मूल—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढविं वा भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, किलिंचेण वा, अंगुलियाए वा, सलागाए वा, सलागहत्थेण वा, न आलिहेज्जा, न विलिहेज्जा, न घट्टेज्जा, न भिंदेज्जा, अन्नं न आलिहावेज्जा, न विलिहावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न भिंदावेज्जा, अन्नं आलिहंतं वा, विलिहंतं वा, घट्टन्तं वा, भिंदंतं वा, न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

संयत विरत और प्रतिहत, कल्मष निषेध या घात किया ।
भिक्षु भिक्षुणी एकाकी, अथवा परिषद् में स्थान लिया ॥
हो काल दिवस या रजनी का, जागृति का अथवा सोने का ।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव से रहने का ॥
शुद्ध भूमि या भित्ति शिला, अति कठिन मृत्तिका ढेले को ।
रज सचित्त धूसर तन को, या पट सचित्त रज वाले को ॥
हाथ पैर या लकड़ी से, बांसों की बनी खपाटी से ।
अंगुली शलाका से अथवा, वैसे बहु लौह शलाका से ॥
रेखा खींचे ना बारबार, आलेखन उन पर करे नहीं ।
ना घिसे न तोड़े भूदल को, निज तन सम पीड़ा समझ सही ॥

ना अन्य जनों से करवाए, करते को भला नहीं जाने।
तीन करण और तीन योग से, व्रतरक्षण मन में ठाने॥
भन्ते! पृथ्वीकाय घात को, निन्दा गर्हा मैं करता हूं।
इस व्रत के पालन में ऐसे, अपने को अर्पण करता हूं॥

अन्वयार्थ—

संजय०=संयमी-त्यागी भूतकाल के पाप का शोधन और भविष्य के पाप का त्याग करने वाला। से भिक्खू०=साधु या साध्वी। दिया=दिन में। वा=अथवा। राओ=रात्रि। एगओ=एकान्त। वा=या। परिसा=सभा में। सुत्ते=सोये। वा=अथवा। जागर०=जाग्रत अवस्था में। पुढवीं=पृथ्वी। भित्ति=नदीतट। सिलं वा=शिला या। लेलुं=ढेले को। ससरक्खं०=सचित्त धूलि से भरे हुए। कायं=तन को। ससर०=सचित्त वत्थं=वस्त्र को। हत्थेणं=हाथ से। वा=अथवा। पाएणं=पैर से। कट्ठेणं=काष्ठ से। कलिंचेणं०=खपाटी से। अंगु०=अंगुलि से। सलाग०=लौहमय शलाका से। सलागहत्थे०=शलाका समूह से। न आलि०=आलेखन न करे। न विली०=विशेष रेखा न खींचे। न घट्टिज्जा०=घर्षण न करे। न भिंदेज्जा=भेदन न करे।

अन्नं न आलि०..न समणुजाणामि॥

दूसरे से आलेखन न करावे, रेखा न खिचावे, घर्षण करावे नहीं, भेदन करावे नहीं, दूसरे आलेखन करने वाले, विलेखन करने वाले, घर्षण करने वाले, भेदन करने वाले का अनुमोदन करे नहीं यावज्जीवन तीन करण तीन योग से मन वचन तथा काया से पृथ्वी का आरम्भ करूं नहीं, कराऊं नहीं, करने वाले का अनुमोदन करूं नहीं।

तस्स भन्ते!..वोसरामि॥

हे भगवन्! पूर्वकृत पाप का प्रतिक्रमण करता हूं, निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और पापकारी आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

भावार्थ—

आचारांग के चतुर्थ सम्यक्त्व अध्ययन में प्राणभूत जीव और सत्व की हिंसा नहीं करना ही धर्म कहा है। पृथ्वीकाय भी सजीव हैं। इसलिये हिंसा से उपरत संयमी मुनि दिन हो या रात, एकान्त हो या समूह, सुप्त-दशा में हो या जाग्रत, सचित्त पृथ्वीकाय की विराधना नहीं करता।

वादर पृथ्वीकाय के अनेक प्रकार हैं :– खान से निकलने वाले सोना, चांदी, अभ्रक, हीरा और पाषाण आदि पृथ्वीकायिक हैं। खान में रहे हुए पाषाण आदि का बढ़ना यह उनकी सजीवता का लक्षण है। अतः प्राणी मात्र के खेदज्ञ प्रभु ने इन पार्थिव जीवों की हिंसा को भी अहित कर अशुभ माना है। संयमी पुरुष नागरिक और धूप, अग्नि, पानी आदि से परिणमन पाई हुई पृथ्वी के अतिरिक्त पृथ्वी पर कोई गमनागमन क्रिया नहीं करते।

मूल—

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महियं वा, करगं वा, हरितणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदल्लं वा, वत्थं ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा, न संफुसेज्जा, न आवीलेज्जा, न पवीलेज्जा, न अक्खोड़ेज्जा, न पक्खोडेज्जा, न आयावेज्जा, न पयावेज्जा, अन्नं न आमुसावेज्जा, न आवीलावेज्जा, न पविलावेज्जा, न अक्खोड़ावेज्जा, न पक्खोड़ावेज्जा, न आयावेज्जा, न पयावेज्जा, अन्नं आमुसंत वा, संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा।

जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए, काएणं न करेमि न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसरामि ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

संयत विरत और पापों का, निषेध या प्रतिघात किया।
भिक्षु भिक्षुणी एकाकी, अथवा परिषद् में स्थान लिया॥
हो काल दिवस या रजनी का, जागृत या निद्रावस्था का।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव में रहने का॥
सचित्त जल या ओस हेम धूंअर, ओले या तृण जल को।
निर्मल व्योम पतित जल को, गीले तन अथवा अम्बर को॥
थोड़ा विशेष ना स्पर्श करे, कर से न निचोड़े वस्त्रों को।
ना बार बार दावे उनको, झटके ना गीले वस्त्रों को॥
प्रस्फोटन भी करे नहीं, आतप में उनको रक्खे ना।
इन सभी क्रिया करने वाले को, भला हृदय से जाने ना॥
तीन करण और तीन योग से, मन से वचन तथा तन से।
करूं न करवाऊं जीवन भर, अच्छा भी जानूं ना मन से॥
होता हिंसा से दूर तथा, आत्मा से निन्दा करता हूं।
गर्हा करता गुरुदेव ! सदा, मैं मन से हिंसा तजता हूं॥

अन्वयार्थ –

से भिक्खुवा भिक्खुणीवा=वह साधु अथवा साध्वी जो। संजय-विरयपडिहय०=संयमवान् पाप से विरक्त कर्म की स्थिति को कम करने वाले, भविष्य में पाप कर्म का प्रत्याख्यान करने वाले हैं। दिआ... णे वा=दिन में, अथवा रात में एकांकी अथवा समूह में रहे हुए, सोए या जागृत दशा में। आमु सा०=स्पर्श करावे नहीं। से उदगं वा=जल को। ओसं वा=ओस।

हिमं वा=बर्फ । महियं वा=धूंअर का पानी । करगं वा=ओला । हरितणुगं वा=दूब पर पड़े पानी के विन्दु । शुद्धोदगं वा=आकाश से गिरा हुआ पानी, तथा । उदउल्लं वा कायं=जल से भीगा हुआ शरीर । उदउल्लं वा०= जल से भीगा हुआ वस्त्र । ससिणिद्धं वा कायं=पानी से चिकास वाला शरीर अथवा वस्त्र इनको । न आमुसिज्जा=स्पर्श करे नहीं । न आविलिज्जा=निचौड़े नहीं । न पविलिज्जा=बार २ निचौड़े नहीं । न अक्खोडिज्जा=झटके नहीं । न पक्खोडिज्जा=बार बार झटके नहीं । न आयाविज्जा=सुखावे नहीं । न पयाविज्जा=बार बार सुखावे नहीं । अन्नं= दूसरे से । आमु सा०=स्पर्श करावे नहीं, बार बार स्पर्श करावे नहीं । न आविलाविज्जा=निचोड़ावे नहीं । न पविलाविज्जा=विशेष निचोड़ावे नहीं । न अक्खोड़ाविज्जा=झटकावे नहीं । न पक्खोड़ाविज्जा=बार २ झटकावे नहीं । न आयाविज्जा=सुखावे नहीं । न पयाविज्जा=बार बार सुखावे नहीं । आमुसंतं वा=स्पर्श करने वाले । संफुसंतं वा=बार बार स्पर्श करने वाले । आविलंतं वा=निचोड़ने वाले । पवी०=विशेष निचोड़ने वाले । अक्खोडंतं वा=झटकाने वाले । पक्खोडंतं वा=बार २ झटकाने वाले । आयावंतं वा=सुखाने वाले या । पयावंतं वा=बार २ सुखाने वाले । अन्नं= दूसरों को । न समणुजाणिज्जा=भला नहीं समझे । जाव०=जीवन पर्यंत ।

तीन करण तीन योग से मन वचन और काया से करूंगा नहीं, करने वाले दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करूंगा । पहले किये अप्‌काय की विराधना का, हे भगवन् !

मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म साक्षी से निन्दा करता और गुरु साक्षी से गर्हा करता हूं और पापकारी आत्मा को अप्‌काय की विराधना से अलग करता हूं ।

भावार्थ—

संयमी साधु-साध्वी अहिंसा महाव्रत में पृथ्वीकाय के समान सब प्रकार के अप्‌काय की हिंसा का भी त्याग करते हैं । चाहे किसी प्रकार का जल हो, रात्रि में गिरने वाला औस हो, हिम, महिका, सूक्ष्म अप्‌काय,

करक-ओले और तृणाग्रवर्ती जलकण का भी स्पर्श नहीं करते। सचित्त जल से कभी शरीर अथवा वस्त्र गीला हो, हाथ की रेखा तक भी गीली हो-तो उसको छूना नहीं; विशेप स्पर्श करना; निचोड़ना, अधिक निचोना, झटकना, विशेष झटकना, धूप में सुखाना तथा वारवार सुखाना आदि क्रियाएं स्वयं नहीं करना, दूसरों से ये क्रियाएं नहीं करवाना, करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना, जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योग से भविष्य के लिये ऐसी प्रतिज्ञा करके साधक भूतकाल की शुद्धि करता है।

▭

मूल—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं वा-जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा, न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न पज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा, भिंदंतं वा, उज्जालंतं वा, पज्जालंतं वा, निव्वावंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए। तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥२०॥

हिन्दी पद्य —

संयत विरत और पापों का, निषेध या प्रतिघात किया।
भिक्षु भिक्षुणी एकांकी, अथवा परिषद् में स्थान लिया॥

हो काल दिवस या रजनी का, जागृत या निद्रावस्था का।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव में रहने का॥
अग्निकाय में इंगारक, मुर्मुर अर्चि या ज्वाला को।
तेज करे ना तृणाग्रवर्ती, अनलजीव वध करने को॥
नहीं बुझवावे औरों से, जलवाना आदिक करे नहीं।
घर्षण या भेदन आदि क्रिया, जलवाये उसको कभी नहीं॥
प्रज्वालन ना करवावे और, नहीं किसी से बुझवावे।
अंगारक भेदन छेदन भी, नहीं अन्य किसी से करवावे॥
अनल जलाते भेदन करते, या घर्षण करते जन को।
भला न समझे व्रती जीव, प्रज्वालक या निर्वापक को॥
तीन करण या तीन योग से, मन वचन तथा अपने तन से।
करूं न करवाऊं जीवन भर, भला नहीं मानूं मन से॥
होता उससे दूर तथा, आत्मा से निन्दा करता हूं।
गर्हा करता हूं पूज्य प्रभो! मैं हिंसा मन से तजता हूं॥

अन्वयार्थ—

से भिक्खू .... वोसिरामि॥

वह साधु अथवा साध्वी जो संयत विरत पापकर्म का हनन करने वाले तथा भविष्य काल में पाप के त्यागी, दिन में या रात में एकाकी अथवा सभा में सोये या जागृत दशा में—

से अगणिं वा=अग्नि को। इंगालं वा=अंगारे को। मुम्मुरं वा=मुरमुर (चिनगारी)। अच्चिं वा=अर्चि को। जालं वा=अग्नि की ज्वाला को। अलायं वा=जलते हुए लकड़ी के छोर को। सुद्धागणिं वा=धुंवारहित आग को। उक्कं वा=उल्का आदि को। न उंजिज्जा=लकड़ी सरका कर बढ़ावे नहीं। न घट्टिज्जा=न घर्षण करे (घिसे)। न भिंदिज्जा=न भेदन करे। न उज्जालिज्जा=लकड़ी डालकर जलावे नहीं। न पज्जालिज्जा=प्रज्वलित करे नहीं। न निव्वाविज्जा=बुझावे नहीं। अन्नं न उंजाविज्जा=

अन्य से लकड़ी डालकर वढ़वावे नहीं। न घट्टाविज्जा=अग्नि का घर्षण करावे नहीं। न भिन्दाविज्जा=भेदन करावे नहीं। न उज्जालाविज्जा=जलवावे नहीं। न पज्जालाविज्जा=विशेष जलवावे नहीं। घट्टंतं वा=घर्षण करने वाले को। उज्जालंतं वा=अथवा जलाने वाले का। अन्नं उंजंतं वा=लकड़ी डालकर वढ़ाने वाले को। निव्वावंतं वा०=बुझाने वाले अन्य को। भिन्दंतं=भेदन करने वाले को। जावज्जीवाए=जीवन पर्यन्त। पज्जालंतं वा=तेज करने वाले का। न समणुजाणिज्जा=भला नहीं समझे।

तिविहं तिविहेणं................ .... अप्पाणं वोसिरामि॥

तीन करण तीन योग से, मन वचन काया से, अग्निकाय की हिंसा करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, करने वाले अन्य को भला समझूंगा नहीं, पहले के अग्निकाय के आरम्भ का, हे भगवन् ! प्रतिक्रमण करता हूं, निन्दा करता हूँ, गुरु साक्षि से गर्हा करता हूँ। पापकारी आत्मा को पाप से अलग करता हूँ।

भावार्थ—

संयत-विरत आदि गुण वाला भिक्षु षट्काय जीवों की पूर्ण हिंसा का त्यागी होता है। इसलिये तेजस्काय की रक्षा के लिए वह प्रतिज्ञा करता है कि अग्नि १ अंगारा २ मुर्मुर ३ अर्चि ४ ज्वाला ५ अलातक ६ शुद्ध अग्नि ७ और उल्का-ज्वाला रहित आग तथा पन्नवणा में कहे गये विद्युत् आदि को वढ़ावे नहीं, घर्षण नहीं करे, भेदन नहीं करे, जलावे नहीं, प्रज्वलित करे नहीं, बुझावे नहीं, दूसरों से-घर्षण, भेदन आदि कराना नहीं, करने वाले का अनुमोदन करना नहीं, जीवन पर्यन्त तीन करण, तीन योग से-तेजस्काय की विराधना जलाने, बुझाने आदि से स्वयं करूंगा नहीं, दूसरों से जलाने आदि की क्रिया कराना तथा करने वाले का अनुमोदन करना नहीं। शरीर धारी को अपने तन और परिवार के रक्षण आदि प्रयोजन से तेजस्काय का उपयोग आवश्यक होता है, परन्तु जैन साधु अग्निकाय के जलाने, बुझाने आदि क्रिया में असंख्य जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा होती जानकर मुनि अग्निकाय के आरम्भ का जीवन भर के लिये सर्वथा त्याग करते हैं।

भयंकर से भयंकर अन्धकार में भी जैन साधु लाइट का उपयोग नहीं करते, किन्तु रजोहरण से यतना करते हुए गमनागमन करते हैं।

▭

मूल—

से भिक्खू भिक्खूणी वा संजय-विरय पडिहय-पच्च-क्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परि-सागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, सेसिएण वा, विहुयणेण वा, तालियंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकन्नेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा, कायं, बाहिरं वा, वि पुग्गलं न फुमिज्जा, नवीएज्जा अन्नं न फुमाविज्जा, न वीआविज्जा, अन्नं फुमन्तं वा, वीअंतं वा, न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

संयत-विरत और पापों का, निषेध या प्रतिघात किया।
भिक्षु भिक्षुणी ऐकांकी, अथवा परिषद् में भाग लिया॥
हो काल दिवस या रजनी का, जागृत या निद्रावस्था का।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव से रहने का॥
चँवर पंखे तालवृन्त, या पत्ते या बहुपत्तों से।
तरुवर डाली या शाखिखंड से, तथा मयूर की पिच्छी से॥
पांख समूहों से अथवा, अम्बर के झीने पल्ले से।

हाथ और मुख के द्वारा, ऐसे ही पुट्ठे आदिक से ॥
अपने तन को या बाहर के, अशनादिक ठंडे करने को।
फूंक न मारे चँवर आदि से, हवा करे ना औरों को ॥
फूंक न मरवावे औरों से, तथा हवा ना करवावे ।
फूंक हवा करने वाले को, भला नहीं मन से माने ॥
तीन करण और तीन योग से, मन और वचन या काया से।
करूं न करवाऊँ जीवन भर, भला नहीं मानूं मन से ॥
होता उससे दूर तथा, आत्मा से निन्दा करता हूं ।
गर्हा करता हूं पूज्य प्रभो! मन से मैं हिंसा तजता हूं ॥

अन्वयार्थ—

से भिक्खुवा .... जागरमाणे वा॥

वह साधु अथवा साध्वी जो संयत विरत, पाप कर्म का हनन करने वाले तथा भविष्यकाल में पाप के त्यागी हैं, दिन में या रात में, एकाकी अथवा सभा में, सोये जागृत दशा में—

सिएण वा=चामर (चंवर) से। विहुयणेण वा=वृक्ष के पंखे से। तालियंटेण वा=ताड़पत्र के पंखे से। पत्तेण वा=पत्ते से। पत्तभंगेण वा=पत्र के समूह से। साहाए वा=वृक्ष की छोटी शाखा से। साहाभंगेण वा=शाखा के टुकड़ों से। पिहुणेण वा=मोर पंख से। पिहुण हत्थेण वा=मौर पिच्छी से। चेलेण वा=वस्त्र से। चेलकन्नेण वा=वस्त्र के छोर से। हत्थेण वा=हाथ से। मुहेण वा=मुंह से। अप्पणो वा=अपने। कायं=शरीर को। बाहिरं वा वि पुग्गलं=बाहरी पुद्गल अथवा बाहर के किसी पुद्गल को। न फुमिज्जा=फूंक नहीं दे। न वीएज्जा=वींजणे से हवा न करे। अन्नं=दूसरे से। न फुमाविज्जा=फूंक नहीं दिलावे। न वीआविज्जा=वींजणे से हवा न करावे। फूमंतवा=फूंक देने वाले अथवा। वी अंतंवा=वीजना करने वाले। अन्नं=दूसरे को। न समणुजाणिज्जा=भला भी नहीं समझे। जावज्जीवाए=जीवन पर्यंत।

तिविहं .... वोसिरामि॥

तीन करण तीन योग से, मन वचन और काया से करूंगा नहीं, करवाऊंगा नहीं, करने वाले दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। पहले किये वायुकाय की विराधना का, हे भगवन्! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म साक्षी से निन्दा करता हूँ, और गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ। और पापकारी आत्मा को वायुकाय की विराधना से हटाता हूँ।

भावार्थ—

चौथे प्रतिज्ञा सुत्र में साधु-साध्वी वायुकाय की हिंसा टालने की प्रतिज्ञा करते है। संयत-विरत आदि गुणवाला साधु दिन में या रात में किसी भी प्रकार की स्थिति में वायुकाय की रक्षा के लिये प्रतिज्ञा करता है कि—चामर से, पंखे से, तालवृंत पत्र या पत्तों के समूह से, वृक्ष की शाखा से, शाखा के टुकड़ों से, मोरपंख से, मोरपिच्छी से कपड़े या कपड़े के छोर से हाथ से अथवा मुंह से अपने शरीर या किसी वाह्य पदार्थ पर फूंक मारना नहीं, पंखी से हवा करना नहीं! दूसरे से फूंक दिलाना नहीं, पंखे से हवा करवाना नहीं! फूंक मारने अथवा पंखे से हवा करने वाले को भी अच्छा समझना नहीं, जीवन-पर्यन्त तीन करण और तीन योग से। महाव्रती की प्रतिज्ञा होती है कि मैं वायुकाय की हिंसा करूंगा नहीं, दूसरे से करवाऊंगा नहीं, करने वाले का अनुमोदन भी करूंगा नहीं मन, वचन और काय से। पूर्वकृत पाप के फल को हल्का करने के लिये भिक्षु प्रतिक्रमण कर पापकारी आत्मा की निन्दा करता, गुरू की साक्षी से गर्हा कर आत्मा को पाप से अलग करता है। वायु के जीव इतने सुक्ष्म है कि एक बार की फूंक में असंख्य जीवों की हिंसा होती है—इसीलिये कहा है कि—न फूमेज्जा—फूंक नहीं मारे! वस्त्रों को जोर से फटकारे भी नहीं।

मूल—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय पच्चक्खाय-पावकम्मे-दिआ वा, राओ वा, एगओ वा,

परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडि-निस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीइज्जा, न तुअट्टिज्जा अन्नं न गच्छाविज्जा न चिट्ठाविज्जा न निसिआविज्जा न तुअट्टाविज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीअंतं वा तुअट्टंतं वा, न समणुजाणिज्जा जाव-ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

संयत विरत और पापों का, निषेध या प्रतिघात किया।
भिक्षु भिक्षुणी एकाकी, अथवा परिषद् में भाग लिया॥
हो काल दिवस या रजनी का, जागृत या निद्रावस्था का।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव में रहने का॥
बीजों पर या बीज प्रतिष्ठित, आसन शयन पदार्थों पर।
अंकुरित वनस्पति या उन पर, रक्खे शयनादिक साधन पर॥
हरितों पर या हरित प्रतिष्ठित, छिन्न हरित के भागों पर।
गमन स्थिति या उपवेशन, इन पर करना होता दुख कर॥
ऐसे न चलावे औरों को, बैठावे और न खड़ा करे।
नहीं सुलावे परजन को, जीवों की रक्षा ध्यान धरे॥
हरितों पर चलते या ठहरे, बैठे या सोते अन्यों को।
भला न जाने विराधना, करने वाले प्राणी गण को॥

तीन करण और तीन योग से मन से वचन तथा तन से।
करूं न करवाऊं जीवन भर, भला नहीं मानूं मन से ॥
कृत पाप कर्म से हटता हूं, आत्मा से निन्दा करता हूं।
गर्हा करता गुरुदेव! हृदय से, दोषों को अब मैं तजता हूं ॥

अन्वयार्थ—

से भिक्खू .... जागरमाणे वा ॥

वह साधु अथवा साध्वी जो संयमवान पाप से विरक्त, कर्म की स्थिति को कम करने वाले, भविष्य में पाप कर्म का प्रत्याख्यान करने वाले, दिन में अथवा रात में, एकाकी अथवा समूह में रहे हुए, सोये या जागृत दशा में—

से बीएसु वा=बीजों पर। **बीयपइट्ठेसु वा**=बीज पर रखे आसन आदि पर। **रूढेसु वा**=अंकुरों पर। **रूढपइट्ठेसु वा**=अंकुरित वनस्पति पर रखे आसनादिकों पर। **जाएसु वा**=उत्पन्न हुई वनस्पति पर। **जाय-पइट्ठेसु वा**=उत्पन्न वनस्पति पर रखे हुए आसन आदि पर। **हरिएसु वा**= दूब आदि हरित पर। **हरिय पइट्ठेसु वा**=हरित पर रखे हुए आसनादिकों पर। **छिन्नेसु वा**=कटी हुई डाल पर। **छिन्न पइट्ठेसु वा**=कटी हुई डाल पर रहे हुए आसन आदि पर। **सचित्तेसु वा**=सचित्त वनस्पति पर। **सचित्त कोलपडिनिस्सिएसु वा**=जिसमें घुन लगे हों ऐसे काष्ट आदि पर। **न गच्छेज्जा**=चलें नहीं। **न चिट्ठेज्जा**=खड़ा न रहे। **न निसीइज्जा**=बैठे नहीं। **न तुअट्टिज्जा**=सोवे नहीं। **अन्नं**=अन्य (दूसरे) को। **न गच्छाविज्जा**= चलावे नहीं। **न चिट्ठाविज्जा**=खड़ा करावे नहीं। **न निसीआविज्जा**= बैठावे नहीं। **न तुअट्टाविज्जा**=सुलावे नहीं। **अन्नं गच्छंतं वा**=दूसरे चलते हुए को। **चिट्ठंतं वा**=खड़े रहने वाले को। **निसीअंतं वा**=बैठे हुए को। **तु अट्टंतं वा**=सोते हुए को। **न समणुजाणिज्जा**=भला भी न जाने। **जावज्जीवाए**=जीवन पर्यंत।

तिविहं तिवि० .... **वोसरामि** ॥

तीन करण तीन योग से-मन वचन और काया से, नहीं करूंगा, न करवाऊंगा, करने वाले दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। पहले

किये हुए वनस्पतिकाय की विराधना का, हे भगवन ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म साक्षी से निन्दा करता हूँ, और गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ। और पापकारी आत्मा को वनस्पति काय की विराधना से हटाता हूँ।

भावार्थ—

इस सूत्र में वायुकाय के पश्चात् वनस्पति के हिंसा वर्जन का संकल्प किया जाता है। संयत विरत आदि गुण वाला साधु–साध्वी कंद-मूल आदि दस प्रकार की वनस्पति में से किसी की विराधना नहीं करे। व्यवहार में जिनका प्रसंग पड़ता है, उनको मुख्य करके कहा जाता है कि वीजों पर, अंकुरों, हरित, दूव आदि तत्काल के कटे शाखा, पत्र, फल, फूल, सचित्त ऐसे ही वीजादि पर रखे फलक, चटाई आदि पर, चलना नहीं, खड़ा नहीं रहना, वैठना नहीं, लेटना नहीं, दूसरों से गमन आदि क्रिया करवाना नहीं, चलते हुए, खड़े रहते, वंठते या सोते हुए अन्य का अनुमोदन भी करना नहीं। जीवन पर्यन्त तीन करण और तीन योग से। भिक्षु प्रतिज्ञा की भाषा में कहता है–मन, वचन और काया से वनस्पति का आरम्भ स्वयं करूंगा नहीं, दूसरों से करवाऊंगा नहीं, वैसे वनस्पति के आरम्भ करने वाले का अनुमोदन भी करूंगा नहीं। पहले अज्ञानवश जो वनस्पति की विराधना हो चुकी है, उसके लिये प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्म साक्षी से पाप की निंदा करता, गुरू की साक्षी से गर्हा करता और पापकारी आत्मा को विराधना से अलग करता हूँ। अव ऐसी विराधना कभी नहीं करूंगा।

▭

मूल—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुथुं वा, पिविलियं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, ऊरूंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंवलंसि वा, पायपुच्छणंसि वा, रय-

हरणंसि वा, गोच्छगंसि वा, उडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, सथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा, तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय, पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणिज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ॥२३॥

हिन्दी पद्य—

संयत विरत और पापों का, निषेध या प्रतिघात किया।
भिक्षु भिक्षुणी एकाकी, अथवा परिषद् में भाग लिया॥
हो काल दिवस या रजनी का, जाग्रत या गहरी निद्रा का।
ऐसे ही सेवा पठन हेतु, श्रम खिन्न भाव से रहने का॥
कीट, पतंगे, कुंथु चींटियां, हाथ पैर के भागों पर।
जंघा, भुजा, उदर, वक्षस्थल, सिर पर और पात्र ऊपर॥
कंबल पद प्रोंछन आदिक पर, रजोहरण या पूंजनी पर।
स्थंडिल पात्र दण्ड के ऊपर, चौकी वा पाटे के ऊपर॥
शय्या संस्तारक अन्य तथा, ऐसे विध विध उपकरणों पर।
पहले कहे हुए प्राणी गण, काय तथा उपकरणों पर॥
बार बार प्रतिलेखन कर, यतना से उनको दूर करे।
बिना परस्पर टकराये, जीवों को ले एकान्त धरे॥

अन्वयार्थ—

से भिक्खु वा.................................... जागरमाणे वा॥

वह साधु अथवा साध्वी जो संयत, विरत पाप कर्म का हनन करने वाले, तथा भविष्यकाल में पाप के त्यागी है, दिन में या रात में एकाकी अथवा सभा में, सोये का जागृत दशा में—

कीडं वा=कीड़े, लट आदि को। पयंगं वा=पतंगे को। कुंथुं वा=कुंथु को। पिवीलियं वा=चींटी को। हत्थंसि वा=हाथ पर। पायंसि वा=

पैर पर। बाहुंसि वा=भुजा पर। उरूंसि वा=जांघ पर। उदरंसि वा=पेट पर। सीसंसि वा=सिर पर। वत्थंसि वा=वस्त्र पर। पडिग्गहंसि वा=पात्र पर। कंबलंसि वा=कम्बल पर। पायपुच्छणंसि वा=पादप्रोंछन अर्थात् पैर पोंछने के वस्त्र पर। रयहरणंसि वा=रजोहरण पर। गोच्छगंसि वा=पूंजनी पर। उडगंसि वा=स्थंडिल पात्र पर। दंडगंसि वा=दंड या लाठी पर। पीढगंसि वा=चौकी पर। फलगंसि वा=पाटे पर। सेज्जंसि वा=शय्या पर। संथारगंसि वा=छोटे आसन पर। अन्नयरंसि वा=अन्य किसी। तहप्पगारे=इसी प्रकार के। उवगरणजाए=उपकरण पर। तओ=जीव हो, वहां से। संजयामेव=यतनापूर्वक। पडिलेहिय २ = देख-देख कर। पमज्जिय २ = पूंज-पूंजकर। एगंतमवणिज्जा=एकान्त स्थान पर अलग कर दे। नो णं संघाय मावज्जेज्जा=जिससे पीड़ा हो उस प्रकार इकट्ठा करके न रखे।

भावार्थ—

उपरोक्त सूत्र में त्रसकाय की हिंसा से बचने की शिक्षा दी गई है, संयत-विरत आदि गुणों से युक्त साधु-साध्वी दिन में या रात्रि में हर प्रकार की स्थिति में कीट, पतंगा, कुंथु या पिपीलिका आदि त्रसजीव (शरीर के किसी अंग पर) हाथ, पैर, भुजा, वक्ष, जंघा, उदर या सिर ऐसे शरीर के किसी भी अंग पर अथवा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, रजोहरण, गोच्छा, उंडग, (स्थंडिल पात्र) तथा दंड पर, पीठ-चौकी, फलक, पाट, शय्या और संथारक तथा अन्य किसी उपकरण पर कोई जन्तु चला आया हो तो उसको वहां से यतनापूर्वक सम्यक् देखकर और प्रमार्जन कर एकान्त में अलग करे। उनको इकट्ठा करके पीड़ा उत्पन्न नहीं करें। शरीर पर चलते किसी भी जीव को यतना से हटाकर एकान्त में छोड़ दें।

मूल—

अजयं चरमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥१॥

हिन्दी पद्य—

अयत्न से चलने वाला, प्राणो की हिंसा करता है।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है ।।

अन्वयार्थ—

अजयं=अयतनापूर्वक । चरमाणो=चलता हुआ । पाणभूयाइं=प्राणभूत की अर्थात् छोटे बड़े जीवों की हिंसा करता है। बन्धइ पावयंकम्मं=इससे पाप कर्म का वन्ध करता है। तं से=वह पाप कर्म उस प्राणी के लिये। कडुयं फल होइ=कटुक फल देने वाला होता है।

भावार्थ—

अयतना से चलने वाला साधु त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है, क्योंकि जव साधक अगल-वगल में देखते और बात करते चलता है, तब आगे भूमि पर बरावर ध्यान नहीं रहता-परिणाम स्वरूप आने वालों से टकरा जाना, ठोकर खाना और जीवजन्तु पर पैर पड़ना भो सम्भव है। ईर्या में पूरा ध्यान नहीं रहना ही अयतना है। अयतना से चलने पर विकलेन्द्रिय कीट पतंगादि प्राण और भूत वनस्पति जीवों की हिंसा होती है। हिंसा के कारण पाप कर्म का वन्ध होता है और वह कटु फल देने वाला होता है।

▭

मूल—

अजयं चिट्ठमाणो य; पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।२।।

हिन्दी पद्य—

अयत्न से जो खड़ा रहे, प्राणी की हिंसा करता है।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है।

अन्वयार्थ—

अजयं चिट्ठमाणो=अयतना से खड़ा रहता हुआ। पाण भूयाइं हिंसइ=प्राणियों की हिंसा करता है। वन्धइ पावयं कम्मं=इससे पाप कर्म

का वन्ध करता है। तं से कडुयं फलं होइ=जो उसके लिये कटु फलदायी होता है।

भावार्थ—

अहिंसाव्रती को खड़े रहने के लिये भी अविधि का वर्जन करना है, सचित्त पृथ्वी, आदि पर बिना देखे खड़ा रहना, इधर उधर वर्जित स्थानों की तरफ देखते रहना, हाथ पैर की चंचलता करना, यह सब अयतना है, अयतना से खड़े रहने वाला छोटे बड़े जीवों की हिंसा करता है, हिंसा से पाप कर्म का बन्ध होता और उसके कड़वे फल भोगने पड़ते हैं।

▭

मूल—

अजयं आसमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥३॥

हिन्दी पद्य—

यत्न रहित बैठे कोई, प्राणी की हिंसा करता है।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है ॥

अन्वयार्थ—

अजयं आसमाणो य=अयतना से बैठा हुआ। पाणभूयाइं हिंसइ= प्राणियों की हिंसा करता है। बंधइ पावगं कम्मं=इससे पाप कर्म का वन्ध होता है। तं से कडुयं फलं होइ=वह पाप कर्म उस प्राणी के लिये कड़वा फल देने वाला होता है।

भावार्थ—

चलने फिरने की तरह बैठना भी हिंसा का कारण है। बिना देखे जीव जन्तु वाले स्थान में बैठना तथा अंगउपांगों को चंचलता करते बैठना अयतना है। कुर्सी, मंच आदि पर बैठना अयतना का कारण है। अयतना से बैठने वाला त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है। हिंसा से अशुभ कर्म का वन्ध होता हैं, जो लोक और परलोक में कटु फलदायी होता है।

मूल—

अजयं सयमाणो य, पाण भूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलम् ।।४।।

हिन्दी पद्य—

यत्न रहित सोने वाला, प्राणी की हिंसा करता है ।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है ।।

अन्वयार्थ—

अजयं सयमाणो य=अयतना से शयन करता हुआ । पाणभूयाइं हिंसइ=प्राणभूत की अर्थात छोटे वड़े जीवों की हिंसा करता है । बन्धइ पावगं कम्मं=उससे पाप कर्म का वन्ध होता है । तं से होइ कडुअं फलं=जो उसके लिये कटु फलदायी होता है ।

भावार्थ—

अहिंसा व्रत के निर्दोष पालन करने हेतु, अधिक सोना, आसन को विना देखे, विना पूंजे सोना, आलस्य में करवटे वदलते रहना यह अयतना है, अयतना से सोने वाला जूं, खटमल, मच्छर आदि जीवों की हिंसा करता है, हिंसा से पाप कर्म का वन्ध होता जो भवान्तर में कड़वे फल देने वाला होता है ।

▭

मूल—

अजयं भुंजमाणो य, पाण भूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।५।।

हिन्दी पद्य—

यत्न रहित खाने वाला, प्राणी की हिंसा करता है ।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है ।।

अन्वयार्थ—

अजयं भुंजमाणो य=अयतना से भोजन करता हुआ । पाणभूयाइं हिंसइ=प्राणभूत का अर्थात् छोटे वड़े जीवों की हिंसा करता है । बन्धइ

पावयं कम्मं=इससे पाप कर्म का बन्ध करता है। तं से होइ कडुयं फलं=जो उसके लिये कड़वा फलदायी होता है।

भावार्थ—

खाना शरीर के लिये आवश्यक हैं फिर भी उसमें मर्यादा का ध्यान रखना आवश्यक है, भूख से अधिक खाना तमोगुणी-एवं सजीव वस्तु का भक्षण करना, इधर उधर गिराते भोजन करना, भोजन में झूठा डालना, स्वादु पदार्थ खाकर खुशियां मनाना, नीरस भोजन की निंदा करना अविधि है, अयतना है। अयतना से खाने वाला, छोटे वड़े जीवों की हिंसा करता है, उससे पाप कर्म का बन्ध होता है जो समय पर कटु फलदायी होता है।

मूल—

अजयं भासमाणो य, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं; तं से होइ कडुयं फलं ॥६॥

हिन्दी पद्य—

यत्न रहित भाषण करता, प्राणी की हिंसा करता है।
वह बन्ध पाप का करता है, इससे कड़वा फल मिलता है॥

अन्वयार्थ—

अजयं भासमाणो य=अयतना से बोलता हुआ। पाणभूयाइं हिंसइ=प्राणभूत का अर्थात् छोटे वड़े जीवों की हिंसा करता है। बन्धइ पावयं कम्मं=इससे पाप कर्म का बन्ध करता है। तं से होइ कडुयं फलं=जो उसके लिए कटु फलदायी होता है।

भावार्थ—

बोलना लाभकारी है, बोलकर धर्म और नीति का प्रचार किया जाता है किन्तु अविधि से बोला जाय तो वह लाभ के बदले हानि, और अमृत के बदले विष का काम कर जाता है। इसलिये शास्त्रकार कहते है कि अयतना से बोलना हिंसा का कारण है, क्रोध, लोभादिवश होकर झूठ

बोलना, कर्कश, कठोर, और मर्मभेदी बोलना, निन्दा या आक्षेपजनक बोलना अयतना है, अयतना से बोलने वाला त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है, हिंसा से पाप का बन्ध होता है। जो कटु फलदायी होता है।

▭

मूल—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बन्धइ ॥७॥

हिन्दी पद्य—

कैसे चले खड़ा हो कैसे ? कैसे बैठे और शयन करे ?
कैसे खाते भाषण करते, ना पाप कर्म का बन्ध करे ?

अन्वयार्थ—

कहं चरे=कैसे चलें। कहं चिट्ठे=कैसे खड़ा रहे। कहं आसे=कैसे बैठे। कहं सए=कैसे सोए। कहं भुंजंतो=कैसे भोजन करता और। भासन्तो=भाषण करता हुआ। पावकम्मं न बन्धइ=पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है।

भावार्थ—

अयतना से चलने, फिरने, बैठने, खड़े रहने, सोने, बोलने और खाने से जीवों की हिंसा होती है। तब शिष्य कहता है, भगवन् ! फिर अहिंसा-व्रती को कैसे चलना, कैसे खड़े रहना, कैसे बैठना, कैसे सोना, कैसे बोलना और कैसे भोजन करना जिससे अहिंसाव्रत सुरक्षित रहे और पाप कर्म का बन्ध नहीं हो। शिष्य की इस जिज्ञासा का शास्त्रकार स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं—

▭

मूल—

जयं चिरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बन्धइ ॥८॥

हिन्दी पद्य —

यतना से चले खड़ा होवे, यतना से बैठे शयन करे।
यतना से खाये बोले तो, ना पाप कर्म का बन्ध करे ॥

अन्वयार्थ—

जयं चरे=यतना से चले। जयं चिट्ठे=यतना से खड़ा रहे। जयं मासे=यतना से बैठे। जयं सए=यतनापूर्वक सोए। जयं भुंजंतो=यतनापूर्वक खाता हुआ और। भासन्तो=बोलता हुआ। पावं कम्मं न बन्धइ=पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है।

भावार्थ—

अयतना जैसे पाप जनक है, वैसे यतना पापकर्म से बचाने वाली है। शास्त्र कथित विधि से उपयोग पूर्वक चलना, फिरना, खड़ा रहना, भूमि को देखकर बैठना, आसन देखकर यतना से सोना, विधि पूर्वक निर्दोष आहार करना, भाषा समिति की मर्यादा में निर्दोष-शास्त्रानुकूल बोलना यतना है, यतना से उपयोग पूर्वक क्रिया करने से अध्यवसाय शुभ होने से पाप-कर्म का वन्ध नहीं होता। यतनापूर्वक क्रिया करते हुए किसी जीव की हिंसा हो भी जाय तो भाव शुभ होने से अशुभ कर्म का वन्ध नहीं होता।

मूल—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दन्तस्स, पावं कम्मं न बन्धइ ॥९॥

हिन्दी पद—

सब जीवों में आत्मबुद्धि, एवम् सबमें समदर्शी हो।
आस्रवरोधी दान्त श्रमण के, न पाप कर्म का बन्धन हो ॥

अन्वयार्थ—

सव्वभूयप्पभूयस्स = जो सब जीवों अपने समान समझता और सम्मं भूयाइ पासओ=सभी जीवों को सम्यक् प्रकार से देखता है। पिहिया-

सवस्स=आश्रव के द्वार को बन्द करने वाले। दन्तस्स=जितेन्द्रिय आत्मा को। पावं कम्मं न बन्धइ=पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

भावार्थ —

जब तक कषाय का उदय है, प्रतिपल ७-८ कर्मों का बन्ध होता रहता है, ऐसी स्थिति में हमारी आत्मा पाप कर्म से किस प्रकार बच सके, शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य ने कहा—जो संसार के सब जीवों को अपने समान समझता और यह मानता है कि जैसे मेरे पैर में कांटा लगने से वेदना होती है, वैसे अन्य जीवों को भी पीड़ा होती है। इस प्रकार जीव मात्र को आत्मवत् देखता है। फिर कर्मवन्ध के कारण हिंसा झूठ आदि आस्रवों को विरति भाव से रोक रखता है, तथा शब्द रूप स्पर्श आदि इन्द्रिय के विषयों में जो राग नहीं करता, जिसकी मानसिक वृत्तियां भी नियन्त्रित हैं उस साधु को पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

मूल —

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं ॥१०॥

हिन्दी पद्य —

पहले ज्ञान दया पीछे, ऐसा सब मुनिजन कहते हैं।
अज्ञानी क्या कर सकते ? ना अच्छा बुरा समझते हैं ॥

अन्वयार्थ —

पढमं नाणं=पहले ज्ञान और। तओ दया=पीछे दया। एवं=इस प्रकार। सव्व संजए=सभी संयमी। चिट्ठ=रहते हैं। अन्नाणि= अज्ञानी जीव। किं काही=क्या करेंगे। किंवा=नाही सेय पावगं=और पुण्य पाप को कैसे जान सकेगा।

भावार्थ—

जितेन्द्रिय आत्मा पाप कर्म का वन्ध नहीं करता, पूर्व-के इस सूत्र पद में पाप से वचने के लिये क्रिया का महत्व वतलाया है, किन्तु इस गाथा

से समझाया जाता है कि चारित्र ज्ञान पूर्वक होने पर ही लाभकारी होता है। इसलिये कहा है कि पहले ज्ञान और फिर दया, इस प्रकार ज्ञान सहित क्रिया से ही सब संयमी रहते हैं। जिनको जीव अजीव का ज्ञान नहीं है, वे अज्ञानी जीव संयम धर्म का पालन कैसे करेंगे ? वास्तविक ज्ञान के अभाव से कितने ही लोग देव को वलि देने में धर्म मानते, कुछ सूक्ष्म जीवों की हिंसा में पाप ही नहीं मानते। इस प्रकार विना ज्ञान के हित-अहित का वोध कैसे होगा ? इसलिये क्रिया के पूर्व ज्ञान भी आवश्यक है।

मूल—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥११॥

हिन्दी पद्य—

कल्याण कर्म सुनकर जाने, सुन पाप कर्म का ज्ञान करे।
दोनों ही सुनकर समझे नर, फिर श्रेय कर्म में ध्यान धरे॥

अन्वयार्थ—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं=सुनकर कल्याण मार्ग को जानता है। **पावगं**=पाप कर्म को। **सोच्चा जाणइ**=सुनकर जानता है। **उभयंपि**=दोनों मार्गों को। **सोच्चा जाणइ**=सोचकर जानता है। **जं सेयं**=फिर जो कल्याणकारी हो। **तं समायरे**=उस मार्ग का आचरण करे।

भावार्थ—

ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन श्रवण है। पुण्य और पाप का ज्ञान श्रवण से ही होता है, कल्याण की परम्परा में पर्युपासना का प्रथम फल श्रवण वतलाया है। भगवती सूत्र में कहा है कि तथारूप श्रमण की पर्यु-पासना श्रवण-फल वाली होती है। श्रवण १ से ज्ञान २ ज्ञान से विज्ञान फल ३ विज्ञान से प्रत्याख्यान फल ४ प्रत्याख्यान का फल संयम ५ संयम का फल अनास्रव ६ अनास्रव का फल तप ७ तप का फल व्यवदान ८ व्यवदान का फल अक्रिया ९ अक्रिया का फल सिद्धि १० कहा है। श्रवण से ही इन्द्रभूति

आदि विद्वानों ने हृदय का अज्ञान दूर कर १४ पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया। सुनने से ही पुण्य पाप का ज्ञान प्राप्त कर श्रेयो मार्ग को स्वीकार करता है।

▭

मूल—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ।
जीवाजीवे अणायंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

जो जीवों को नहीं जानता, फिर अजीव का ज्ञान नहीं।
जीव अजीव बिना जाने, संयम का होता बोध नहीं।

अन्वयार्थ—

जो जीवे वि न याणेइ = जो जीवों को नहीं जानता है, और। अजीवे वि = अजीव को भी। न जाणइ = नहीं जानता है। जीवाजीवे अयाणंतो = जीव और अजीव को नहीं जानता हुआ। सो = वह। संजमं = संयम धर्म को। कहं नाहिइ = कैसे जान सकेगा।

भावार्थ—

संसारी जीव ६ प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। उनमें सूक्ष्म जीव फूलण, फफूंदी और संमूर्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्य आदि को जानना कठिन है। संयम धर्म के पालक को जीव अजीव को जानना आवश्यक है। जो जीव, अजीव और जीवाजीवों को नहीं जानता वह संयम धर्म को कैसे जानेगा? क्योंकि वह अज्ञान वश, अजीव को जीव समझ लेगा और जीवों को अजीव समझ लेगा, इसीलिए ज्ञान करना जरूरी है।

▭

मूल—

जो जीवे वि वियाणइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

जानता यहां जो जीवों को, एवम् अजीव को भी जाने।
जो जीव अजीव युगल जाने, वह ही नर संयम को जाने॥

अन्वयार्थ—

जो जीवेवि वियाणइ=जो जीवों को जानता है। अजीवे वि वियाणइ=अजीवों को भी जानता है। जीवाजीवे वियाणंतो=जीव और अजीव को जानता हुआ। सो = वह। हु = निश्चय से। संजमं = संयम धर्म को। नाहिइ = जान सकेगा।

भावार्थ—

जो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को जानता और अजीवों को भी जानता है। जीव को जीव रूप से जानने वाला उनकी रक्षा कर सकेगा। किसी के साथ वैर भाव भी नहीं रखेगा, और जिससे किसी को पीड़ा हो, वैसा व्यवहार भी नहीं करेगा। जीव और अजीव को जानने वाला संयम धर्म को वरावर जान सकेगा तथा विधिवत् पालन भी कर सकेगा।

मूल—

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

जब जीवों और अजीवों का, दोनों का ज्ञाता हो जाता।
तब बहु विध गति सब जीवों की, वह बिना कहे अवगत करता॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। जीवमजीवे=जीव और अजीव। दो वि एए वियाणइ=इन दोनों को जान लेता है। तया सव्वजी०=तव सब जीवों की वहुत भेदों वाली। गइँ = नरक तिर्यंच आदि नाना विध गति को भी। जाणइ=जान लेता है।

भावार्थ—

जब जीव और अजीव इन दोनों को बराबर जान लेता है, तब उन जीवों की नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप विविध गतियों को भेद-प्रभेद के साथ जान जाता है। छोटे-बड़े जीवों को जानने के साथ ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होना सहज है कि ये विभिन्न गतियां किसी कारण से प्राप्त होती हैं।

मूल—

जया गइं बहुविहं, सव्व जीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बन्धं मुक्खं च जाणइ ॥१५॥

हिन्दी पद—

जब बहु विध गति सब जीवों की, साधक नर जान यहां लेता।
तब पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष, इनका भी ज्ञान सहज होता॥

अन्वयार्थ—

जया=जब आत्मा। सव्वजीवाण = सभी जीवों की। बहुविहं = बहुत प्रकार की। गइं=नरक तिर्यंच आदि गति को। जाणइ=जान लेता है। तया=तब। पुण्णं च=पुण्य और। पावं च=पाप और। बन्धं=बन्ध को और। मुक्खं च = मोक्ष को भी। जाणइ=जान पाता है।

भावार्थ—

जब सब जीवों की विविध गतियों को जान लेता है, तब विविध गतियों में भव भ्रमण करने के कारणभूत पुण्य कर्म और पाप कर्मों को जान जाता है, पुण्य से सुख और पाप कर्म से दुःख रूप फल होता है। फिर कर्म के बन्ध और मोक्ष को भी जानता है। कर्म का बन्ध मिथ्यात्व आदि कारणों से होता है। बन्ध का कारण नहीं होगा और बन्ध हेतुओं को सर्वथा छोड़ देंगे तो मोक्ष भी सुलभ और स्वयं सिद्ध है।

मूल—

जया पुण्णं च पावं च, बन्धं मुक्खं च जाणइ।
तया निव्विन्दए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

जब पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष, इनको है सहज जान लेता।
तब देव मानवी भोगों पर, तन मन से नहीं ध्यान देता॥

अन्वयार्थ—

जया = जब। पुण्णं च = पुण्य और। पावं=पाप को। बन्धं च= और बन्ध को। मुक्खं च=और मोक्ष को भी। जाणइ=जान लेता है। तया=तब। जे दिव्वे य=जो देव और। जे माणुसे=जो मनुष्य सम्बन्धी। भोए=काम भोग हैं उनको। निव्विदए=असारता को समझ उनसे अरुचि पाता है।

भावार्थ—

जब शुभ योग से होने वाले पुण्य और अशुभ योग से होने वाले पाप को जान लेता है कि भोग किंपाक फल की तरह तत्काल मधुर और परिणाम में दुःखदायी होते हैं। ऐसा जान लेने पर दिव्य और मनुष्य भव सम्बन्धी भोगों से राग छूट जाता है, वैराग्य प्राप्त हो जाता है।

मूल—

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं बाहिरं॥१७॥

हिन्दी पद्य—

जब देव मानुषी भोगों पर, तन मन से ध्यान नहीं देता।
तब बाह्याभ्यंतर ममता को, वह सहज रूप से तज देता॥

अन्वयार्थ—

जे दिव्वे=जो देव सम्बन्धी। य=और। जे माणुसे=जो मनुष्य सम्बन्धी। भोए=काम भोगों की। जया=जब निव्विंदए=असारता समझकर उन पर अरुचि करता है। तया=तब। सब्भिंतर बाहिरं=आभ्यंतर और बाह्य। संजोगं=संयोग को। चयइ=छोड़ देता है।

भावार्थ—

ज्ञान से भोगों को असारता समझकर जब दिव्य और मनुष्य भव के भोगों में विरक्ति होती है, तब बाह्य संयोग-धन, धान्य, पुत्र-मित्रादि तथा आन्तर संयोग-क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का परित्याग कर देता है।

मूल—

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं बाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

जब बाहर भीतर की ममता का, त्याग सहज में कर देता ।
तब मुण्डित होकर इस जग में, साधुता प्राप्त है कर लेता ॥

अन्वयार्थ—

जया=जब । सब्भिंतर बाहिरं=आभ्यंतर और बाह्य । संजोगं=संयोग को । चयइ=छोड़ देता है । तया=तब । मुंडे=द्रव्य और भाव से मुंडित । भवित्ताणं=होकर । अणगारियं=अनगारवृत्ति को । पव्वइए=ग्रहण करता है ।

भावार्थ—

जब धन धान्यादि और क्रोध, लोभादि द्रव्य भाव संयोग का त्याग कर लेता है तब दस प्रकार से-५ इन्द्रिय ४ कषाय और सिर मुंडन से मुंडित होकर श्रमण धर्म को स्वीकार करता है ।

मूल—

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

जब मुण्डित होकर इस जग में, साधुता प्राप्त कर लेता है ।
तब उत्तम धर्म सुसंवर के, पद को वह मुनि पा लेता है ॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। मुंडे=द्रव्य और भाव से मुंडित। भवित्ताणं=होकर। अणगारियं=अनगारवृत्ति। पव्वइए=ग्रहण करता है। तया=तब। उक्किट्ठं=उत्कृष्ट और। अणुत्तरं=सर्वश्रेष्ठ। संवर धम्मं=संवर धर्म को। फासे=स्पर्श करता है।

भावार्थ—

जब द्रव्य से सिर मुंडन और भाव से कषाय मुंडन करके प्रव्रज्या स्वीकार करता है, तब हिंसा, असत्य आदि सम्पूर्ण आस्रव त्याग रूप सर्वश्रेष्ट उत्कृष्ट संवर धर्म को स्पर्श करता है–धारण करता है। इससे सर्वथा पाप कर्म का आस्रव नहीं होता अतः पाप बन्ध से बच जाता है।

मूल—

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

जब उत्तम धर्म सुसंवर के पद को वह मुनि पा लेता है।
तब आत्मिक अज्ञानजन्य कर्माणु दूर कर देता है॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। उक्किट्ठं=उत्कृष्ट और। अणुत्तरं=प्रधान। संवर धम्मं=संवर धर्म को। फासे=स्पर्श करता है। तया=तब। अबोहिकलु०=मिथ्यात्व से उपार्जित। कम्मरयं=कर्म रूपी रज को। धुणइ=झाड़ देता है, अलग कर देता है।

भावार्थ—

उत्कृष्ट संवर धर्म, जो पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य आदि रूप है, जब उसका स्पर्श करता हुआ छठे, सातवें गुणस्थान से १२ वें में यथाख्यात संयम तक पहुँच जाता है। तब अज्ञान और कलुषित भाव से संचित ज्ञानावरण आदि घाति कर्मों की रज को धुनकर अलग कर देता है–याने नष्ट देता है।

मूल—

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

जब आत्मिक अज्ञानजन्य, कर्माणु दूर कर देता है।
तब सार्वत्रिक पूर्ण ज्ञान, और दर्शन को पा लेता है॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। अबोहिकलुसं०=मिथ्यात्व के परिणाम से उपार्जित किये हुए। कम्मरयं=कर्म रूपी रज को। धुणइ=झाड़ देता है, अलग कर देता है। तया=तब। सव्वत्तगं=सभी पदार्थों को जानने वाले। नाणं=केवलज्ञान। च=और। दंसणं=केवल दर्शन को। अभिगच्छइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

जब अज्ञान या कलुषित भाव से पहले संचित किये हुए कर्म रज को आत्मा से अलग कर लेता है, तब आवरण हटने से आत्मा अपने अनंत ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति रूप निज गुणों को प्रगट कर विश्व के चराचर सकल पदार्थों को हस्तामलकवत् केवल ज्ञान से जानता और केवल दर्शन से देखता है। लोकत्रयी का कोई पदार्थ उनसे अज्ञात नहीं होता।

▭

मूल—

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

जब सार्वत्रिक पूर्ण ज्ञान, और दर्शन को पा लेता है।
तब सब लोक अलोक जानकर, जिन केवली हो जाता है॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। सव्वत्तगं=सर्वव्यापी। नाणं=ज्ञान-केवलज्ञान। च=और। दंसणं=केवलदर्शन को। अभिगच्छइ=प्राप्त कर लेता है। तया=तब। जिणो=रागद्वेष को जीतने वाला जिन। केवली=केवली होकर। लोगं=लोक। च=और। अलोगं=अलोक के स्वरूप को। जाणइ=जान लेता है।

भावार्थ—

जब सर्वव्यापी ज्ञान और सर्वव्यापी दर्शन प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्णज्ञानी जिन होकर लोक और अलोक को जानता है। जहां जड़ चेतन रूप अनन्त २ पदार्थ देखे जाते वह लोक और जो शून्यमात्र हो उसे अलोक कहा है। केवलज्ञानी लोक और अलोक के सब पदार्थों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण से जानते देखते हैं। इनको अकषायी होने से सातावेदनीय का ही बन्ध होता है।

मूल—

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥२३॥

हिन्दी पद्य—

जब सब लोक अलोक जानकर, जिन केवली हो जाता है।
तब योगों का रोधन कर, शैलेशी पद पा लेता है॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। जिणो=रागद्वेष के विजेता। केवली=केवलज्ञानी होकर। लोगं च=लोक और। अलोगं=अलोक को। जाणइ=जान लेता है। तया=तब। जोगे=मन वचन और काया के योगों का। निरुंभित्ता=निरोधकर। सेलेसिं=शैलेशीकरण को। पडिवज्जइ=प्राप्त करता है शैल-शिखरवत् पूर्ण अचल स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—

जब घातिकर्मों के क्षय से जिन होकर सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानता है तब मन वाणी और काय के योगों का सम्पूर्ण निरोध करके चौदहवें गुण स्थान में शैल के समान अचल, अकम्प दशा शैलेशीभाव को प्राप्त करता है। इसका स्थिति-काल मात्र 'अ' 'इ' 'उ' 'ऋ' 'ऌ' इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितना होता है।

मूल—

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

जब योगों का रोधन कर, शैलेशी पद पा लेता है।
तब कर्मों का पूर्ण क्षपण कर, नीरज सिद्धि पा लेता है ॥

अन्वयार्थ—

जया=जब। जोगे=मन वचन और शरीर के योगों का। निरुंभित्ता=निरोध करके। सेलेसिं=शैलेशीकरण, शैलवत् स्थिर भावको। पडिवज्जइ=प्राप्त करता है। तया=तब। कम्मं=समस्त कर्मों का। खवित्ताणं=क्षय करके। नीरओ=सम्पूर्ण कर्म रज से रहित होकर। सिद्धिं=मोक्षधाम को। गच्छइ=प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—

जब जीवन का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है, तब योग निरोध करते हुए, सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान की अवस्था में सर्व प्रथम मनोयोग का निरोध करते फिर वचनयोग और काययोग का निरोध करते, आन-पान का निरोध करते हैं और पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल में समुच्छिन्न क्रिय० शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में चारों अघाति कर्मों का क्षय कर लेते हैं, कर्म क्षय करके सर्वथा कर्म रज रहित होकर सिद्धि गति प्राप्त करते हैं।

मूल—

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥२५॥

हिन्दी पद—

जब कर्मों का पूर्ण क्षपण कर, नीरज सिद्धि को पाता है ।
तब लोकाग्र भाग संस्थित, शाश्वत शिव पद पा लेता है ॥

अन्वयार्थ—

जया=जब । कम्मं=समस्त कर्मों का । खवित्ताणं=क्षय करके । नीरओ=सम्पूर्ण कर्म रज से रहित होकर । सिद्धि=मोक्ष में । गच्छइ=चला जाता है । तया=तब । लोगमत्थयत्थो=लोक के अग्र भाग पर स्थित सासओ=शाश्वत । सिद्धो=सिद्ध । हवइ=हो जाता है ।

भावार्थ—

जब वेदनीय, नाम, गौत्र और आयु कर्म का क्षय करके सर्वथा कर्म रज रहित होकर, सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं तब औदारिक, तेजस एवं कार्मण सब छोड़ने योग्य पुद्गल वर्गणा को छोड़कर ऋजु श्रेणी से आकाश क्षेत्र बिना स्पर्श किये एक समय में सकल कर्म का क्षय कर लोक के मस्तक भाग में स्थित होकर शाश्वत काल पर्यन्त शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाते हैं ।

▭

मूल—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स ॥२६॥

हिन्दी पद्य—

सुख के स्वादी साता व्याकुल, निद्रा को जो आदर देते ।
धावन प्रधान जो आरंभी, वे श्रमण सुगति दुर्लभ पाते ।

अन्वयार्थ—

सुहसायगस्स=सुख में आसक्त रहने वाले । सायाउलगस्स=साता सुख हेतु व्याकुल रहने वाले । निगामसाइस्स=अधिक सोने वाले । उच्छो-

लणापहोयस्स=शरीर की शोभा के लिए हाथ पैर आदि को धोने वाले। तारिसगस्स=वैसे। समणस्स = साधु को। सुगइ=शुभ गति मिलना। दुल्लहा=दुर्लभ है।

भावार्थ—

कैसे साधक की सुगति दुर्लभ होती है, इस पर कहते हैं- "जो साधु सुख की इच्छा वाला है, साता सुख के लिए जो मन की अधीरता के कारण सुख के लिए आकुल रहता है, समय से अधिक सोता और मुलायम बिस्तर पर आराम से सोना चाहता है, बार-बार हाथ पैर को धोता और अधिक धोता एवम् पानी का विशेष उपयोग करता उसकी सुगति दुर्लभ होती है।

▭

मूल—

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ, खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स 'सुलहा सुगई' तारिसगस्स ॥२७॥

हिन्दी पद्य—

तप गुण प्रधान ऋजु शुद्ध बुद्धि, जो क्षमा साधना रत मुनिवर।
जो परीषहों के जेता हैं, ऐसों की सद्गति है सुखकर ॥

अन्वयार्थ—

तवोगुण पहाणस्स=तपस्या रूपी गुणो से प्रधान। उज्जुमइ=सरल मति। खंतिसंजमरयस्स=क्षमा और संयम में रमण करने वाले। परीसहे= परीषहों को। जिणंतस्स=जीतने वाले। तारिसगस्स=वैसे साधुकी। सुगई= शुभ गति। सुलभा=सुलभ, सरलता से प्राप्त होती है।

भावार्थ—

जो तप गुण की प्रधानता वाला है, सदा बाह्य एवम् आभ्यन्तर तप करता रहता है, सरल मति वाला और क्षमा एवम् १७ प्रकार के संयम में रमण करता हो, भूख प्यास आदि परिषहों को जीतने वाला हो, कष्ट आने पर कभी घबराता नहीं, वैसे साधक की सुगति सुलभ होती है।

मूल—

पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो, य खंती य बंभचेरं य ॥२८॥

हिन्दी पद्य—

जिनको प्यारा तप संयम है, क्षान्ति और सत्शील प्रधान।
वे पीछे से भी आकर के, पा लेते हैं अमर विमान॥

अन्वयार्थ—

जेसिं = जिनको। तवो=तपस्या। य=और। संजमो=संयम। खंति=क्षमा। च=और। बंभचेरं=ब्रह्मचर्य। पिओ=प्रिय है ऐसे साधक यदि। पच्छावि=पिछली अवस्था में भी। पयाया=साधना मार्ग को स्वीकार करते हों तो। ते=वे। खिप्पं=शीघ्र। अमरभवणाइं=स्वर्गलोक को गच्छंति=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—

पिछली अवस्था में दीक्षा ग्रहण करके भी वे साधक शीघ्र देवभवन को प्राप्त करते हैं, जिनको तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य के सद्गुण प्यारे हैं, वे साधना के स्वरूप देवगति के सुफल प्राप्त करते हैं।

मूल—

इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मदिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं कम्मुणा ण विराहिज्जासि। त्तिबेमि।

हिन्दी पद्य—

इस प्रकार षट्जीव निकाय में, समदृष्टि सदा शुभ यत्न करे।
दुर्लभ श्रमण धर्म पाकर, ना जीव विराधन कर्म करे।

अन्वयार्थ—

इच्चेयं=पूर्वोक्त स्वरूप वाले इस। छज्जीवणियं=षट्जीवनिका के जीव समूह की। सम्मदिट्ठी=सम्यग् दृष्टि साधक। सया=सदा। जए=

यतना करे। दुल्लहं=दुर्लभ। सामण्णं=श्रमण धर्म को। लहित्तुं=प्राप्तकर कम्मुणा=मन वचन काया की क्रिया से। ण विराहिज्जासि=कभी विराधना नहीं करे। त्तिबेमि=श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि जैसा मैंने भगवान् महावीर स्वामी से सुना वैसा ही कहता हूँ।

भावार्थ—

इस प्रकार पूर्व कथित, इस षड्जीवनिका के जीवसमूह की सम्यक्-दृष्टि साधक सदा यतना करे। जिस क्योंकि श्रमण धर्म की प्राप्ति प्रवल पुण्य के उदय और अशुभ कर्म के क्षयोपशम से होती है, अतः दुर्लभ श्रमण धर्म को पाकर तन मन और वाणी से उसकी विराधना-खंडना न हो इसका सदा ध्यान रखना चाहिये।

॥ इति चतुर्थ अध्ययनं समाप्तम् ॥

चतुर्थ अध्ययन की टिप्पणी

छज्जीवणिया (षट्जीवनिकाय)

संसार में समस्त जीव राशि के जीव छः प्रकार के हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेउकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ! आचारांग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में भी यही छः प्रकार बतलाये गये है। परन्तु वहां तेउकाय के पश्चात् वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और फिर वायुकाय कहे गये हैं—वैसे प्रश्न व्याकरण सूत्र के प्रथम अधर्म द्वार में भी पांच भागों में हिंसा रूप अधर्म का स्वरूप और फल बतलाये गये हैं। जो विशेषतः पाठकों के लिये मननीय है।

आचारांग सूत्र में हिंसा के प्रमुख चार कारण बतलाये गये है—१ इस जीवन के लिये, २ मान-सम्मान और पूजा के लिये, ३ जन्म-मरण से छूटने के लिये, ४ दुःख प्रतिकार के लिये। इन चार कारणों से पृथ्वी आदि जीवों का आरम्भ किया जाता है, ज्ञानी के लिये ये आरम्भ जानकर छोड़ने योग्य हैं—

(१) अनेक प्रकार के शस्त्रों से मानव पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता किन्तु उसके आश्रित अन्यानेक जीवों की भी हिंसा करता है। भगवान् ने कहा है कि जो पृथ्वीकायिक जीवों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है और करने वाले का अनुमोदन करता है वह उसके अहित के लिये होती है और उसके अबोधि के लिये होती है। कुछ लोगों को तीर्थंकर भगवान या मुनियों के समीप सुनकर यह ज्ञात होता है कि हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है और नरक है।

पृथ्वी आदि जीवों का जीवन और वेदना का ज्ञान—

पृथ्वीकायिक आदि जीवों के जीवन और वेदना के सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में कहा है कि पृथ्वीकायिक आदि जीव जन्म से इन्द्रिय-विकल मनुष्य की तरह अव्यक्त चेतना वाले होते हैं जैसे—इन्द्रिय-विकल मनुष्य को शस्त्र से अंगों का छेदन-भेदन करने पर कष्टानुभूति होती है, ऐसे पृथ्वीकायिक आदि जीवों को भी होती है। मेधावी पुरुष ऐसा जान-

कर पृथ्वी आदि का आरम्भ नहीं करते, दूसरों से आरम्भ नहीं करवाते, और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते।

(२) पृथ्वीकाय की तरह जलकाय में भी जीवों का अस्तित्व माना गया है। गृहस्थ नाना प्रकार के शस्त्रों से जल सम्बन्धी क्रिया में जलकायिक जीवों की हिंसा करता है। वहां जलकायिक जीवों के अतिरिक्त उनके आश्रित अन्य अनेकों जीवों की भी हिंसा करता है। जैसे–मनुष्य को मूर्छित करने या उसका प्राण वियोजन करने पर उसको कष्टानुभूति होती है, ऐसे ही जलकायिक जीवों को भी कष्टानुभूति होती है।

प्रभु ने कहा है–जल स्वयं जीव रूप है। हे पुरुष ! जलकायिक जीवों के शस्त्रों का चिन्तन कर। जलकायिक जीवों के शस्त्र अनेक प्रकार के हैं–उनका प्रयोग करना, हिंसा और अदत्तादान है। (सूत्र सं० ५७-५८) जैन दर्शन में अप्‌काय के तीन प्रकार कहे गये है–(१) सचित्त–जीव सहित, (२) अचित्त–निर्जीव और, (३) मिश्र–(सचित्त और अचित्त दोनों ही) जलकाय के सात शस्त्र कहे गये हैं–१ उत्सेचन–जल को सींचना, २ गालन–छानना, ३ धोवन–वस्त्रादि धोना, ४ स्वकाय-शस्त्र, ५ परकाय शस्त्र–मिट्टी, तेल, शर्करा, क्षार, अग्नि आदि, ६ तदुभय शस्त्र–भीगी हुई मिट्टी, ७ भावशस्त्र–दुर्भाव। जो लोग शास्त्र का प्रमाण देकर जलकाय की हिंसा करते हैं वे हिंसा के दोष से सर्वथा विरत नहीं होते ! ऐसा जानकर मेधावी पुरुष जलकाय का आरम्भ करता नहीं, दूसरों से कराता नहीं और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता।

(३) अग्निकाय की हिंसा करने वाले, अग्निकायिक जीवों के साथ अन्यानेक जीवों की हिंसा करते हैं जैसे–पृथ्वी, तृण, गोबर और कूड़ा-कचरा आदि के आश्रित अनेक प्राणी रहते है। कुछ सम्पातिम-उड़ने वाले जीव, कीट, पतंगे आदि भी अग्नि का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते, विनष्ट हो जाते है। ऐसा जानकर बुद्धिमान मनुष्य अग्निशस्त्र का आरम्भ करते नहीं, दूसरों से कराते नहीं, और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते। अग्निकाय के आठ शस्त्र कहे हैं–१ मिट्टी, २ जल, ३ आर्द्र वनस्पति, ४ त्रसप्राणी, ५ स्वकाय, ६ परकाय, ७ तदुभय, ८ भावशस्त्र।

(४) वनस्पति और मनुष्य की समानता–यह मनुष्य भी जन्म लेता हैं, वनस्पति भी जन्म लेती है, मनुष्य भी बढ़ता है, और वनस्पति भी बढ़ती है। मनुष्य भी चेतनायुक्त है, वनस्पति भी चेतनायुक्त है। मनुष्य

शरीर के छिन्न होने पर म्लान हो जाता है, वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है। मनुष्य भी आहार करता है, वनस्पति भी आहार करती है, मनुष्य का शरीर भी अनित्य है, और वनस्पति का शरीर भी अनित्य है, मनुष्य का शरीर भी अशाश्वत है, और वनस्पति शरीर भी अशाश्वत है, मनुष्य का शरीर भी आहार से उपचित होता हैं, आहार के अभाव में अपचित, क्षोण व दुर्बल होता है। वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित, अपचित होता है। मनुष्य शरीर भी अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करता है, वनस्पति शरीर भी अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

ऐसा जानकर बुद्धिमान व्यक्ति, वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करते नहीं, दूसरों से कराते नहीं, और करने वालों का अनुमोदन भी करते नहीं।

(५) त्रसकाय–जो दिशा व विदिशाओं में सब ओर भयभीत होवे, उन्हें त्रस कहते हैं–त्रसजीव के आठ भेद बतलाये गये हैं–

(१) अण्डज–अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, मयूर आदि।

(२) पोतज–चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले–हाथी आदि।

(३) जरायुज–गर्भ वेष्टन से झिल्ली के साथ उत्पन्न होने वाले–गाय, भैंस आदि।

(४) रसज–दही आदि में रस बदलने पर जो जीव उत्पन्न होते है जैसे–कृमि आदि।

(५) संस्वेदज–पसीने से उत्पन्न होने वाले–जूं, लींख, खटमल आदि।

(६) सम्मूर्च्छिम–बाहरी हवा और उष्मा के संयोग से उत्पन्न होने वाले मक्खी, मच्छर, कीट आदि।

(७) उद्भिज–भूमि फोड़कर निकलने वाले–कीट, पतंगे आदि।

(८) औपपातिक- बिना गर्भ के उपपात रूप से सहसा उत्पन्न होने वाले देव, नारक आदि।

कई संयमी साधक जीव हिंसा में लज्जा का अनुभव करते हैं, फिर भी हम अनगार हैं, ऐसा कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रों से त्रसकाय

का आरम्भ करते हैं। उसके साथ अन्य अनेक प्राणियों की भी हिंसा करते हैं। भगवान कहते हैं कि जो मनुष्य जीवन के लिये, मान-सम्मान और पूजा के लिये, जन्म-मरण और मुक्ति के लिये, दुःख का प्रतिकार करने के लिये, स्वयं भी त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है, तथा हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी करता है तो यह हिंसा उसके अहित के लिये, अबोधि के लिये होती है।

(६) वायुकाय- साधनाशील पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, उसे अहित मानता हैं, अतः वायुकायिक हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

आचारांग सूत्र के ७वें उद्देशक में वायुकायिक हिंसा, वर्जन के प्रसंग में कहा है कि-जो अपने आपको साधु मानते हुए अनेक प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय का आरम्भ करते है, वे वायुकायिक जीवों का आरम्भ करते हुए अन्य अनेक जीवों की हिंसा करते हैं, (५८) भगवान् ने इस विषय से विवेक बतलाया है कि जो मनुष्य वर्तमान जीवन के लिये, मान सन्मान और महिमा के लिये, जन्म मरण और मोक्ष के लिये, दुःख का प्रतिकार करने के लिये स्वयं वायु-शस्त्र का आरम्भ करता है, दूसरों से आरम्भ करवाता तथा वायुकाय के आरम्भ करने वालों का अनुमोदन करता है। वह हिंसा उसके अहित के लिये होती है, वह अबोधि के लिए होती है।

वायुकायिक जीवों की विराधना से बचने के लिये षट्जीवनिका में दो वचन हैं "न फूमेज्जा न विएज्जा" फूंक नहीं देना और पंखे नहीं चलाना। इसके अतिरिक्त जिन क्रियाओं से वेग से वायु उत्पन्न हो उनमें भी संयम करने की शिक्षा दी गई है · भगवती सूत्र के १६ वें शतक के २ उद्देशक में गौतम ने प्रभु से पूछा कि-शकेन्द्र महाराज सावद्य बोलता है अथवा निरवद्य बोलता है? उत्तर में कहा गया है कि-हे गौतम! जब शकेन्द्र सूक्ष्मकाय-वायु को हाथ अथवा वस्त्र को मुंह से बिना ढांके बोलता है, तब सावद्य भाषा बोलता है। और जब मुख को ढंककर बोलता है तो निरवद्य भाषा बोलता है। सूत्र-८। इससे स्पष्ट हो जाता है कि खुले मुंह से बोलना वायुकाय की विराधना का कारण है।

टिप्पणी-

१. (क) अ० चू० पृ० ७५ पउमिणीमादी उदगपुढविसिणेह संमुच्छणा संमुच्छिमा।

(ख) जि० चू० पृ० १३८ संमुच्छिमा नाम जे विणा वीयेण पुढविवरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेत्ति ।

(ग) हा० टी० पृ० १४० सम्मूर्च्छन्तीति संमूर्च्छिमा:- प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादय: न चैते न संभवति, दग्धभूमावपिसंभवात् ।

२. जि० चू० पृ० १३८ सवीयग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइ काइयस्स बीय पज्जवसाणा दसभेदा गहिया भवन्ति-तंजहा-

मूले कंदे, खन्धे, तया य साले तहप्पवाले य ।
पत्ते पुप्फ य फले बीए, दसमे य नायव्वा ॥

सम्मूर्च्छनज (समुच्छिमा)

बाहरी वातावरण के संयोग मे उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते है । संमूर्छिम मातृ - पितृ हीन प्रजनन हैं । यह सर्दी गर्मी आदि बाहरी कारणों का संयोग पाकर उत्पन्न होता है । सम्मूर्च्छन का शाब्दिक अर्थ है- घना होने, बढ़ने या फैलने की क्रिया । जो जीव गर्भ के बिना उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और फैलते हैं, वे सम्मूर्च्छनज या सम्मूर्छिम कहलाते हैं । वनस्पति जीवों के सभी प्रकार सम्मूर्च्छिम होते हैं फिर भी उत्पादक अवयवों के विवक्षा भेद से केवल उन्हीं को सम्मूर्च्छिम कहा है जिनका बीज प्रसिद्ध न हो । और जो पृथ्वी पानी और स्नेह के उचित योग से उत्पन्न होते हों ।

पिण्डैषणा–पंचमं अज्झयणं
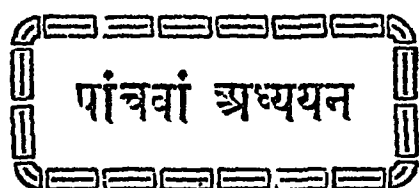
उपक्रम

पंचम अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है, इसके २ उद्देशक और १५० श्लोक हैं। प्रथम उद्देशक में साधु साध्वी के आहार-पानी की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा को विधि वताई गई है। साधु भिक्षा के लिये कव, कैसे और कहां जावे, कैसे मार्ग से जावे, कैसे से नहीं, वतलाया गया है। जाने सम्वन्धी विधि निषेध, आहार ग्रहण के दोष, ५ गाथाओं से धोवन कैसा ले कैसा नहीं, इसका वर्णन करते समय 'अहुणा धौयं" तत्काल के धोये पानी को लेने का निषेध किया है। आचारांग में धोवन के अन्यान्य प्रकार वतलाये हैं। गर्म जल और तथा प्रकार के निर्दोष आहार और अचित्त जल ग्रहण योग्य माना गया है। भिक्षा स्थल और उपाश्रय में आहार करने की विधि में, "इरियावहिया कायोत्सर्ग' गुरु के समक्ष आलोचना, स्वाध्याय–प्रस्थापन, स्वधर्मी साधुओं को निमन्त्रण आदि विचार मननीय हैं।

दूसरे उद्देशक की ५० गाथाओं में पात्र-पोंछकर खाना, भिक्षा अपर्याप्त होने पर दूसरी बार जाने की विधि। यथाकाल भिक्षा आदि में जाने-आने का विधान। आहार ग्रहण के शेष विधि दोष, मादक पदार्थ का निषेध, तप नियम की साधना में भी कपट करने वाले की दुर्गति होती है। कहा है कि जो व्रत-नियम और तप का चोर होता है, वह मरके किल्विषी रूप से उत्पन्न होता है। जैसे–

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे णरे, आयार भावतेणे य, कुव्वइ देव-किव्विसं ॥ दश० ५ ॥ ४६ ॥ आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पिण्डैषणा अध्ययन में विस्तार से पिण्डैषणा का वर्णन किया है, उसको यहां संक्षेप में कथन किया है। भिक्षु भिक्षैषणा की विधि को उत्कृष्ट संयत और

ज्ञानवान से सीखकर संयम और गुणवान होकर विचरे। उदाहरण—चूर्णिकार ने लिखा है कि एक दर्शनार्थी ने किसी कृशकाय साधु से पूछा-तपस्वी महाराज, वह आप ही हैं ? महिमा पूजा के लिये उस साधु ने कहा-हां, अथवा साधु ही तपस्वी होते है, यह तपचोर का नमूना है। वाक्चोर-किसी संघाड़े में कोई धर्मकथी या वादी जैसा साधु था, आगन्तुक ने पूछा-क्या आप धर्मकथी अथवा वादी है ? महिमा पूजा के लिये चुप रहता है, या हां करता है, अथवा बोलता है-साधु ही धर्मकथी और वादी होते है। यह वचन स्तेन, इसी प्रकार रूप स्तेन, आचार स्तेन और भाव स्तेन को समझना चाहिये ॥ जि०चू०पृ० २०४ ॥

मूल—

सम्पत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षाकाल प्राप्त होने पर, आकांक्षा उद्वेग रहित।
भक्त पान को ढूंढे मुनिजन, आगे कहे विधान सहित॥

अन्वयार्थ—

भिक्ख कालम्मि=भिक्षा का समय। संपत्ते=प्राप्त होने पर, साधु। असंभंतो=मन की व्याकुलता एवं उद्वेग से मुक्त। अमुच्छिओ=आहार आदि में मूर्छारहित होकर। इमेण=इस आगे बताई जाने वाली। कम-जोगेण=विधि (क्रम) से। भत्तपाणं=आहार एवं पानी की। गवेसए=गवेषणा करे।

भावार्थ—

साधु जब गृहस्थ के घरों में भिक्षा का समय हो चुका हो तब जल्दबाजी और भोजन में मूर्च्छाभाव न लाते हुए, आगे जो विधि बताई जायगी, उस प्रकार से जाकर आहार पानी की गवेषणा करे। साधु को संयमयात्रा का निर्वाह और शरीर-धारण के लिये ही आहार करना है।

मूल—

से गामे वा णगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

हिन्दी पद—

चाहे ग्राम नगर में हो, भिक्षा लेने को गया श्रमण।
अनुद्विग्न और शान्तचित्त हो, धीरे धीरे करे गमन ॥

अन्वयार्थ—

से मुणी=वह मुनि। गामे वा, नगरे वा=गांव में अथवा नगर में। गोयरग्गगओ=गोचरी के हेतु गया हुआ। अणुव्विगो=उद्वेग रहित। अव्वखित्तेण चेयसा=स्थिर शांतचित्त से। मंदं=मंद गति से। चरे=विधि-पूर्वक चलें।

भावार्थ—

भिक्षा के लिए गया हुआ साधु, गांव और नगर दोनों में उद्वेग और चित्त की चंचलता रहित होकर गांव में उचित वस्तु की प्राप्ति नहीं होगी और नगर में दूर जाना पड़ेगा, इस विचार से मन को उद्विग्न किये बिना मन्द गति से जावे, क्योंकि मुनि के लिये भिक्षाचर्या भी तप है।

मूल—

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

हिन्दी पद्य—

निज शरीर परिमित आगे, धरा देखकर गमन करे।
बीज हरी या प्राण सचित्त, मिट्टी जल का ना हनन करे॥

अन्वयार्थ—

पुरओ=सामने। जुगमायाए=चार हाथ अर्थात् अपने शरीर प्रमाण आगे। महिं=भूमि को। पेहमाणो=देखता हुआ। बीयहरियाइं=बीज तथा

हरि वनस्पति। पाणे य=और बेइन्द्रियादि प्राणी। दगमट्टियं=तथा जल और मिट्टी को। वज्जंतो=वर्जन करता हुआ। चरे=चले।

भावार्थ—

इन दो गाथाओं में बताया जा रहा है कि, साधु को भिक्षा में कैसे चलना चाहिए- सबसे पहले मुनि चलते समय शरीर प्रमाण भूमि को आगे देखते हुए चले, कदाचित् मार्ग में कहीं बीज धान्य के कण-मूंग, मोठ आदि हरे पत्ते और कीड़े मूंगे आदि प्राणी तथा सचित्त जल वा मिट्टी हो तो इनको वर्जन कर चले। विना देखे चलने से जीव हिंसा की सम्भावना हो सकती है।

▭

मूल—

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण ण गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

हिन्दी पद्य—

निम्न भूमि या विषम स्थाणु, और पंकिल-पथ को मुनि छोड़े।
शुभ पथ के होते विषम मार्ग, चल श्रमण न मर्यादा तोड़े॥

अन्वयार्थ—

परक्कमे = दूसरे मार्ग के। विज्जमाणे = विद्यमान होने पर। ओवायं=जिस मार्ग में गड्ढा हो। विसमं=जो मार्ग ऊंचा नीचा हो। खाणुं=जिस मार्ग में कटे हुए छोटे झाड़ के डंठल हों और। विज्जलं= जिस मार्ग में काठ या पत्थर आदि से उल्लंघन करना पड़े, मुनि जन ऐसे मार्ग में। ण गच्छिज्जा=नहीं जावे।

भावार्थ—

कभी मार्ग में चलते हुए गड्ढा, विषम जगह, खाणु और कीचड़ वाला स्थान, मार्ग में हो तो मुनि उसको छोड़ दे। वैसे मार्ग में चलने से गिरने पड़ने का भय रहता है। साधु अच्छा मार्ग होते हुए ईंट-लकड़ी आदि के संक्रम से अर्थात् पुल से गमन नहीं करे। जिस मार्ग में छोटे-बड़े जीवों की अच्छी तरह रक्षा की जा सके वैसे ही मार्ग से गमन करे।

मूल—

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

हिन्दी पद्य—

वह वैसे पथ में गिर पड़े कहीं, या भ्रमवश वहां रपट जाये ।
त्रस अथवा स्थावर प्राणी की, हिंसा विराधना हो जाये ॥

अन्वयार्थ—

से संजए=वह साधु । व=यदि । तत्थ पवडंते=वहां गिरते हुए । व पक्खलंते=अथवा फिसलते हुए । तसे अदुव=त्रस अथवा । थावरे=स्थावर जीवों को । पाणभूयाइं=विकलेन्द्रियादि प्राणियों का । हिंसेज्ज=हनन करेगा ।

भावार्थ—

कुमार्ग से जाने वाला साधु यदि वहां कभी गिर गया अथवा फिसल गया तो हाथ पैर आदि को चोट लगने से आत्मविराधना एवं विकलेन्द्रियादि प्राणी और वनस्पति अथवा त्रसस्थावर जीवों की हिंसा से संयम विराधना का भागी होता है । ऐसे मार्ग में चलने से ईर्या समिति का पालन नहीं हो सकता ।

□

मूल—

तम्हा तेण ण गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अण्णेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥

हिन्दी पद्य—

अतएव अन्य पथ के होते, आराधक मुनि उससे न चले ।
त्रस स्थावर रक्षा के निमित्त, यतनापूर्वक पथ पर विचरे ॥

अन्वयार्थ—

तम्हा तेण=इसलिये उस मार्ग से । सुसमाहिए=उत्तम समाधिवाला । संजए=साधु । अन्नेण मग्गेण=अन्य मार्ग के । सइ=होते हुए, उस मार्ग

से । न गच्छेज्जा=नहीं जावे । कदाचित् अन्य मार्ग न हो तो जयमेव=यतना के साथ । परक्कमे=गमन करे ।

भावार्थ—

उन्मार्ग गमन से आत्मविराधना और संयमविराधना का दोष है, इसलिये उत्तम समाधिवाला साधु अच्छे मार्ग के होते हुए उस मार्ग से नहीं जावे, मार्गान्तर का अभाव होने पर चलना पड़े तो यतना से जावे जिससे जीवों की हिंसा भी न हो और आत्मविराधना से भी बचा जा सके ।

▭

मूल—

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं ण इक्कमे ॥७॥

हिन्दी पद्य—

रज सचित्तमय पैरों से, अंगार, भस्म भूसीचय को ।
अथवा हो गोबर ढेर श्रमण, पथ में न लांघ चले उनको ॥

अन्वयार्थ—

संजओ=संयमी साधु । इंगालं=कोयलों के ढेर को । छारियं रासिं=राख की ढेरी को । तुषरासिं=भूसे के ढेर को । च=और । गोमयं=गोवर को । ससरक्खेहिं=सचित्त धूलि से भरे । पाएहिं=पैरों से । तं=उसको । ण इक्कमे=अतिक्रमण नहीं करे ।

भावार्थ—

साधु सूक्ष्म हिंसा का भी त्यागी होता है, सचित्त जलादि के वर्जन की तरह, साधु अचित्त पदार्थों में कोयले, भस्मी की ढेरी, तुष-धान्य के छिलके और गोबर को सचित्त पृथ्वी के रजकणों से भरे पैरों से साधु उन ढेरों का अतिक्रमण नहीं करे, इस प्रकार गाथा में पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना से बचने का मार्ग बताया गया है ।

▭

मूल—

ण चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए ।
महावाए व वायंते, तिरिच्छ संपाइमेसु वा ॥८॥

हिन्दी पद्य—

बरस रही वर्षा, कुहरा गिरता या आंधी चलती हो।
पथ चले न मुनि टिड्डी दल से, आक्रान्त अगर यह धरती हो॥

अन्वयार्थ—

वासे वासंते=बरसात गिरते समय। वा=अथवा। महियाए=कुहरा के। पडंतिए=गिरते हुए। व महावाये=तथा महावात, आंधी के। वायंते=चलते रहने पर। तिरिच्छं=पतंगादि जीव भूमि पर गिर रहे हों, ऐसी स्थिति में। न चरेज्ज=मुनि भिक्षा को नहीं जावे।

भावार्थ -

भिक्षार्थ जाते समय यदि वर्षा हो रही हो कुहरा गिर रहा हो अथवा महावात याने अंधड चल रहा हो, वैसे समय मुनि भिक्षा को नहीं जावे, तथा मार्ग में छोटे वड़े संपातिम-कीट पतंग आदि जीव हों, तव भी भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये। साधु ६ कारणों से आहार का परित्याग करता है, उसमें एक कारण 'पाणिदया, तवहेउ' प्राणिओं की दया के लिये भी आहार छोड़ना वताया है।

▭

मूल—

ण चरेज्ज वेससामन्ते, बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिया॥९॥

हिन्दी पद्य—

वेश्या पाड़े में ब्रह्मव्रती, भिक्षा को कभी नहीं जाये।
चाहे हो दान्त ब्रह्मचारी, मन में विकार निश्चय आये॥

अन्वयार्थ—

बंभचेर वसाणुए=ब्रह्मचर्य के वश में रहने वाला। वेससामंते=वेश्याओं के मुहल्ले में। ण चरेज्ज=नहीं जावे, क्योंकि। तत्थ=वहां वेश्याओं के मुहल्ले में। दन्तस्स=जितेन्द्रिय। बंभयारिस्स=ब्रह्मचारी को। विसोत्तिया=चित्त की चंचलता। हुज्जा=हो सकती है।

भावार्थ—

साधुओं के शीलधर्म की सुरक्षा के लिये, कहा है कि ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि वेश्याओं के घर के पास नहीं जावे, वहां का वातावरण वासना को जागृत करने वाला होता है। अतः जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी को वेश्याओं के निवास स्थान की ओर जाने से ज्ञानादि सद्भाव के स्रोत सूख जाते हैं। इसलिये-संयम धर्म के लिये वेश्याओं का आवास; योग्य स्थान नहीं है।

मूल—

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

प्रतिकूल जगह में बार बार, भिक्षा हित जाने के कारण।
हो दुःख महाव्रत पालन में, संदिग्ध साधुता का धारण ॥

अन्वयार्थ—

अणायणे=वेश्याओं का मुहल्ला धर्म का आयतन नहीं है अतः। चरन्तस्स=उसमें गमन करने वाले साधु को। अभिक्खणं=बारबार के। संसग्गीए=के संसर्ग से। वयाणं=मुनियों के व्रतों को। पीला, होज्ज= बाधा-पीड़ा हो सकती है। सामण्णम्मि य=और उसके श्रमण जीवन में। संसओ=संशय हो सकता है।

भावार्थ—

साधना विरोधी स्थान में चलने वाले को बार बार संसर्ग करने से स्मरण-दर्शन आदि होते हैं-

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च, क्रियानिवृत्तिरेव च ॥

इसमें बताये गये मैथुन के आठ अंगों में संसर्ग से ब्रह्मव्रत को पीड़ा होती है, व्रत की पीड़ा से संयमी को श्रमण धर्म में सन्देह होने लगता है।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइ-वड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

हिन्दी पद—

अत एव दुर्दशावर्धक इन, दोषों का करके ज्ञान श्रमण।
छोड़े वेश्या के पाड़े को, एकान्त मोक्ष में दे निज मन ॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। दुग्गइवड्ढणं=दुर्गति वढ़ाने वाले। एयं=ऊपर बताए गए इस। दोसं=दोष को। वियाणित्ता=जानकर। एगंतमस्सिए=एकांत मोक्ष मार्ग का अभिलाषी। मुणी=आत्मार्थी मुनि। वेससामंतं=वेश्याओं के मुहल्ले को। वज्जए=जाने आने से वर्जित करे।

भावार्थ—

इसलिए दुर्गति बढ़ाने वाले इस दोष को जान कर एकान्त मोक्षमार्ग का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-वाड़े के समीप न जावे।

मूल—

साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

पागल कुत्ता नवब्याणी गौ, मदमत्त सांड हाथी-घोड़े।
शिशु-क्रीड़ा भूमि कलह झगड़ा, रह दूर श्रमण इनको छोड़े ॥

अन्वयार्थ—

मार्ग की यतना विशेष रूप से वतलाते हैं-

साणं=काटने वाला कुत्ता। सूइयं गाविं=नवप्रसूता गौ। दित्तं, गोणं=मदोन्मत्त बेल। हयं गयं=घोड़ा और हाथी। संडिब्भं=वच्चों के खेलने का स्थान। कलहं=लड़ाई, झगड़ा ऐसे स्थानों को। जुद्धं=शस्त्र से जहां युद्ध हो रहा हो। दूरओ=दूर से ही। परिवज्जए=वर्जन करे।

भावार्थ—

भिक्षा के लिये गया हुआ साधु मार्ग में कुत्ता, नवप्रसूता गौ, उन्मत्त बैल, घोड़ा तथा हाथी हो, बच्चों का क्रीड़ा स्थल, पांच-दस लोग जहां लड़ते हों, मार्ग में युद्ध हो रहा हो, इनको दूर से वर्जन करे। कुत्ते आदि के पास जाने से शरीर को हानि, बच्चों में अप्रीति, लड़ाई में सम्मिलित समझने आदि कारणों से संयमिओं को बचकर चलना ही हितकर है।

▭

मूल—

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ॥
इंदियाणि जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

अत्युच्च नहीं अथवा अवनत, न अति प्रसन्न गत व्याकुलता।
भिक्षादि हेतु विचरे मुनिजन, कर क्रमिक दमन इन्द्रिया-सत्ता ॥

अन्वयार्थ—

मार्ग में चलने की विधि बताते हैं—

मुणी=भिक्षा आदि में चलते समय मुनि। अणुन्नए=अधिक ऊंचे होकर। नावणये=अधिक नीचे होकर नहीं चले। अप्पहिट्ठे=हंसता हुआ न चले। अणाउले=आकुल भाव रहित। इंदियाणि=इन्द्रियों को। जहाभागं=अपने अपने विषय में। दमइत्ता=वश में करके। चरे=गमन करे।

भावार्थ—

साधु गर्दन ऊंची करके या अधिक झुक कर नहीं चले, जिससे घमण्ड या दीनता प्रगट हो, चलते समय हंसने और व्याकुल मन से चलना भी जन-मन में भ्रान्ति करने वाला हो सकता है। अतः साधु इन्द्रियों को अपने २ विषयों में यथायोग्य वश में करके चले।

▭

मूल—

दवदवस्स ण गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हंसंतो णाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया।।१४।।

हिन्दी पद्य—

दौड़ता बोलता तेजी से, भिक्षा में मुनिजन चले नहीं।
कुल उच्च नीच में सदा चले, हंसतें भी जाये कभी नहीं।।

अन्वयार्थ—

गोयरे = भिक्षा में जाते हुए। दवदवस्स = दवदव करते। न गच्छेज्जा=नहीं जावे। हसन्तो=हंसता हुआ। भासमानो=संभाषण करता हुआ। न अभिगच्छेज्जा = नहीं जावे। उच्चावयं=छोटे - बड़े। कुलं = कुलों में। सया=सदा। ईर्या समिति पूर्वक जावे।

भावार्थ—

साधु संयमी है, इसलिए उसका चलना - घूमना भी यतना और विवेक से होना चाहिए। गौ की तरह अनेक घरों से अल्प अल्प पिंड लेने वाला मुनि भिक्षा के हेतु छोटे-वड़े कुलों में जाते समय दवदब करते तेज नहीं चले, हंसता हुआ और बातें करता-बोलता हुआ भी सदा नहीं चले।

मूल—

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य।
चरंतो ण विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए।।१५।।

हिन्दी पद्य—

भिक्षा में गया न मुनि देखे, जाली, दरवाजा सेंध भीत।
जलगृह-शंकित-स्थानों पर, टकटकी लगाना है वर्जित।।

अन्वयार्थ—

चरंतो = चलते समय साधु। आलोयं=भवन के झरोखों को। थिग्गलं=दीवाल के छिद्र को। दारं=दरवाजे को। सन्धि=दो भींत की

सन्धि को। दगभवणाणि य=और पानी रखने के स्थान को। ण विणिज्झाए=दृष्टि जमा कर न देखे। संकट्ठाणं=शंका के स्थान हों, उनको। विवज्जए=दूर से वर्जन करे।

भावार्थ—

साधु जितेन्द्रिय और स्थिरमति होता है। कहा गया है कि वह चलते हुए किसी घर के झरोखे को, सुन्दर द्वार को, दो घरों के बीच की सन्धि और जल रखने के स्थान को दृष्टि जमा कर नहीं देखे। क्योंकि इन सबकी ओर देखने से शंका हो सकती है। अतः संयमी संत शंका स्थान का वर्जन करे।

▭

मूल—

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

राजा गृहपति रक्षक का, होवे जहां रहस्यागार।
क्लेश विवर्द्धक उन पद को, तजे दूर से ही 'अनगार' ॥

अन्वयार्थ—

रण्णो=राजा के। गिहवइणं च=और गृहपतियों के। आरक्खियाण=नगर रक्षक आदि के। रहस्सा=गोपनीय स्थानों को। संकिलेसकरं=तथा, संक्लेशकारी। ठाणं=स्थानों को। दूरओ=दूर से ही। परिवज्जए=वर्जन कर दे।

भावार्थ—

साधु छोटे बड़े सब प्रकार के घरों में जाता है। उनमें राजा, गृहपति-सेठ, और आरक्षकों के घरों में कुछ रहस्य मंत्रणा के स्थान होते हैं, जहां बिना अनुमति के हर कोई नहीं जा सकता। संयमी मुनि दूर से ही वैसे स्थान का वर्जन करे।

▭

मूल—

पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

शास्त्र निषिद्ध घर में न जाये, नहीं कृपण के घर में भी ।
न प्रीति प्रतीति-रहित घर में, जायें हों जहां विचार सभी ॥

अन्वयार्थ—

पडिकुट्ठं=निषिद्ध । कुलं=कुल में । न पविसे=संयमी साधु प्रवेश नहीं करे । मामगं=निषेध करने वाले के यहां । परिवज्जए=नहीं जावे । अचियत्तं=अप्रीतिकारी । कुलं=कुल में । न पविसे=प्रवेश नहीं करे । चियत्तं=प्रीतिकारी । कुलं=कुल में ही । पविसे=प्रवेश करे ।

भावार्थ—

जैन श्रमण का स्थान बड़ा ही गौरवपूर्ण है, वह भिक्षाजीवी होकर भी सामान्य भिक्षाचर की तरह जैसे वैसे मांगकर खाने वाला नहीं है, उसका नियम है कि वह शास्त्र या समाज द्वारा निषिद्ध कुल में व निन्दित कुल में नहीं जाता, जो अपने यहां साधु के आने की ना कहता हो उसके यहां भी नहीं जावे, जहां जाने से अप्रीति हो उस कुल में प्रवेश नहीं करे और जहां जाने से प्रीति हो वैसे घर में ही प्रवेश करे ।

▭

मूल—

साणी-पावारपिहियं, अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणोल्लिजा, ओग्गहं सि अजाइया ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

गृहपति की आज्ञा लिये बिना, ना बन्द कपाट साधु खोले ।
सन आदि रचित पर्दे को भी, वह अपने से न कभी खोले ॥

अन्वयार्थ—

साणी पावार पिहियं=सन आदि के पर्दे से ढंका हो। अप्पणा= वैसे द्वार को स्वयं। णावपंगुरे=नहीं खोले। कवाडं=कपाट को। सि= गृहपति की। उग्गहं=अनुमति। अजाइया=बिना प्राप्त किये। णो=नहीं। पणुल्लिज्जा=खोले।

भावार्थ—

जैन साधु शिष्टाचार का ज्ञाता और विवेकशील होता है। गृहस्थ के घर में प्रवेश करते, कहीं घर का द्वार सन के वस्त्र या टाटी आदि से ढंका हो तो साधु गृहपति की आज्ञा बिना लिये पर्दा नहीं हटावे, और कपाट को भी खुलाकर भीतर प्रवेश नहीं करे। पास में खड़ा भाई बहन स्वयं खोल दे तथा वृक्षलता आदि का संघट्टा न हो तो प्रवेश कर सकता है।

मूल—

गोयरग्गपविट्ठो उ, वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुयं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

मल मूत्र वेग को ना रोकें, भिक्षा में गए हुए मुनिजन।
प्रासुक स्थण्डिल में त्यागे, लेकर गृहस्थ आदेश वचन ॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गपविट्ठो=गोचरी में गया हुआ साधु। वच्चमुत्तं=वर्चोमूत्र-मलमूत्र की शंका। ण धारए=नहीं रक्खे किन्तु। फासुयं=निर्जीव। ओगासं=अवकाश-स्थान। णच्चा=जानकर। अणुण्णविय=वहां अनुमति लेकर। वोसिरे=मलमूत्रादि का विसर्जन करे।

भावार्थ—

गोचरी के लिये जाने वाला साधु, मल मूत्र की शंका को नहीं रोके, कदाचित् ध्यान देते हुए भी कभी चलते मार्ग में शंका हो जाय तो, जीव-जन्तु रहित निर्दोष स्थान जानकर, घर वाले की अनुमति से वहां मलादि

त्याग करे, मल मूत्र को रोकने से शरीर में बाधा पीड़ा होकर असमाधि का कारण होता है।

मूल—

नीयं दुवारं तमसं, कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

नीचे द्वार प्रकाश रहित-कोठे में भिक्षा करे नहीं।
है जहां न आंखों का प्रसार, प्रतिलेखन सम्भव वहां नहीं ॥

अन्वयार्थ—

णीयं दुवारं=नीचे द्वार वाला। तमसं=अन्धकारयुक्त। कुट्ठगं=कोठे में। परिवज्जए=नहीं जावे। जत्थ=जहां पर। अचक्खुविसओ=चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं होता। पाणा=कीट पतंगादि प्राणी। दुप्पडि-लेहगा=वहाँ देखने कठिन होते हैं।

भावार्थ—

जैन साधु जीव दया प्रधान वृत्ति वाले होते हैं, इस दृष्टि से कहा गया है कि जिस घर का दरवाजा अधिक नीचा और अंधकार पूर्ण हो साधु वहां नहीं जावे, क्योंकि वहां चक्षु इन्द्रिय की बराबर पहुंच नहीं होने से कीट पतंगादि सूक्ष्म जीवों को देखना एवं उनकी रक्षा करना कठिन होता है।

मूल—

जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइण्णाइं कुट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

जिस कोठे में हों सचित्त, बिखरे बहुबीज कुसुम नाना।
जो गीला सद्य-लेपों से, मुनि देख करे वर्जित जाना ॥

अन्वयार्थ—

जत्थ=जिस। कोट्ठए=कोठे में। पुप्फाइं=फूल बीयाइं=धान्यादि के बीज। विप्पइण्णाइं=इधर उधर बिखरे हों। अहुणोवलितं=तथा जो तत्काल लीपा हो। उल्लं=और गीला हो, ऐसे स्थान को साधु वर्जन करे। दट्ठूणं=देखकर अर्थात् वहां भिक्षा को न जावे। परिवज्जए=वर्जित करे।

भावार्थ—

षट्काय जीवों का रक्षक साधु-जहां पर सचित फूल, धान्य आदि के बीज घर में बिखरे हो तथा तत्काल का लीपा होने से घर का आंगन गीला हो, वैसा देखकर साधु वर्जन कर दे।

मूल—

एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया ण पविसे, विऊहित्ताण व संजए ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

भेड़ श्वान बछड़ा बालक, या ऐसे ही हो जीव जहां।
ना लांघ और हटा उनको, मुनि कभी प्रवेश न करे वहां ॥

अन्वयार्थ—

कोट्ठए=घर में प्रवेश करते द्वार पर। एलगं=भेड़ या बकरा। दारगं=बालक बालिका। साणं=अथवा कुत्ता हो। वच्छगं=गाय का बछड़ा। वावि=अथवा, अन्य भी कोई प्राणी हो। उल्लंघिया=उनको उल्लंघन करके। विउहित्ताणं=आयतना से उनको हटा करके। संजए=संयमी साधु। न पविसे=प्रवेश नहीं करे।

भावार्थ—

घर के बाहर भेड़, बकरा, बालक, कुत्ता या बछड़ा बैठा हो, अथवा पाड़ा-पाड़ी आदि कोई अन्य प्राणी मार्ग में हो तो उसको उल्लंघन करके

नहीं जाना चाहिये। डर के मारे भेड़ बछड़े आदि भग जावें और कुत्ता काट खावे तो आत्म विराधना और संयम विराधना का दोष होना सम्भव है।

मूल—

असंसत्तं पलोइज्जा, णाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं ण विणिज्झाए, णिअट्टिज्ज अयंपिरो ॥२३॥

हिन्दी पद्य—

आसक्ति रहित होकर देखे, अति दूर नजर दे नहीं देखे।
अप्राप्त दशा में लौट चले, उत्फुल्ल भाव से ना देखे॥

अन्वयार्थ—

असंसत्तं=गृहस्थ के घर में, बिना नजर गडाये। पलोइज्जा=देखे। णाइ दूरावलोए=अधिक दूर दृष्टि नहीं फैलावे। उप्फुल्लं=उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से। ण विणिज्झाए=नहीं देखे, किन्तु। अयंपिरो=बिना कुछ बोले। णिअट्टिज्ज=घर से निकल आवे।

भावार्थ—

मुनि घर में जाकर गृहस्थ की वस्तुओं को नजर गड़ा के नहीं देखे, अति दूर भी नहीं देखे जिससे कि गृहपति को शंका उत्पन्न हो। घर में कोई मनोहर वस्तु देख टकटकी लगाये नहीं देखे! कदाचित् भिक्षा लाभ न भी हो तो बिना बोले लौट जावे।

मूल—

अइभूमिं ण गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

सीमा से आगे बढ़े नहीं, भिक्षार्थ गया हो जहां श्रमण।
घर की मर्यादा भूमि जान, उस सीमा तक ही करे गमन॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गओ=गोचरी के लिये गया हुआ । मुणी=मुनि । अइभूमिं=गृहस्थ के यहां मर्यादित भूमि से आगे । न गच्छेज्जा=नहीं जावे । कुलस्स=कुल की । भूमिं=भूमि सम्बन्धी मर्यादा को । जाणित्ता=जानकर । मियं भूमिं=परिमित भूमि में । परक्कमे=गमन करे ।

भावार्थ—

आहार पानी के लिये गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु मर्यादित भूमि से आगे नहीं जावे । किन्तु घर की मर्यादित भूमि को जानकर, उतने ही मर्यादित क्षेत्र में गमन करे, जिससे गृहपति को किसी प्रकार की अप्रीति उत्पन्न नहीं हो !

मूल—

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥२५॥

हिन्दी पद्य—

जिस भूमि भाग पर खड़ा श्रमण, प्रतिलेखन मात्र करे उसका ।
देखे न भूलकर भी वह मुख, स्नान मूत्र टट्टी घर का ॥

अन्वयार्थ—

तत्थेव=वहां-गृहस्थ के घर में । वियक्खणो=विचक्षण मुनि । भूमिं=उस मर्यादित भूमि को । पडिलेहिज्जा=अच्छी तरह देखें । सिणा-णस्स=स्नान घर । य=और । वच्चस्स=शौच घर की ओर । संलोगं=नजर से देखना । परिवज्जए=वर्जन करें ।

भावार्थ—

विचक्षण मुनि घर की मर्यादित भूमि को अच्छी तरह देखकर खड़ा रहे, किन्तु घर में स्नान घर अथवा शौचालय की ओर नहीं देखे । क्योंकि ये स्थान रागोत्पत्ति के कारण और मन में चंचलता उत्पन्न करने वाले हैं ।

मूल—

दग-मट्टिय-आयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा, सव्विंदियसमाहिए ॥२६॥

हिन्दी पद्य—

जल मिट्टी लाने का पथ जो, और हरित बीज का भी वध है।
हो खड़ा श्रमण उससे हटकर, कारण इन्द्रिय-संयम व्रत है ॥

अन्वयार्थ—

सव्विंदिय=सब इन्द्रियों से। समाहिए=समाधि वाला मुनि। बीयाणि=धन्य आदि के बीज। हरियाणि=हरी दूब आदि। य=और। दग मट्टिय=सचित्त जल और मिट्टी के। आयाणे=स्थान को। परिवज्जंतो=वर्जन करता हुआ। चिट्ठेज्जा=यतना से खड़ा रहे।

भावार्थ—

साधु गृहस्थ के घर में सचित्त जल, मिट्टी रखने के स्थान तथा धान्य के बीज और हरे पत्ते आदि को बचाते हुए सभी इन्द्रियों को वश में रखते हुए यतना से खड़ा रहे। साधु का शांत खड़ा रहना भी गृहस्थ को मूक भाषा में उपदेश का कारण होता है।

मूल—

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं ण गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥२७॥

हिन्दी पद्य—

खड़े वहां उस मुनि के हित में, दाता जो देवे पान-अशन।
यदि अकल्प्य तो ले न उसे, जो कल्प्य उसी को करे ग्रहण ॥

अन्वयार्थ—

तत्थ=उस मर्यादित भूमि पर। चिट्ठमाणस्स=खड़े रहे हुए। से=उस मुनि को, गृहपति। पाण भोयणं=आहार पानी। आहरे=लाकर दें।

अकप्पियं=अकल्पनीय आहार आदि को। ण गिण्हिज्जा=ग्रहण नहीं करे, किन्तु। कप्पियं=कल्पनीय हो तो। पडिगाहिज्जा=ग्रहण कर लें।

भावार्थ—

घर में आये हुये साधु के लिये गृहस्थ आहार पानी लाकर देने लगे तो उनमें जो मुनि धर्म की मर्यादा के अनुसार ग्राह्य हो उसी को ग्रहण करे, यदि कल्प-योग्य नहीं हो तो उसको ग्रहण नहीं करे।

मूल—

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं॥२८॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षा लाने वाली यदि, दे गिरा वहां पर वह भोजन।
उस देने वाली से बोले, मुनि कल्प्य न यह मुझको भोजन॥

अन्वयार्थ—

तत्थ=वहां-घर में। आहरंती=आहार लाने वाली बहन। सिया=कदाचित्। भोयणं=आहार पानी को। परिसाडिज्ज=नीचे गिरा दे तो। दिंतियं=देने वाली को। पडियाइक्खे=निषेध की भाषा में कहे कि,। तारिसं=इस प्रकार का आहार पानी। मे=मुझे। ण कप्पइ=ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

गृहस्थ के घर में आहार देने वाली बहन कदाचित् आहार लाती हुई, भोज्य पदार्थ के अंश को नीचे गिरा दे तो साधु भिक्षा ग्रहण नहीं करे, किन्तु देने वाली बाई से कह दे कि मुझको ऐसा परिशाटित भोजन ग्रहण करना नहीं कल्पता अर्थात् मुझे यह आहार नहीं लेना है।

मूल—

संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजमकरिं णच्चा, तारिसं परिवज्जए॥२९॥

हिन्दी पद्य—

संमर्दन करती प्राणी का, बहु-बीज वनस्पति कायिक का।
यह जान असंयम वाली है, मुनि करे त्याग उस दात्री का॥

अन्वयार्थ—

पाणाणि=विकलेन्द्रिय प्राणियों को। बीयाणि=धान्य के बीजों को। य=और। हरियाणि=हरे पत्ते आदि को। संमद्दमाणी=पैरों से कुचलती हुई भिक्षा देवे तो। असंजमकरिं=असंयम करने वाली बाई को। णच्चा=जानकर। तारिसं=वैसे आहार को। परिवज्जए=साधु वर्जन कर दे।

भावार्थ—

किसी जगह देने वाली बाई कीट पतंगादि प्राणियों, धान्य के बीजों और हरित पत्ते आदि को पैरों से मर्दन करती-कुचलती हुई आहार दे तो उसको असंयम करने वाली जानकर साधु वैसा आहार ग्रहण नहीं करें।

▭

मूल—

साहट्टु णिक्खिवित्ताणं, सचित्तं घट्टियाण य।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया॥३०॥

हिन्दी पद—

संहरण साधु-हित में करके, निक्षेप सचित्त को छू करके।
वैसे सचित्त अप्कायिक को, इच्छा से इधर उधर रखके॥

अन्वयार्थ—

तहेव=उसी प्रकार। समणट्ठाए=साधु के लिये दाता। सचित्तं=सचित्त पदार्थ को। साहट्टु=अचित्त में मिलाकर अथवा। घट्टियाण=संघट्टा करके। य=और। णिक्खिवित्ताणं=सचित्त को अचित्त पर रखकर। उदगं=सचित्त पानी। समणट्ठाए=साधु के लिये। संपणुल्लिया=हिला कर देवे॥

भावार्थ—

इसी प्रकार साधु के लिये, सचित्त पदार्थ को एक पात्र से दूसरे में रखकर, संघट्टा करके अचित्त पर सचित्त को रख के तथा सचित्त पानी इधर उधर हिलाकर आहार देवें (तो वह अकल्पनीय है।)

मूल—

ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाण-भोयणं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥३१॥

हिन्दी पद्य—

वर्षा के जल में कर प्रवेश, देवे आहार तथा पानी।
मुनि कहे गोचरी-दात्री से, ऐसा न कल्प्य भोजन पानी ॥

अन्वयार्थ—

ओगाहइत्ता=सचित्त पानी में प्रवेश करके। चलइत्ता=सचित्त पानी में चलकर। पाण भोयणं=आहार पानी। आहरे=देवे, तो। दिंतियं=देती हुई उस बाई से, साधु। पडियाइक्खे=कहें कि। तारिसं=इस प्रकार का आहार पानी। मे=मुझे। ण=नहीं। कप्पइ=कल्पता है।

भावार्थ—

वर्षा आदि के पानी में घुसकर, तथा पानी में चलकर, आहार लाकर देवे तो मुनि देने वाली से निषेध की भाषा में कह दे, कि मुझे वैसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

मूल—

पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥

हिन्दी पद्य—

पुरः कर्मयुत् हाथों से, चमचा या भोजन-भाजन से।
मुझको न कल्पता है ऐसा, मुनि कहे गोचरी-दात्री से ॥

अन्वयार्थ—

पुरेकम्मेण=देने से पहले जहां सचित्त जल का आरम्भ हो। हत्थेण=ऐसे हाथ से। दव्वीएं=चम्मच से। वा=अथवा। भायणेण=भाजन से। दितियं=आहारादि देने वाली से साधु। पडियाइक्खे=निषेध की भाषा में कहे, कि। मे=मुझको तारिसं=ऐसा पुरः कर्मयुक्त आहारादि। ण कप्पइ=ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

पुरः कर्म वाले हाथ, चम्मच, या वर्तन से आहार देवे तो साधु देने वाली से निषेध करते कहे कि मुझको वैसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

▭

मूल—

एवं उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥३३॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे गिरते जल बिन्दु युक्त, थोड़ा गीला या रज सचित्त।
मिट्टी हरताल क्षार मिट्टी, हिंगुलु और मैनसील अंजन ॥

अन्वयार्थ—

एवं=ऐसे ही। उदउल्ले=सचित्त जल से गीले हाथों से। ससिणिद्धे=गीली रेखा वाले हाथों से। ससरक्खे=सचित्त रज से भरे। मट्टिया=सचित्त मिट्टी। ऊसे=खार। हरियाले=हरताल। हिंगुलए=हिंगलू। मणोसिला=मैनसिल। अंजणे=अंजन। लोणं=सचित्त नमक।

भावार्थ—

ऐसे पुर; कर्म के समान, सचित्त जल से गीले हाथ, गीली रेखा वाले हाथ, सचित्त रज से भरे हुए, सचित्त मिट्टी, ओस (क्षार), हरिताल, हिंगलू, मैनसिल, अंजन और कच्चे नमक से भरे।

▭

मूल—

गेरूय-वण्णिय-सेडिय,-सोरट्ठिय-पिट्ठ कुक्कुस-कए य।
उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोद्धव्वे ॥३४॥

हिन्दी पद्य—

लवण सचित्त मिट्टी पीली, गेरू खड़िया गोपी चन्दन।
तत्काल पिसा आटा कुक्कुस, तुष भुस संपुत कूटा तत्क्षण ॥
फल के काटे टुकड़ों से, हो हाथ तथा पात्रादि सने।
या लिप्त अलिप्त बनाया हो, फिर भी उससे भिक्षा ना लें ॥

अन्वयार्थ—

गेरूय=गेरू। वण्णिय=पीली मिट्टी। सेडिय=सफेद खड़िया मिट्टी। सोरट्ठिए=फिटकरी। पिट्ठ=तत्काल पीसा हुआ शालि का आटा। कुक्कुस=तत्काल कूटे हूए धान, कुक्कुस। उक्किट्ठं=फलों के टुकड़े। चेव=और इनसे। संसट्ठे=हाथ भरे हुये। असंसट्ठे=या बिना भरे। बोद्धव्वे=समझ लेना चाहिये।

भावार्थ—

फिर गेरू, पीली मिट्टी, सफेद खड़िया मिट्टी, फिटकरी, तत्काल पीसा हुआ शालि आदि का आटा, ऊखल में कूटे हुए छिलके, कुक्कुस, फलों के टुकड़े, इनसे हाथ आदि बिना भरे या संसृष्ट भरे हुए समझ लेना चाहिये।

▭

मूल—

असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥३५॥

हिन्दी पद्य—

असंसृष्ट कर से अथवा, कड़छी या वैसे भाजन से।
देती भिक्षा ना ग्रहण करे, हो पश्चात्कर्म जहां तन से ॥

अन्वयार्थ—

असंसट्ठेण=विना भरे-खरड़े । हत्थेण=हाथ । दव्वीए=चम्मच । वा=अथवा । भायणेण=भाजन से । दिज्जमाणं=दिये जाने वाले आहारादि को मुनि । न इच्छेज्जा=लेना नहीं चाहे । जहिं=जहां सचित्त जल आदि का आरम्भ । भवे=सम्भावना हो । पच्छाकम्मं=वहां पश्चात् कर्म का दोष होता है ।

भावार्थ—

जिस भिक्षा लेने के बाद सचित्त जल आदि का आरम्भ हो उसे पश्चात्कर्म दोष कहते हैं । साधु विना भरे हाथ, चम्मच अथवा बर्तन से दी जाने वाली भिक्षा को लेना नहीं चाहे । कारण इसमें पश्चात्कर्म का दोष होता है ।

मूल—

संसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥३६॥

हिन्दी पद्य—

व्यंजनादि से लिप्त हाथ, कड़छी या वैसे भाजन से ।
दी जाती वैसी भिक्षा में, निर्दोष ग्रहण करले मन से ॥

अन्वयार्थ—

संसट्ठेण=देने की वस्तु से भरे हुए । हत्थेण=हाथ । दव्वीए=चम्मच । वा=या । भायणेण=पात्र से । दिज्जमाणं=दिया जाने वाला आहार । जं=जो । तत्थ=वहां । एसणियं=निर्दोष । भवे=हो तो साधु । पडिच्छेज्जा=स्वीकार करे ।

भावार्थ—

जहां भरे हुए हाथ, चम्मच, अथवा बर्तन से दी जाने वाली वस्तु निर्दोष हो तो साधु उसको ग्रहण करे ।

मूल—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं ण इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ।।३७।।

हिन्दी पद्य—

मिलकर दो खाने वालों में, करे निमन्त्रित एक जहां।
ना ले वैसी भिक्षा मुनि, देखे दाता का भाव वहां ।।

अन्वयार्थ—

भुंजमाणाणं=खाने वाले। दोण्हं=दो व्यक्तियों में। तत्थ=वहां। एगो=एक व्यक्ति। निमंतए=निमन्त्रण करे, तो। दिज्जमाणं=साधु दिये जाने वाले आहार को। ण=नहीं। इच्छेज्जा=चाहे। से=उस दूसरे एक के। छंदं=भाव को। पडिलेहए=देखे-समझे।

भावार्थ—

जहां पर दो व्यक्ति साथ खा रहे हो, उतमें एक निमन्त्रण करे तो साधु उस आहार को लेना नहीं चाहते, वे दूसरे व्यक्ति की भावना देखते है, बिना दूसरे की भावना के, सम्मिलित भोजन में से ग्रहण नहीं करें।

मूल—

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ।।३८।।

हिन्दी पद्य—

दो खाने वाले यदि मुनि को, दो साथ-साथ आमन्त्रण दे।
उनमें जो निर्दोष ज्ञात हो, मन से वह स्वीकार करे ।।

अन्वयार्थ—

भुंजमाणाणं=खाने वाले। दोण्हं=दो व्यक्तियों में। दोवि=वे दोनों, इच्छा से। तत्थ=वहां। निमंतए=निमन्त्रण करे। दिज्जमाणं=दिये जाने

वाले भोजन में। एसणियं=जो निर्दोष। भवे=वस्तु हो। पडिच्छिज्जा= उसको मुनि मन से ग्रहण करे।

भावार्थ—

दो व्यक्ति साथ भोजन कर रहे हैं, उनमें दोनों मुनि को निमन्त्रण करे तो दिये जाने वाले आहार में जो निर्दोष हो, उसे मुनि ग्रहण कर सकते हैं।

▭

मूल—

गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥३९॥

हिन्दी पद्य—

गर्भवती के पोषण हित में, निर्मित विविध पान-भोजन।
खाती हो तो वर्जित कर दे, भुक्त-शेष मुनि करे ग्रहण ॥

अन्वयार्थ—

गुव्विणीए=गर्भवती के लिये। विविहं=अनेक प्रकार का। पाण भोयणं=आहार पानी। उवण्णत्थं=बनाया गया पदार्थ। भुंजमाणं=उसके द्वारा खाया जाता हो तो। विवज्जिज्जा=छोड़ दें। भुत्तसेसं=खाने से बचा हो सो। पडिच्छए=ग्रहण करें।

भावार्थ—

गर्भवती के लिये जो अनेक प्रकार का आहार पानी बनाया गया है वह यदि गर्भवती खा रही हो तो छोड़ दे, और खाने से बचा हो वही ग्रहण करें। उसके आवश्यक पोषण में अन्तराय न आवे, इसका ध्यान रखें।

▭

मूल—

सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसण्णा वा पुणुट्ठए ॥४०॥

हिन्दी पद्य—

मुनि हित कोई गर्भवती, जो हो अतिशीघ्र प्रसव वाली।
भिक्षा हित उत्थित वह बैठे, या बैठी फिर हो जाय खड़ी॥

अन्वयार्थ—

सिया=कदाचित्। कालमासिणी=निकट समय वाली। गुव्विणी=गर्भवती बाई। समणट्ठाए=साधु को देने के लिये। उट्ठिआ=खड़ी हुई। निसीइज्जा=बैठ जाय। वा=अथवा। निसण्णा=बैठी हुई। पुणुट्ठए=फिर खड़ी हो जाय।

भावार्थ—

कदाचित् कोई पूरे मास वाली गर्भवती बाई साधु को आहार देने के लिये खड़ी हुई बैठ जावे अथवा बैठी हुई फिर खड़ी हो जावे।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं॥४१॥

हिन्दी पद्य—

उससे मिलने वाला भोजन, मुनि जन को है ग्राह्य नहीं।
मुनि भिक्षा दात्री से बोले, मुझको ऐसा है कल्प्य नहीं॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार पानी। संजयाणं=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, इसलिये। दिंतियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध करते बोले कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

तो साधुओं के लिये वह आहार-पानी अग्राह्य होता है, अतः साधु देने वाली से स्पष्ट कह दे कि वैसा आहार मुझको लेना योग्य नहीं है।

मूल—

थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥४२॥

हिन्दी पद्य—

दूध पिलाती पुत्र-पुत्रियां, रोते छोड़ धरा ऊपर।
नारी देवे अशन-पान तो, मुनि दे उसको वर्जित कर॥

अन्वयार्थ—

दारगं=बालक। वा=अथवा। कुमारियं=बालिका को। थणगं=स्तन। पिज्जेमाणी=पान कराती हुई बाई। तं=उसको। रोयंतं=रोते छोड़ कर। पाण भोयणं=आहार पानी। आहरे=लाकर देवें।

भावार्थ—

पुत्र-पुत्रियों को दूध पान कराती हुई यदि कोई बाई उनको रोते छोड़कर साधु-साध्वी को आहार लाकर देवें तो।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥४३॥

हिन्दी पद्य—

वह अशन-पान मुनि के हित में, होता है निश्चय ग्राह्य नहीं।
मुनि बोले भिक्षा दात्री से, मुझको यह भोजन कल्प्य नहीं॥

अन्वयार्थ —

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है। दिंतियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध करते कहे कि। तारिसं=वैसा आहार। मे=मुझको। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

साधुओं के लिये वह आहार अग्राह्य होता है, इसलिये साधु देने वाली से निषेध करते हुए कहे कि मुझको वैसा आहार नहीं कल्पता है।

मूल—

जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥४४॥

हिन्दी पद्य—

कल्प्य अकल्प्य विषय में शंकित, जो होवे भोजन पानी।
भिक्षा दात्री को मुनि बोले, मुझे न लेना अन्न पानी ॥

अन्वयार्थ—

जं=जो। भत्तपाणं=आहार पानी। कप्पाकप्पम्मि=ग्राह्य-अग्राह्य में। संकिय=शंकायुक्त। भवे=हो, वैसा आहार कोई देवे तो साधु। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध की भाषा में कहे कि। मे=मुझे। तारिसं=ऐसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

जिस आहार के विषय में कल्प्य-अकल्प्य की–सदोष है या निर्दोष वैसी शंका हो, वैसा आहार कोई देना चाहे तो साधु देने वाली से कहे कि, इस प्रकार का आहार मुझको लेना नहीं कल्पता है।

मूल—

दगवारेण–पिहियं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वा वि लेवेण, सिलेसेण वि केणई ॥४५॥

हिन्दी पद्य—

सजल कुम्भ या पिष्ट-शिला से, तथा काष्ठ के पीढे से।
लोढे मिट्टी लेप आदि वा, लाख श्लेष के गोले से ॥

अन्वयार्थ—

दगवारेण=पानी के घड़े से। नीसाए=चाकी से। वा=अथवा। पीढएण=काष्ठ के पीठ से। लोढेण=पीसने के लोढ़े से। पिहियं=ढंका हो। लेवेण=मिट्टी आदि के लेप। वा=अथवा। केणइ=किसी। सिलेसेण=लाख आदि के श्लेप से।

भावार्थ—

अशनादि खाद्य वस्तु यदि पानी के घड़े से, चक्की, काष्ठ पीठ, पीसने का लोढ़ा से अथवा मिट्टी के लेप तथा लाख आदि श्लेष से चिपका कर ढंका हों।

मूल—

तं च उब्भिंदिया दिज्जा, समणट्ठाए व दावए।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥

हिन्दी पद्य—

बंद पात्र का भेदन कर, यदि मुनि के लिये स्वयं देवे।
या दिलवाये तो दात्री को, है कल्प्य नहीं यह साधु कहे॥

अन्वयार्थ—

च=उस ढंके पात्र को। समणट्ठाए=साधु के लिये। दावए=दाता। उब्भिंदिया=खोलकर के आहारादि। देज्जा=देवें तो साधु। दिंतियं= देने वाली से। पडियाइक्खे=निपेध करते कहे कि। मे=मुझको। तारिसं= वैसा आहार, ग्रहण करना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

उसका साधु के लिये उद्भेदन कर दाता देवे तो, देने वाली से साधु कहे कि वैसा आहार मुझे लेना उचित नहीं है।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥४७॥

हिन्दी पद्य—

अशन पान खादिम या स्वादिम, दान हेतु जो रक्षित है।
अगर जान ले या सुन ले तो, वह हो जाता वर्जित है॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन-आहार। पाणगं=द्राक्षापानक आदि। वा=अथवा। खाइमं=खाद्य-मेवा। तहा=तथा। साइमं=स्वादिम-चूर्ण लवंग आदि। जाणेज्जा=जिसको, जाने। वा=अथवा। सुणेज्जा=सुने कि। इमं=यह पदार्थ। दाणट्ठा=दान के लिये। पगडं=बनाया गया है।

भावार्थ—

जो अशन, पानक, खाद्य-मेवा, स्वाद्य-लवंगादि पदार्थ दान के लिये बनाया गया है, ऐसा जाने अथवा सुने तो।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं॥४८॥

हिन्दी पद्य—

फिर वह अशनादि साधुजनों के, हित में होता ग्राह्य नहीं।
दात्री को बोले मुनिवर, है मुझको ऐसा कल्प्य नहीं॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाणं=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, साधु। दिंतियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध की भाषा में कहे कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार, लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

वह आहार पानी साधुओं के लिये अग्राह्य है, अतः साधु देने वाली से निषेध करते कहे कि वैसा आहार मुझको लेना उचित नहीं है।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥४९॥

हिन्दी पद्य—

अशन पान खादिम या स्वादिम, पुण्य हेतु जो निर्मित है।
सुनले या जाने ऐसा तो, वह मुनियों को वर्जित है ॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन-आहार। पाणगं=द्राक्षापानक आदि। वा=अथवा। खाइमं=खाद्य-मेवा। तहा=तथा। साइमं=स्वाद्य के सम्बन्ध में जो। जाणिज्ज=जानें। वा=अथवा। सुणिज्जा=सुन ले कि। इमं=यह आहार। पुण्णट्ठा=पुण्य के लिये। पगडं=बनाया गया है।

भावार्थ—

जो अशन, पानक, खाद्य-मेवा, स्वाद्य-लवंगादि पदार्थ जो पुण्य के लिये बनाया गया हैं, ऐसा जाने अथवा सुने तो!

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥५०॥

हिन्दी पद्य—

फिर वैसा अशनादि साधुओं, के हित में है ग्राह्य नहीं।
दात्री को वहां स्पष्ट कहे मुनि, मुझको ऐसा कल्प्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, साधु। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध की भाषा में कहें कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य है, अतः साधु देने वाली से निषेध करते कहे कि-वैसा आहार मुझको लेना उचित नहीं है।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणीमट्ठा पगडं इमं ॥५१॥

हिन्दी पद्य—

अशन-पान-खादिम या स्वादिम, याचक के (भिक्षुक के) हित उपकल्पित
जाने या सुन ले मुनिवर तो, वह हो जाता है वर्जित ॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन । पाणगं=पानक । वा=अथवा । खाइमं=खाद्य । तहा=तथा । साइमं=स्वादिम । जं=इन पदार्थों में, जो । जाणिज्ज= ऐसा जाने । वा=अथवा । सुणेज्जा=सुन ले । इमं=यह पदार्थ । वणी-मट्ठा=वनीपक अर्थात् याचकों के लिये । पगडं=बनाया गया है ।

भावार्थ—

जो अशन, पानक, खाद्य-मेवा, स्वाद्य-लवंगादि पदार्थ जो वनीपक अर्थात् याचकों के लिये बनाया गया है, ऐसा जाने अथवा सुने तो—

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥५२॥

हिन्दी पद्य—

फिर वह अशन-पान मुनि हित में, रह जाता है कल्प्य नहीं।
ऐसी दात्री को मुनि बोले, मुझको है यह ग्राह्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह । भत्तपाणं=आहार-पानी । संजयाण=साधुओं के लिये । अकप्पियं=अग्राह्य । भवे=होता है, साधु । दिंतियं=देने वाली से । पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि । तारिसं=वैसा आहार, लेना । मे= मुझको । ण कप्पइ=नहीं कल्पता है ।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य है, अतः साधु देने वाली से निषेध करते कहे कि वैसा आहार लेना मुझको नहीं कल्पता है।

▭

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥५३॥

हिन्दी पद—

अशन पान खादिम या स्वादिम, श्रमणों के हित कल्पित है।
मुनि जाने अथवा सुन ले तो, बन जाता वह वर्जित है ॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन। पाणगं=पानक। वा=अथवा। खाइमं=खाद्य। तहा=तथा। साइमं=स्वादिम। जं=जो, साधु ऐसा। जाणिज्जा=जाने। वा=अथवा। सुणिज्जा=सुन ले कि। इमं=यह पदार्थ। समणट्ठा=साधुओं के लिये। पगडं=बनाया गया है।

भावार्थ—

जो अशन, पानक, खाद्य-मेवा, या स्वाद्य आदि पदार्थ जो साधुओं के लिये बनाया गया है, ऐसा जाने अथवा सुने तो–

▭

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥५४॥

हिन्दी पद्य—

फिर तो वह अशनादि साधुओं, के हित होता कल्प्य नहीं।
दात्री को बोले तब मुनि यों, मेरे हित यह ग्राह्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, साधु। दितियं=देने वाली से।

पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि। मे=मुझको । तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य है, अतः साधु देने वाली से निषेध करते कहे कि वैसा आहार मुझको लेना उचित नहीं है।

▭

मूल—

उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥५५॥

हिन्दी पद्य—

औद्देशिक या क्रीत पूति, पर घर सम्मुख जो लाया।
अधिक बना उधार लाया, मिश्रित नहीं ले मुनिराया ॥

अन्वयार्थ—

उद्देसियं=साधु के लिये बनाया गया आहारादि। कीयगडं=खरीद कर लाया हुआ। पूइकम्मं=निर्दोष आहार में आधाकर्म का मिश्रण हो। आहडं=गांव आदि से सामने लाया हुआ हो। अज्झोयर=साधु के लिये अधिक डालकर बनाया हो। पामिच्चं=उधार लिया हुआ आहारादि। मीसजायं=गृहस्थ और साधु के लिये सम्मिलित बना हो। विवज्जए=वैसे आहार आदि का वर्जन करें।

भावार्थ—

जो आहार साधु के उद्देश्य से बनाया हो, साधु के लिये खरीद कर लाया हो, निर्दोष आहार में आधाकर्म का अंश मिला हो, पराये घर से सामने लाया हो, साधु के लिये अधिक डालकर बनाया हो, उधार लाकर दिया जाता हो, साधु और गृहस्थ के लिए सम्मिलित बनाया हो, वैसा आहार आदि का मुनि वर्जन करें। अर्थात् नहीं लें।

▭

मूल—

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सुच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ।।५६।।

हिन्दी पद्य—

अशन आदि का उद्गम पूछे, किसके लिये किया किसने ।
सुनकर शुद्ध तथा निः शंकित, मुनि ले इच्छित चाहे जितने ।।

अन्वयार्थ—

से=आहार की निर्दोषता को जानने के लिए उसके । उग्गमं=उत्पत्ति के विषय में । पुच्छिज्जा=पूछें । कस्सट्ठा=किसके लिये बनाया । वा=या । केण=किसने । कडं=बनाया । सोच्चा=गृहस्थ से सुनकर । निस्संकियं=जो शंका रहित । सुद्धं=शुद्ध ज्ञात हो उसको । संजए=साधु । पडिगाहिज्जा=ग्रहण करें ।

भावार्थ—

आहार की निर्दोषता जानने के लिये उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूछें, यह किसके लिये और किसने बनाया है, क्यों बनाया है ? सुनने के पश्चात् जो शंका रहित शुद्ध ज्ञात हो, उसको साधु ग्रहण करें ।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ।।५७।।

हिन्दी पद्य—

अशन पान खादिम स्वादिम, जो पुष्पों से हों मिले हुए ।
अथवा सचित्त बीज संयुत, या हरित काय से जुड़े हुए ।।

अन्वयार्थ—

असणं=अशन । पाणगं=पानक । वा वि=या । खाइमं=खाद्य-मेवा । तहा=तथा । साइमं=स्वादिम-लवंग आदि । पुप्फेसु=फूलों से । बीएसु=धान्य के बीजों से । हरिएसु=हरे पत्तों से । उम्मीसं=मिश्रित । होज्ज=हो ।

भावार्थ -

अशन, पानक आदि कोई भी प्रकार का आहार जो फूलों, धान्य कणों अथवा हरे पत्ते आदि से मिश्रित हो, तो साधु उस आहार को ग्रहण नहीं करें।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥५८॥

हिन्दी पद्य—

फिर तो वह अशनादि साधुओं, के हित होता ग्राह्य नहीं।
भिक्षा दात्री से मुनि बोले, मुझको यह है कल्प्य नहीं॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, अतः। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध करते हुए कहे कि। मे=मुझे। तारिसं=वैसा आहार। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य होता है अतः देने वाली से निषेध की भाषा मे कहे कि वैसा आहार मुझे लेना नहीं कल्पता है।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥५९॥

हिन्दी पद्य—

अशन पान खादिम या स्वादिम, जल सचित्त पर हो रक्षित।
कीटवास लीलन फूलन पर, होवे तो मुनि को वर्जित॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन। पाणगं=पानक। वा=या। खाइमं=खाद्य। तहा=तथा। साइमं=स्वादिम के पदार्थ। उदगम्मि=सचित्त जल पर।

वा=अथवा। उत्तिगपणगेसु=चीटियों के बिल तथा फूलन पर। निक्खित्तं=रखा हों।

भावार्थ—

अशन-पानक या खाद्य तथा स्वादिम लवंग आदि पदार्थ सचित्त जल पर अथवा चींटियों के बिल तथा फूलन पर रखा हो।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥६०॥

हिन्दी पद्य—

वह अशनादि साधु हित में, हो सकता है ग्राह्य नहीं।
बोले मुनि भिक्षा-दात्री को, मुझको ऐसा कल्प्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, अतः। दिंतियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य होता है। वास्ते देने वाली से कहे कि वैसा आहार मुझको लेना नहीं कल्पता हैं।

मूल—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिया दए ॥६१॥

हिन्दी पद्य—

अशन पान खादिम या स्वादिम, तेजकाय पर हो रक्षित।
अथवा छूकर अग्निकाय को, भिक्षा देना है वर्जित ॥

अन्वयार्थ—

असणं=अशन । पाणगं=पानक । वा=अथवा । खाइमं=खाद्य । तहा=तथा । साइमं=स्वादिम जो । तेउम्मि=अग्नि पर । निक्खित्तं= रक्खे । च=अथवा । तं=उस अग्नि का । संघट्टिया=संघट्टा करके । दए= देवें ।

भावार्थ—

अशन, पानक अथवा खाद्य तथा स्वादिम जो अग्नि पर रक्खे हो, और उस अग्नि का संघट्टा करके देवे—

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥६२॥

हिन्दी पद्य—

वह अशनादि साधु के हित में, रह जाता है ग्राह्य नहीं ।
बोले मुनि भिक्षा-दात्री से, मुझको ऐसा कल्प्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह । भत्तपाणं=आहार-पानी । संजयाणं=साधुओं के लिये । अकप्पियं=अग्राह्य । भवे=होता है, अतः साधु । दितियं=देने वाली से । पडियाइक्खे=निषेध करते हुये कहे कि । मे=मुझको । तारिसं=वैसा आहार । ण कप्पइ=नहीं कल्पता है ।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिए अग्राह्य होता है अतः साधु देने वाली से कहे कि वैसा आहार मुझको लेना नहीं कल्पता हैं ।

मूल—

एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, उव्वत्तिया ओयारिया दए ॥६३॥

हिन्दी पद्य—

इन्धन सरका या बाहर कर, सुलगा या दीप्त बना उसको ।
बुझा, आग पर से उतार, या जल से शान्त करे उसको ॥
अथवा पात्र अशन आदि के, बदल उतार अग्नि पर से ।
दे तो ऐसा भोजन मुनि जन, नहीं भूलकर भी कुछ ले ॥

अन्वयार्थ—

एवं=ऐसे संघट्ट के समान । उस्सक्किया=अग्नि में ईंधन सरका कर । ओसक्किया=जलती लकड़ी को पीछे खींचकर । उज्जालिया=बुझती आग को जलाकर । पज्जालिया=विशेष तेज करके । निव्वाविया=बुझा करके । उस्सिंचिया=आग पर रखे आहार में से वाहर निकालकर । निस्सिंचिया=उफनते शाक आदि में पानी सींचकर । उवत्तिया=सीझते आहार को दूसरे वर्तन में निकालकर । ओयारिया=तथा अग्नि से बर्तन नीचे उतारकर । दए=देवें ।

भावार्थ—

पृथ्वीकाय, वनस्पति और तेजस्काय के जीवों की विराधना से वचाने के लिए इस गाथा में वताया गया है । जलते चूल्हे में लकड़ी सरकाई जावे, पीछे हटाई जावे, अग्नि सुलगावे, जलते आग को तेज करे, बुझावें । पकते हुए भोजन में कुछ निकाले, सींचे, बर्तन उतारे तो मुनि वह आहार नहीं लें । आजकल के इलेक्ट्रिक या गैस के चूल्हे में भी ऐसे समझना ।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥६४॥

हिन्दी पद्य—

कारण वह अशनादि साधु के, हित में होता ग्राह्य नहीं ।
ऐसी भिक्षादात्री को मुनि कहे, हमें यह कल्प्य नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह । भत्तपाणं=आहार-पानी । संजयाण=साधुओं के लिये । अकप्पियं=अग्राह्य । भवे=होता है, अतः साधु । दितियं=देने वाली से । पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि । मे=मुझको । तारिसं=वैसा आहार लेना । ण कप्पइ=नहीं कल्पता है ।

भावार्थ—

वह आहार-पानी साधुओं के लिये अग्राह्य होता है, इसलिये देने वाली से कहे कि वैसा आहार मुझको नहीं कल्पता है ।

मूल—

हुज्ज कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ।।६५।।

हिन्दी पद्य—

लकड़ी शिला ईंट रक्खी हो, आने जाने के हेतु कभी ।
यदि वह चलने फिरने से, डगमग करने लग जाय कभी ।।

अन्वयार्थ –

एगया=कभी वर्षा आदि समय में । कट्ठं=काष्ट । सिलं=पत्थर की शिला । वा=अथवा । इट्टालं=ईंट के टुकड़े । संकमट्ठाए=पानी लांघने को । ठवियं=मार्ग में रखे । हुज्ज=हों । तं च=और वह । चलाचलं=चलविचल अर्थात् अस्थिर हों ।

भावार्थ—

कभी वर्षाकाल में ऐसा रास्ता हो कि जहां लकड़े, शिला अथवा ईंटों के टुकड़े लांघने को रखे हों, और वे चल-विचल हो-स्थिर नहीं हों ।

मूल—

ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदियसमाहिए ।।६६।।

हिन्दी पद्य—

प्रभु ने देखा वहां असंयम, उस पर मुनिवर ना गमन करे।
गहरे पोले पथ पर भी, ना दान्त सन्त संचार करे ॥

अन्वयार्थ—

सव्विंदिय समाहिए=सब इन्द्रियों को वश में रखने वाला। भिक्खू=भिक्षु-साधु। तेण=उस मार्ग से। ण=नहीं। गच्छिज्जा=जावे, क्योंकि। तत्थ=वहां। असंजमो=जीवों का असंयम। दिट्ठो=देखा गया है। गंभीरं=गम्भीर और। झुसिरं=जो मार्ग पोला हो।

भावार्थ—

इन्द्रियों को वश में रखने वाला साधु वैसे मार्ग से नहीं जावे, वहाँ षट्काय जीवों का असंयम देखा गया है। जिस लिये कि वह मार्ग गहरा और पोल वाला है अतः सूक्ष्म जीव देखे नहीं जाते।

मूल—

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठाए दावए ॥६७॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षा दात्री कष्ट उठाकर, सीढ़ी पाटे पीढ़े पर।
खाट और कीलक को ऊंचा, कर चढ़ जाये कोठे पर ॥

अन्वयार्थ—

दावए=दाता। समणट्ठाए=साधु के लिये। निस्सेणिं=निश्रेणि-सीढी। फलगं=पाट। पीढं=पीठे-चौकी। मंचं=माचे को। च=और। कीलं=कीलक को। उस्सवित्ताणं=ऊंचा करके। पासायं=और कोठे पर। आरूहे=चढ़कर आहार लावें।

भावार्थ—

कभी दाता ऊपर रखी हुई वस्तु को देने के लिये, साधु के लिये निश्रेणि, पाट चौकी या खाट को ऊंचा करके कील-काष्ठ खंभ या प्रासाद पर रखी वस्तु लाकर दें।

मूल—

दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए ।
पुढवीजीवे वि हिंसिज्जा, जे य तन्निस्सिया जगे ।।६८।।

हिन्दी पद्य –

मुनि भिक्षा हित ऊंचे चढ़ती, यदि वह भूपर गिर जाये ।
अपने हाथ पैर को निश्चय, इस प्रकार वह तुड़वाये ।।
पृथ्वीकायिक जीव तथा, उस आश्रय के वासी सारे ।
द्वीन्द्रिय आदिक सूक्ष्म जीव, इस विधि सब जायेंगे मारे ।।

अन्वयार्थ—

दुरूहमाणी=चढ़ती हुई कदाचित् । पवडिज्जा=गिर जाय तो । हत्थं=हाथ । व=और । पायं=पैर को । लूसए=चोट लगा लें । पुढवीजीवे=नीचे पृथ्वी के जीवों की । हिंसिज्जा=हिंसा करेगी । जे=और जो । तन्निस्सिया=उस भूमि के आश्रित । जगे=जीव है, उनकी भी हिंसा होगी ।

भावार्थ—

वहां चढ़ते-उतरते कदाचित् हाथ-पैर को चौंट आ जाय तो खुद की विराधना होगी । गिरने से पृथ्वी के जीवों की और उसके आश्रित रहे अन्य सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा हो जायगी ।

▭

मूल—

एयारिसे महादोसे, जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं, ण पडिगिण्हंति संजया ।।६९।।

हिन्दी पद्य—

ऐसे महादोष को मन से, जान जगत के सब ऋषिगण ।
माला पर से लाई भिक्षा, दोष जान ना करें ग्रहण ।।

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये । एयारिसे=इस प्रकार के । महादोसे=आत्मविराधना और जीव विराधना के बड़े दोष को । जाणिऊण=जानकर ।

संजया=संयमवान् । महेसिणो=महर्षि । मालोहडं=मालापहृत-ऊपर या नीचे से लाई हुई। भिक्खं=भिक्षा को । ण=नहीं । पडिगिण्हंति=ग्रहण करते हैं ।

भावार्थ—

इसलिये इस प्रकार स्व पर विराधक महादोष को जानकर संयमवान् महर्षि ऊपर नीचे या तिर्यक् स्थान से मालापहृत भिक्षा को निर्दोष होने पर भी ग्रहण नहीं करते ।

मूल—

कंदं मूलं पलबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं ।
तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए ॥७०॥

हिन्दी पद्य—

कन्द मूल या ताल आदि फल, काटी बथुआ की भाजी ।
सचित्त तूंबे या अदरख हों, मुनि हित में वे हैं वर्ज्य सभी ॥

अन्वयार्थ—

आमं=अपक्व । कंदं=कंद-सूरणकंदादि । मूलं=मूल । वा=अथवा । पलंबं=प्रलम्ब-फल । छिन्नं=कटे हुए । सन्निरं=पत्तों की भाजी । तुंबागं=तुम्बा-घीया । च=और । आमगं=कच्चे-अपक्व । सिंगबेरं=अदरख का । परिवज्जए=वर्जन करें ।

भावार्थ—

यहां पर वनस्पति काय की विराधना से बचने को कंद मूल अथवा अपक्व प्रलम्ब फल और कटी हुई पत्ती की भाजी को तथा शस्त्र परिणत से अतिरिक्त तुम्बा, घीया और अदरक का ग्रहण वर्जित किया गया है । फिर यहां ग्रहण का अभिप्राय अपक्व जमीकंद के ग्रहण का सर्वथा निषेध करना हो सकता है ।

मूल—

तहेव सत्तुचुण्णाइं, कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥७१॥

हिन्दी पद्य —

वैसे सत्तू बैर चूर्ण, तिल पपड़ी तथा माल पूऐ।
गुड़ या अन्य पदार्थ दूसरे, रक्खे दुकान पर जो आये ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=कन्द आदि के समान, साधु। सत्तुचुण्णाइं=सत्तू का चूर्ण। कोलचुण्णाइं=बैर का चूर्ण। सक्कुलिं=तिल पपड़ी। फाणिअं=गीला गुड़। पूयं=पूआ। अन्नं=अन्य भी। तहाविहं=इस प्रकार की। आवणे=दूकान में रखी हों।

भावार्थ—

कंद आदि की तरह कुछ पदार्थ अचित्त होने पर भी अग्राह्य होते हैं, इसके लिये कहा है कि कहीं दुकान में सत्तू का चूर्ण, बैर का चूर्ण, तिल पपड़ी, पतला गुड़ तथा पूआ आदि वैसे अन्य पदार्थ–

मूल—

विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥७२॥

हिन्दी पद्य —

बिक्री हेतु हाट में फैले, फिर भी रज से स्पृष्ट हुए।
भिक्षा दात्री को मुनि बोले, ऐसा मुझको नहीं चाहें ॥

अन्वयार्थ—

विक्कायमाणं=विक्रय के लिये। पसढं=फैला रखी हों। रएण=धूलि कण से। परिफासियं=स्पृष्ट-लिप्त हो। दितियं=देने वाली से मुनि। पडियाइक्खे=कहें कि। तारिसं=वैसा आहार। मे=मुझे लेना। ण कप्पइ=उचित नहीं है।

भावार्थ—

जो विक्रय के लिये दुकान में फैला रखे हो, जिन पर हवा से उड़कर आई वारीक रज जमी हो तो देने वाली से साधु कहे कि वैसा आहार मुझको नहीं लेना है।

मूल—

बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥७३॥

हिन्दी पद्य—

सीताफल और अनन्नास, मुनमा तथा पनस का फल।
तेन्दु बेल गन्ना खण्डों को, और दूसरे हैं सेमल ॥

अन्वयार्थ—

बहुअट्ठियं=बहुत गुठली वाले। पुग्गलं=फल। वा=अथवा। बहुकंटयं=बहुत कांटों वाले। अणिमिसं=अनिमिष अर्थात् अनन्नास के फल। अत्थियं=अत्थिय या आक्षिक फल। तिंदुयं=तेन्दू का फल। बिल्लं=बेल फल। उच्छुखंडं=इक्षु खण्ड अथवा। सिंबलिं=सिंवली फल को।

भावार्थ—

यहां पर बताया गया है कि पके होने पर भी जिनमें फैंकने लायक भाग अधिक हो, वैसे फल नहीं ले। जैसे—बहुत गुठली वाले फल, अथवा बहुत कांटों वाले अनिमिष फल, अस्थिक या अगस्तिया, तेन्दूफल, बिल्लफल, इक्षु खण्ड, अथवा सिंबली—वल्ल धान्य की फलीं।

मूल—

अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झिय धम्मियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥

हिन्दी पद्य—

खाद्य-अंश इनमें थोड़ा हैं, और छोड़ने योग्य बहुल।
ऐसा नहीं कल्पता भिक्षा, दात्री को कहदे अविचल ॥

अन्वयार्थ—

भोयणजाए=खाने का भाग। अप्पेसिया=कम होता है। बहु-उज्झिय धम्मियं=अधिक भाग फेंकने लायक होता है, ऐसा आहार कोई देवे तो साधु। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि। तारिसं=वैसा आहार। मे=मुझे लेना। ण कप्पइ=उचित नहीं है।

भावार्थ—

उपरोक्त फलों का पहले प्रलम्ब शब्द से निषेध हो जाता है, फिर भी इस गाथा में पकाये हुये भी ये फल डालने योग्य भाग अधिक होने से नहीं ले, इस बात को बताने के लिये हैं।

टिप्पणी—

यहां पर बहु अट्ठियं और पुग्गल शब्द से कुछ विद्वान अस्थि और मांस ऐसा करते हैं, किन्तु अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति को देखते वैसा अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता।

मूल—

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए॥७५॥

हिन्दी पद्य —

मेथी, केर असुन्दर सुन्दर, द्राक्षा और गुड़ घट पानी।
भाजो थाली या चावल का, सद्यः धोया नहीं ले पानी॥

अन्वयार्थ —

तहेव=उसी प्रकार-आहार के समान। उच्चावयं=शोभन या अशोभन। पाणं=पानक। अदुवा=अथवा। वारधोयणं=गुड़ के घड़े का धोवन। संसेइमं=आटे की परात का धोवन। चाउलोदगं=चावल का धोवन। अहुणाधोयं=आदि तत्काल का धोया हो तो। विवज्जए=वर्जन कर दें।

भावार्थ—

आहार की तरह पानी द्राक्षा आदि का शोभन और केर, मेथी आदि का अवच, अथवा गुड़ के घड़े, आटे की परात, और चावल का धोवन,

ये सब तत्काल का धोया हो तो ग्रहण नहीं करे, इसमें पूरे फरसने की शंका रहती है।

मूल—

जं जाणेज्ज चिराधोयं, मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च णिस्संकियं भवे ॥७६॥

हिन्दी पद्य—

मति या दर्शन से मुनि जिसको, जाने चिर कालिक धोवन।
सुनकर तथा पूछकर जो हैं, शंका रहित बना धोवन ॥

अन्वयार्थ—

जं=जो पानी। मईए=बुद्धि बल। वा=या। दंसणेण=देखने से। जाणज्ज=जाने कि। चिराधोयं=यह बहुत काल का धोया है। च=और। जं=जो। पडिपुच्छिऊण=पूछकर। वा=अथवा। सुच्चा=सुनकर। निस्संकियं=शंका रहित। भवे=हो।

भावार्थ—

साधु अपनी बुद्धि या दर्शन से जिस जल को बहुत काल का धोया जान ले, और जो पूंछकर एव सुनकर शंका रहित हो जावे।

मूल—

अजीवं परिणयं णच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोयए ॥७७॥

हिन्दी पद्य—

जीव रहित परिणत जल को, जान करे मुनि उसे ग्रहण।
फिर भी शंकित हो तो चखके, निर्णय पूर्वक करे ग्रहण ॥

अन्वयार्थ—

अजीवं=वह जल निर्जीव रूप से। परिणयं=परिणत। णच्चा=जानकर। संजए=संयमी साधु। पडिगाहिज्ज=ग्रहण करें। अह=यदि।

संकियं=शंका युक्त। भविज्जा=हो तो। आसाइत्ताण=आस्वादन करके। रोयए=ज्ञात-निर्णय करें।

भावार्थ—

यह पानी अजीव परिणत हो गया है, ऐसा जानकर साधु ग्रहण करें। यदि उपयोग में आ सकेगा या नहीं ऐसी शंका रहे-तो थोड़ा सा चखकर मालूम करलें। अचित्त होने पर भी यदि पी नहीं सके तो मुनि को गृहस्थ के यहां देखकर समझ लेना चाहिये।

मूल—

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूयं, नालं तण्हं विणित्तए ॥७८॥

हिन्दी पद—

थोड़ा सा हाथों में देना, आस्वादन के हित प्रासुक जल।
यह खट्टा दुर्गन्धित जल, क्या मिटा सके मम प्यास प्रबल॥

अन्वयार्थ—

थोवं=थोड़ा सा जल। आसायणट्ठाए=चखने के लिये। मे=मेरे। हत्थगम्मि=हाथ में। दलाहि=दो। अच्चंबिलं=अधिक खट्टा और। पूयं=दुर्गन्धित जल। मा मे=मुझे नहीं चाहिये। तण्हं=ऐसा जल प्यास को। विणित्तए=मिटाने में। नालं=पर्याप्त नहीं है।

भावार्थ—

दुर्गन्धित धोवन पीने जैसा नहीं तो साधु दाता से कहे-चखने को थोड़ा सा जल मेरे हाथ में दो जरा देखूं, अधिक खट्टा और यह दुर्गन्धित जल मुझे नहीं चाहिये क्योंकि यह प्यास मिटाने में समर्थ नहीं है।

मूल—

तं च अच्चंबिलं पूयं, नालं तिण्हं विणित्तए।
दिंतियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥७९॥

हिन्दी पद्य—

उस अति खट्टे दुर्गन्धित जल को, जिससे मिट सकती प्यास नहीं।
मुनि धोवन दात्री से बोले, यह मेरे हित में उचित नहीं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। अच्चंबिलं=अधिक खट्टा। च=और । पूयं=दुर्गन्धित जल। तिण्हं=प्यास। विणित्तए=मिटाने में। नालं=पर्याप्त नहीं है, अतः साधु। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि। तारिसं=इस प्रकार का धोवन। मे=मुझे। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

देने वाली-से भिक्षु स्पष्ट कह दे कि वह अतिखट्टा दुर्गन्धित जल-प्यास मिटाने में समर्थ नहीं है। इसलिये वैसा जल मुझे नहीं कल्पता है।

मूल—

तं च होज्ज अकामेणं, विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा ण पिवे, नो वि अण्णस्स दावए ॥८०॥

हिन्दी पद्य—

इच्छा बिना विमन से वैसा, लिया गया हो यदि धोवन।
ना पीऐ, दे नहीं अन्य को, साथ लिए जावे धोवन ॥

अन्वयार्थ—

तं च=और वह कदाचित्। अकामेणं=बिना इच्छा के। विमणेण=असावधानी से। पडिच्छियं=लेने में आ गया। होज्ज=हो। तं=वह जल। अप्पणा=स्वयं। ण पिवे=नहीं पीवें। अण्णस्स=अन्य को। वि=भी। नो=नहीं। दावए=देवें।

भावार्थ—

यदि वह पानी इच्छा के बिना विमन भाव से ले लिया गया हो तो मुनि उसे स्वयं पीए नहीं, और दूसरों को पिलावे नहीं। क्योंकि अरुचिकर

दुर्गन्धित उस जल से पीने वाले को वमन आदि असमाधि हो सकती है। अतः दूसरे को भी नहीं देवें।

८०

मूल—

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८१॥

हिन्दी पद्य—

जाकर एकान्त जगह में मुनि, प्रतिलेखन करे अचित्त भू का।
परठे यतना से धोवन को, फिर करे पाठ ईर्यापथ का ॥

अन्वयार्थ—

एगंतं=एकान्त स्थल में। अवक्कमित्ता=जाकर। अचित्तं=अचित्त भूमि की। पडिलेहिया=प्रतिलेखना कर, उस जल को। जयं=यतनापूर्वक। परिट्ठविज्जा = परठ दे। परिट्ठप्प=और परठ कर। पडिक्कमे=प्रतिक्रमण करें।

भावार्थ—

मुनि दुर्गन्धित जल को लेकर एकान्त स्थान में जावें, और अचित्त भूमि को पूंज कर वहां साथ लाये धोवन को परठ दे-त्याग दें। और बाद में ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करें।

८२

मूल—

सिया य गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभोत्तुअं।
कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥८२॥

हिन्दी पद्य—

यदि भिक्षा में गया साधु, भोजन की मन में चाह करें।
तो प्रासुक कोठा भित्ति-मूल, को देख प्रथम वह पात्र धरें॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गगओ=गोचराग्र में गया हुआ साधु। सिया=कदाचित् बीच में ही। परिभोत्तुअं=आहार करना। इच्छिज्जा=चाहे। फासुयं=तो

प्रासुक-जीव रहित । कुट्ठगं=कोठा । वा=या । भित्तिमूलं=दीवाल की आड़ में स्थान की । पडिलेहित्ताण=प्रतिलेखना करके ।

भावार्थ—

गोचरी में गया हुआ साधु कदाचित् वहां कारण वश खाना चाहे तो प्रासुक-कोठा या दीवार की आड़ में जीव रहित स्थान देखकर—

मूल—

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥८३॥

हिन्दी पद्य—

मेधावी मुनि तृण-आवृत, और चारों ओर घिरे घर में ।
निज करका करके परिमार्जन, फिर लग जाये भोजन में ॥

अन्वयार्थ—

मेहावी=बुद्धिमान । संजए=साधु । अणुन्नवित्तु=गृहपति की अनुमति लेकर । पडिच्छन्नम्मि=ऊपर से छाया हुआ स्थान हो । हत्थगं=हाथ को । संपमज्जित्ता=अच्छी तरह पूंजकर । तत्थ=वहां । संवुडे=यतना से । भुंजिज्ज=आहार करें ।

भावार्थ—

गृहपति की अनुमति प्राप्त करके ऊपर से ढंके एवं चारों ओर घिरे घर में अपने हाथ का प्रमार्जन करके फिर भोजन करे ।

मूल—

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया ।
तणकट्ठसक्करं वा वि, अण्णं वा वि तहाविहं ॥८४॥

हिन्दी पद्य—

वैसे घर में खाते मुनि के, यदि कंटक बीज तथा तिनका ।
मुख में आ जाये काष्ट खण्ड, कंकर वा टुकड़ा सीसे का ॥

अन्वयार्थ—

तत्थ=वहां। भुंजमाणस्स=आहार करते हुए। से=उस साधु के पात्र में। सिया=कदाचित्। अट्ठियं=गुठली। कंटओ=कांटा। वा=या। तणकट्ठसक्करं=तृण-काष्ठ तथा शर्करा-कंकरी। वा=अथवा। तहाविहं=उसके समान। अण्णं=अन्य कोई वस्तु निकल आवे।

भावार्थ—

गोचरी गया हुआ साधु कभी कारण वशात् गृहस्थ के कमरे में आहार करे, और उसके मुंह में गुठली, कांटा, तृण, काष्ठ अथवा वालू कण और इस प्रकार का कोई पदार्थ निकल आवे —

▭

मूल—

तं उक्खिवित्तु ण णिक्खिवे,आसएण ण छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊणं, एगंतमवक्कमे ॥८५॥

हिन्दी पद्य—

उसको निकालकर फेंके ना, थूके न कभी ऊंचे मुख से।
लेकर उसको अपने कर से, एकान्त स्थान जावे तन से ॥

अन्वयार्थ—

तं=उस तृण आदि को। उक्खिवित्तु=मुंह से निकाल कर। ण=नहीं। णिक्खिवे=गिरावें। आसएण=मुंह से। ण छड्डए=इधर उधर नहीं थूंके किन्तु। हत्थेण=हाथ से। तं=उसको। गहेऊण=ग्रहण कर। एगंतमवक्कमे=एकान्त स्थान में जावे।

भावार्थ—

तब काष्ठ आदि को मुंह से निकाल इधर उधर नहीं डाले। मुंह से दूर थूंके नहीं किन्तु हाथ में लेकर एकान्त स्थान में चला जावे।

▭

मूल—

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥८६॥

हिन्दी पद्य—

एकान्त अचित्त भूमि में जा, उनको फिर भली भांति देखे।
यतना से उन्हें भूमि में दे, घर आ ऐर्यापथिक करें॥

अन्वयार्थ—

एगंतं = एकान्त में। अविक्कमित्ता=जाकर। अचित्तं=अचित्त स्थल का। पडिलेहिया=प्रतिलेखन करे। जयं=फिर यतना से। परिट्ठविज्जा=परिस्थापन करे। परिट्ठप्प=और परिष्ठापन कर। पडिक्कमे=प्रतिक्रमण करे।

भावार्थ—

एकान्त में जाकर अचित्त-निर्जीव स्थान की प्रतिलेखना करे, फिर वहां यतना से काष्ठ आदि को परठ दे, परठ कर-डालकर कायोत्सर्ग द्वारा प्रतिक्रमण करें।

मूल—

सिया य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जामागम्म भुत्तु अ।
सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिया ॥८७॥

हिन्दी पद्य—

वासस्थान में आकार मुनि, खाने का मन में भाव करें।
भोजन की जगह देख लेवे, भिक्षा भाजन वह पास धरे॥

अन्वयार्थ—

सिया य=और कदाचित्। भिक्खू=भिक्षु। सिज्जामागम्म=शय्या-निवास स्थान में आकर। भुत्तुअं=खाना। इच्छिज्जा=चाहे तो। सपिंडपायं=आहार और पात्र सहित। आगम्म=शय्या में आकर। उंडुअं=स्थान को। पडिलेहिया=प्रतिलेखन करें।

भावार्थ—

कदाचित् भिक्षु वास स्थान में आकर ही खाना चाहे तो भिक्षा पात्र को लेकर आवे और विनय पूर्वक स्थान का प्रतिलेखन कर पात्र धरें।

मूल—

विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरूणो मुणी ।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

हिन्दी पद्य—

विनय सहित भीतर आकर, गुरू के समीप आकर बोले ।
इरियावहिया का पाठ करे, फिर मार्ग शुद्धि मनमें तोले ॥

अन्वयार्थ—

विणएणं=विनय के साथ । पविसित्ता=प्रवेश करके । गुरूणो=गुरुदेव के । सगासे=समीप में । आगओ=आकर । मुणी=मुनी । इरियावहियं=ईर्या पथ की । आयाय=आलोचना करके । पडिक्कमे=प्रतिक्रमण करें ।

भावार्थ—

और गुरुदेव के समीप ईर्यावहिया के पाठ से आलोचना प्रतिक्रमण करे । अर्थात् भिक्षा काल में लगे दोषों की शुद्धि करे । उसकी विधि इस प्रकार है ।

मूल—

आभोइत्ताण नीसेसं, अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे य संजए ॥८९॥

हिन्दी पद्य—

संयत-मुनि आने जाने, और अशन-पान को लेने में ।
हो शुद्ध लगे अतिचारों से, क्रमशः उनका चिन्तन मन में ॥

अन्वयार्थ—

संजए=संयमी साधु । गमणागमणे=गमनागमन । चेव=और । भत्तपाणे=आहार-पानी ग्रहण करने में, जो भी दोष लगे हों । नीसेसं=उन सब । अइयारं=अतिचार दोषों का । जहक्म्मं=यथाक्रम से । आभोइत्ताण=चिन्तन करें ।

भावार्थ—

भिक्षा से आकर मुनि गुरु के पास जब आलोचना करता है तो आहार पानी के ग्रहण और आने जाने में जो भी कोई दोष लगा हो उसका उपयोगपूर्वक चिन्तन करके सबको प्रगट करें।

मूल—

उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो, अवक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥९०॥

हिन्दी पद्य—

सरल बुद्धि अव्याकुल, मुनिशांत हृदय धारण करके।
कर आत्मालोचन गुरु समीप, जो ग्रहण किये जैसे जिनके॥

अन्वयार्थ—

उज्जुप्पण्णो=सरल मनःवाला। अणुव्विग्गो=उद्वेगरहित साधु। अवक्खित्तेण=विक्षेप-चंचलता रहित। चेयसा=चित्त से। गुरुसगासे=गुरु की सेवा में। जं जहा=जो जिस प्रकार। गहियं=ग्रहण किया। भवे=हो। आलोए=उसी प्रकार–यथार्थ आलोचना करें।

भावार्थ—

मन में कोई छिपाने का विचार नहीं लावे, सरल मन से चंचलता रहित हो जो जिस प्रकार लिया हो, साफ-साफ कह दें।

मूल—

ण सम्ममालोइयं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ॥९१॥

हिन्दी पद्य—

सम्यक् हुई नहीं आलोचना, आगे पीछे कृत-दोषों की।
फिर प्रतिक्रमण करले उनका, संस्मृति करके इस गाथा की॥

अन्वयार्थ—

जं=जो आलोचना। सम्म=सम्यक् प्रकार से। ण=नहीं की हो। व=अथवा। पुव्विपच्छा=आगे पीछे। कडं=कहा हो। तस्स=उसके लिये। पुणो=फिर। पडिक्कमे=प्रतिक्रमण करे। वोसट्ठो=और कायोत्सर्ग करके। इमं=इस प्रकार। चिंतए=चिन्तन करे।

भावार्थ—

कोई दोष रह न जाय इस भावना से साधु जिस दोष की सम्यक् आलोचना नहीं की हो अथवा जो आगे पीछे कहा गया हो, उसके लिये फिर प्रतिक्रमण करे और कायोत्सर्ग करके इस प्रकार चिन्तन करें।

▭

मूल—

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥९२॥

हिन्दी पद्य—

अहो! जिनेश्वर के द्वारा, मोक्षार्थ साधु तन धारण को।
है दिया गया उपदेश दोष से, रहित धर्म के पालन को॥

अन्वयार्थ—

अहो=अहो। जिणेहिं=जिनेश्वर देव ने। मोक्खसाहणहेउस्स=मोक्ष साधन के निमित्त। साहु देहस्स=एवं साधुओं के देह धारण के लिये। साहूण=साधुओं को। असावज्जा=कैसी-निर्दोष। वित्ती=वृति। देसिया=बतलाई है।

भावार्थ—

कायोत्सर्ग में स्थित मुनि सोचता है कि अहो परम दयालु जिनेश्वर देवों ने मोक्ष साधन में सहायक साधु के शरीर के धारण एवं पोषण के लिये कैसी निर्दोष वृति बतलाई है कि साधु शरीर का भरण-पोषण भी करले और पाप के दोष से भी बचा रहे।

▭

मूल—

णमोक्कारेण पारेत्ता, करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥९३॥

हिन्दी पद्य—

णमुक्कार का पद कहकर, मुनि कायोत्सर्ग समाप्त करे ।
कर जिनस्तव स्वाध्याय करे, फिर क्षण भर का विश्राम करे ॥

अन्वयार्थ—

णमोक्कारेण=नवकार 'नमो अरिहंताण' पद से । पारेत्ता=कायोत्सर्ग का पालन करे, फिर । जिण संथवं=जिनेन्द्र स्तुति अर्थात् चौबीस तीर्थकरों की स्तुति रूप - लोगस्स का । करित्ता=पाठ करें । सज्झायं=स्वाध्याय का । पट्ठवेत्ताणं=पाठ-उच्चारण करके । मुणी=मुनि । खणं=क्षण भर के लिये । वीसमेज्ज=विश्राम करें ।

भावार्थ—

कायोत्सर्ग में चिन्तन के पीछे मुनि "नमो अरिहंताण" बोलकर कायोत्सर्ग को पूर्ण करे, फिर जिनेन्द्र स्तुति रूप लोगस्स पाठ का उच्चारण करे, और स्वाध्याय का प्रस्थापन कर क्षण भर के लिये विश्राम करे ।

मूल—

वीसमंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू होज्जामि तारिओ ॥९४॥

हिन्दी पद्य—

लाभार्थी विश्राम घड़ी में, चिन्तन हितकारी करले ।
सोचे, भवसागर पार करूं, यदि करें अनुग्रह मुनि कुछ ले ॥

अन्वयार्थ—

लाभमट्ठिओ=ज्ञानादि के लाभ का अर्थी । साहू=साधु । वीसमंतो=विश्राम करता हुआ । हियमट्ठं=आत्म हित के लिये । इमं=ऐसा । चिंते=

सोचे कि। जइ=यदि साधुजन। मे=मेरे पर। अणुग्गहं=अनुग्रहणा करे-आहार ग्रहण। कुज्जा=करे तो मैं। तारिओ=भव जल से पार। होज्जामि=हो जाऊं।

भावार्थ—

लाभार्थी मुनि आहार सेवन करने के पहले विश्राम करता हुआ, आत्म हित के लिये ऐसा चिन्तन करे कि यदि मेरे लिये प्राप्त आहार में से संत कुछ अनुग्रह करें तो मैं भवसागर पार हो जाऊं।

▭

मूल—

साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए॥९५॥

हिन्दी पद्य—

हर्षित मन मुनि साधुजनों को, क्रम से आमन्त्रण देवें।
यदि चाहे उनमें जो लेना, तो साथ उन्हीं के खा लेवे॥

अन्वयार्थ—

चियत्तेणं=चिन्तन के पश्चात्। साहवो तो=प्रसन्नता पूर्वक साधुओं को। जहक्कमं=छोटे बड़े क्रम से। निमंतेज्ज=निमन्त्रण करे। जइ=यदि। तत्थ=उन साधुजनों में। केइ=कोई। इच्छेज्जा=खाना लेना चाहे। तु=तो। तेहिं=उनके साथ। सद्धिं=प्रेम पूर्वक। भुंजए=भोजन करें।

भावार्थ—

चिन्तन के बाद प्रसन्नता पूर्वक यथाक्रम से सब साधुओं को निमंत्रण करे। उनमें कोई मुनि चाहे तो उनके साथ प्रेम से भोजन स्वीकार करें।

▭

मूल—

अह कोइ ण इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एगओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसडियं॥९६॥

हिन्दी पद्य—

अगर नहीं चाहे कोई तो, करे अकेला ही भोजन।
प्रकाश वाले भाजन में, रख ध्यान न गिरे वहां भोजन॥

अन्वयार्थ—

अह=कदाचित्। कोइ=कोई लेना। ण इच्छेज्जा=नहीं चाहे। तओ=तो। साहू=साधु। एगओ=एकाकी। आलोए=प्रकाश वाले। भायणे=पात्र में। जयं=यतना के साथ। अपरिसाडियं=नीचे नहीं गिराते हुए। भुंजेज्ज=आहार करे।

भावार्थ—

कदाचित् कोई भिक्षु रूचि के कारण साथ खाना नहीं चाहे तो साधु प्रकाश वाले पात्र में यतना के साथ नीचे इधर-उधर नहीं गिराते हुए एकाकी भोजन कर लें।

मूल—

तित्तगं व कडुयं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एयलद्धमण्णट्ठपउत्तं, महुघयं व भुञ्जिज्ज संजए॥९७॥

हिन्दी पद्य—

तीखा कड़वा और कषैला, मधुर अम्ल नमकीन तथा।
साधु निमित्त दिया विधि से तो, मधु-घृत सम ले बिना व्यथा॥

अन्वयार्थ—

तित्तगं=आहार तीखा हो। व=अथवा। कडुयं=कड़वा। कसायं=कपायला। अंबिलं=खट्टा। महुरं=मीठा। वा=या। लवणं=नमकीन भोजन। अण्णट्ठपउत्तं=जो गृहस्थ के लिये बना हो। एयलद्धं=विधि से प्राप्त उस भोजन को। संजए=साधु। महुघयं=मधु और घी की तरह। भुंजिज्ज=शान्त मन से सेवन करले—खा ले।

भावार्थ—

साधु तीखा, कड़वा, कपायला, खट्टा, मीठा या नमकीन किसी प्रकार का भोजन हो जो गृहस्थ के लिये बना और विधि पूर्वक प्राप्त हो उसको मधु और घृत की तरह शान्त भाव से खाले।

मूल—

अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं,मंथुकुम्मास-भोयणं ॥९८॥

हिन्दी पद्य—

अरस विरस अथवा बघार से, युक्त अयुक्त बना वैसा।
बेर चूर्ण बाकुला उड़द का, भोजन आर्द्र शुष्क जैसा॥

अन्वयार्थ—

अरसं=(विधि से प्राप्त भोजन) अरस - नीरस हो। वा=अथवा। विरसं=वीरस-पुराणा धान। सूइयं=वघार आदि से सुवासित। असूइयं=या संस्कार हीन। उल्लं=गीला अथवा। सुक्कं=सूखा। मंथु=वेर का चूर्ण। कुम्भास भोयणं=उड़द का भोजन हो।

भावार्थ—

केवल संयम साधन के लिये जीने वाला मुनि जैसा भी आहार प्राप्त हो, रस रहित हो या नीरस, सुवासित हो अथवा संस्कार रहित, गीला हो, अथवा वेर का चूर्ण एवं उड़द के बाकुले आदि हो।

मूल—

उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहुफासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिजा दोसवज्जियं॥९९॥

हिन्दी पद्य—

मिले धर्म मर्यादा से जो, प्रासुक भोजन अल्प अधिक।
सहज प्राप्त निर्दोष वस्तु, खाये ना लाये मन में शोक॥

अन्वयार्थ—

उप्पणं=विधि से प्राप्त हो। अप्पं वा=वह थोड़ा या। वहु=रूखा सूखा वहुत हो। नाईहीलिज्जा=उसकी हीलना नहीं करे किन्तु। मुधालद्धं=निस्वार्थ भाव से दिये गये। फासुयं=अचित्त आहार को।

मुहाजीवी=निर्जरा कामी मुनि। दोसवज्जियं=संयोजना आदि दोष रहित। भुंजिज्जा=शांति से सेवन करें।

भावार्थ—

अल्प मिले या लूखा सूखा अधिक हो उसकी निन्दा नहीं करे किन्तु विना स्वार्थ के, लिये गये दोप रहित प्रासुक भोजन को समभाव से सेवन कर ले।

▭

मूल—

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं ॥१००॥

हिन्दी पद्य —

निष्काम प्रदाता दुर्लभ है, दुर्लभ वैसे लेने वाले।
दोनों ही सद्गति जाते है. निष्काम दान जीवन वाले॥
जम्बू! महावीर से हमने, जैसा सुना वही कहता।
हैं सारी बातें वीर कथित, मैं अपनी बात नहीं कहता॥

अन्वयार्थ—

मुहादाई=निस्वार्थ भाव से देने वाला। दुल्लहा=दुर्लभ हैं। मुहाजीवी=बिना किसी अपेक्षा के जीने वाले सन्त। वि=भी। दुल्लहा=दुर्लभ है। मुहादाई=निस्वार्थ भाव से देने वाला और। मुहाजीवी=निस्पृह जीवन से जीने वाला। दो वि=ये दोनो। सुग्गइं=सद्गति को। गच्छंति=प्राप्त करते हैं।

अन्वयार्थ—

संसार में विना स्वार्थ देने वाले दाता दुर्लभ हैं, वैसे बिना स्पृहा के याचक भी दुर्लभ होते है, कामना और इच्छा से दूर मुधादाता और दाता की प्रसन्नता की बिना अपेक्षा से लेने वाले मुधा जीवी भिक्षु दोनों ही सद्-गति को प्राप्त करते हैं। उनके देने लेने में कोई सोदा नहीं होता।

॥ इति प्रथम उद्देशक समाप्तम् ॥

पांचवां अध्ययन

द्वितीय उद्देशक

मूल—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए-संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे ण छड्डए ॥१॥

हिन्दी पद्य—

अंगुलिओं से पात्र पोंछ कर, लेंपमात्र नहीं रखे समण ।
सुरभि गंध या अशुभ गंध हो, खाले कुछ न तजे भोजन ॥

अन्वयार्थ—

संजए=संयमी साधु । लेवमायाए=लेप मात्र से । पडिग्गहं=पात्र को । संलिहित्ताणं=अंगुली से पोंछकर । दुगंधं=दुर्गंध । वा=अथवा । सुगंधं=सुगंध । सव्वं=सब । भुंजे=खाले । न छड्डए=कुछ जूठा नहीं छोड़े ।

भावार्थ—

साधु खाने के पात्र को अच्छी तरह पोंछ कर दुर्गन्ध अथवा सुगन्ध सब खाले, कुछ भी शेष नहीं छोड़े ।

मूल—

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोयरे ।
अयावयट्ठा भोच्चाणं, जइ तेणं न संथरे ॥२॥

हिन्दी पद्य—

स्थानक या स्वाध्याय स्थान में, ले आने पर शुद्ध आहार ।
प्राप्त अशन खा लेने पर यदि, हो न सके तन का निस्तार ॥

अन्वयार्थ—

सेज्जा=निवास स्थान । निसीहियाएं=स्वाध्याय या बैठने के स्थान में । गोयरे=गोचरी में । समावन्नो=गया हुआ मुनि । अयावयट्ठा=आव-

श्यकता से कुछ कम। भोच्चाणं=खाकर। जइ तेण=यदि उस आहार से। न संथरे=नहीं रह सके।

टिप्पणी—

इसका भावार्थ अगली गाथा में लिखा गया है।

मूल—

तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए।
विहिणा पुव्व-उत्तेण, इमेणं उत्तरेण य ॥३॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे कारण के होने पर, मुनि भिक्षार्थ पुनः जाये।
पूर्व कथित विधि से अथवा, आगे जैसी विधि बतलाये ॥

अन्वयार्थ—

तओ=तो। कारणमुप्पन्ने=कारण उत्पन्न होने पर। विहिणा पुव्व-उत्तेण=पूर्व कथित विधि से और। इमेणं उत्तरेण=आगे कही जाने वाली विधि से। भत्तपाणं=आहार-पानी की। गवेसए=गवेषणा करें।

भावार्थ—

दो गाथाओं से यह बतलाया गया है कि साधु उपने उपाश्रय या बैंठने के स्थान में तथा गौचरी के क्षेत्र में अपर्याप्त आहार करके उतने भर से नहीं रह सके, क्षुधा आदि विशेष कारण की स्थिति में पहले कही हुई तथा आगे कही जाने वाली विधि से आहार-पानी की फिर गवेषणा करे।

मूल—

कालेण णिक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥४॥

हिन्दी पद्य—

उचित समय पर भिक्षा को, जायें और आयें मुनिजन।
छोड़ अकाल काल में सब, करणी करने का हो चिन्तन ॥

अन्वयार्थ—

भिक्खू=साधु। कालेण=भिक्षा के लिये समय में ही। णिक्खमे=गोचरी निकले। य=और। कालेण=समय पर ही। पडिक्कमे=लौट आवे। अकालं=अकाल को। विवज्जित्ता=छोड़कर। काले=जिस समय का कार्य। कालं=उसी समय में। समायरे=सम्पन्न करे।

भावार्थ—

साधु समय पर भिक्षा को निकले और समय पर ही लौट आवे। अकाल का वर्जन कर जिस समय का जो कार्य हो वह उसी काल में आचरण करना चाहिये।

▭

मूल—

अकाले चरसि भिक्खू, कालं ण पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि, संणिवेसं च गरिहसि ॥५॥

हिन्दी पद्य—

जाते अकाल में भिक्षा को, नहीं ध्यान काल का जो रखते।
पहुंचाते निज को खेद और, वसति की वे निन्दा करते ॥

अन्वयार्थ—

भिक्खू=हे भिक्षु। अकाले=तुम अकाल में। चरसि=भिक्षा को जाते हो। कालं=भिक्षा के समय का। ण=नहीं। पडिलेहसि=ध्यान करते हो, इससे। अप्पाणं=अपने आप को। किलामेसि=खिन्न करते। च=और। संणिवेसं=गाँव की। गरिहसि=निन्दा-हीलना करते हो।

भावार्थ—

इसमें बताया गया है कि जो साधु भिक्षा के काल का बिना ध्यान किये असमय में भिक्षा को जाता है वह अपने आप को कष्ट देता और गांव की निन्दा करता है।

▭

मूल—

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं।
अलाभु त्ति ण सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए ॥६॥

हिन्दी पद्य—

मुनि उचित समय में भिक्षाहित, जाने का पुरुषार्थ करे।
अलाभ में नहीं सोच करे, तप मान भूख को सहन करे ॥

अन्वयार्थ—

भिक्खू=साधु। काले=भिक्षा का समय। सइ=होने पर। चरे=भिक्षा के लिये जावे और। पुरिसकारियं=पुरुपार्थ। कुज्जा=करे। अलाभुत्ति=भिक्षा का लाभ नहीं होने से। ण सोइज्जा=चिन्ता नहीं करे किन्तु। तवोत्ति=आज मेरे तप होगा, ऐसा विचार कर। अहियासए=क्षुधा परीषह को शान्ति से सहन करे।

भावार्थ—

भिक्षा का समय होने पर जो साधु गोचरी को जाता है और पुरुषार्थ करता है, वह अलाभ होने पर शोक नहीं करता किन्तु आज मेरे तप हो जायगा, ऐसा सोचकर क्षुधा आदि परीषह को सहन करता है।

▭

मूल—

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुयं ण गच्छिज्जा, जयमेव परिक्कमे ॥७॥

हिन्दी पद्य—

ऊंच नीच प्राणी वैसे, यदि अशन-पान हित हों आए।
ना जायें उनके आगे हो, यतना से गति करता जाए ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=इसी प्रकार, कभी। उच्चावया=छोटे वड़े। पाणा=प्राणी। भत्तट्ठाए=अपने दाना पानी के लिये। समागया=आये हुए हों। तं=तो उनके। उज्जुयं=सामने। ण गच्छिज्जा=नहीं जावे किन्तु। जयमेव=यतना पूर्वक। परक्कमे=गमन करे।

भावार्थ—

कभी छोटे वड़े पशु पक्षी दाना पानी के लिये आये हुए हों तो साधु उनके सामने नहीं जावे किन्तु यतना पूर्वक वाजु से गमन करे जिससे उनको अन्तराय नहीं पड़े।

मूल—

गोयरग्गपविट्ठो य, ण णिसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षा लेने को गया साधु, बैठे न कहीं घर में जाकर।
ना कहे किसी को धर्मकथा, परिजन में वहां खड़ा रहकर ॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गपविट्ठो=गोचरी के लिये गया हुआ। संजए=साधु। कत्थई=कहीं पर। ण=बैठे नहीं। च=और। चिट्ठित्ताण=खड़ा रहकर भी। कहं=कथा वार्ता का। न पबंधिज्जा=विस्तार नहीं करे।

भावार्थ—

साधु गोचरी के लिये जाकर कहीं बैठे नहीं और खड़े रहकर भी कथा का विस्तार नहीं करे, बात नहीं करे।

▭

मूल—

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए।
अवलंबिया ण चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥९॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षा लेने को गया साधु, आगल और फलक तथा सांकल।
ले अवलम्ब द्वार आदिक का, खड़ा रहे न कहीं क्षण पल ॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गगओ=गोचरी में गया हुआ। मुणी=साधु। अग्गलं=अर्गला। फलिहं=परिघा-द्वार के पीछे देने की लकड़ी। दारं=द्वार। कवाडं=कपाट को। वा=अथवा। अवलंबिया=दीवार आदि का अवलम्बन करके। संजए=संयमी साधु। ण चिट्ठिज्जा=खड़ा नहीं रहे।

भावार्थ—

गोचरी में गया हुआ साधु, अर्गला, परिघा, द्वार के पीछे देने का काष्ठ, द्वार एवं कपाट को पकड़कर संयमवान् मुनि खड़ा नहीं रहे। ऐसा

करने से लकड़ी के गिरने से जीव जन्तु की विराधना का भय रहता है। अतः विवेकी साधु दीवार को विना पकड़े यत्न से खड़ा रहे।

मूल—

समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

ब्राह्मण श्रमण दीन भिक्षुक, और कृपण पूर्व से हों जिस घर।
उल्लंघन कर उन्हें न मुनिवर, अशन हेतु जाये उस घर ॥

अन्वयार्थ—

समणं=बौद्ध भिक्षु। माहणं=ब्राह्मण। वा=अथवा। किविणं=कृपण। वा=या। वणीमगं=याचक-भिखारी को यदि। भत्तट्ठा=भोजन। व=वा। पाणट्ठाए=पानी के लिये। संजए=संयमी सन्त। उवसंकमंतं=घर में जाते देखे तो।

भावार्थ—

अगली गाथा के साथ लिखा गया है—

मूल—

तमइक्कमित्तु ण पविसे, ण चिट्ठे चक्खुगोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥११॥

हिन्दी पद्य—

जाती दृष्टि जहां तक उनकी, वैसे पथ में न खड़ा होवे।
किन्तु देख एकान्त भूमि, वैसे स्थल जाकर खड़ा रहे ॥

अन्वयार्थ—

तं=उसको। अइक्कमित्तु=लंघन करके। ण=प्रवेश नहीं करे। चक्खुगोयरे=दृष्टि गोचर हो वैसे। ण=खड़ा न रहे, किन्तु। संजए=संयमी मुनि। एगंतं=एकान्त स्थल में। अवक्कमित्ता=जाकर। तत्थ=वहां। चिट्ठिज्ज=सावधानी से खड़ा रहे।

भावार्थ— (१०-११)

संयमी साधु गृहस्थ के घर में भोजन या पानी के लिये जाते हुए बौद्ध भिक्षु, ब्राह्मण, कृपण, याचकों का लंघन कर, घर में प्रवेश नहीं करे, सामने दृष्टिगोचर हो वैसे खड़ा नहीं रहें किन्तु एकान्त में जाकर दृष्टि-गोचर न हो इस प्रकार खड़ा रहे। सामने खड़े रहने से याचकों की अप्रीति और अन्तराय की सम्भावना रहती हैं।

मूल—

वणीमगस्स वा तस्स; दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तियं सिया हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

इससे दाता और भिक्षु, या याचक दाता दोनों का।
बढ़ता द्वेष, तथा घट जाता, है महत्त्व जिनशासन का ॥

अन्वयार्थ—

तस्स=उस। वणीमगस्स=याचक आदि। वा=अथवा। दाय-गस्स=दाता या। उभयस्स=दोनों को, लांघकर जाने से। सिया=कदाचित् अप्पत्तियं=अप्रीति। हुज्जा=होगी। वा=अथवा। पवयणस्स=शासन की। लहुत्तं=लघुता होगी।

भावार्थ—

याचक आदि को लांघकर जाने से उस याचक या दाता की अथवा दोनों की अप्रीति हो सकती है। कभी लोक यह सोचे कि श्रमणों को भोजन नहीं मिलता है, ऐसी लघुता हो। इसलिये साधु लांघकर नहीं जावें।

मूल—

पडिसेहिए व दिण्णे वा, तओ तम्मि णियत्तिए।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

दाता से वर्जित या भिक्षा, पाकर याचक के जाने पर।
अशन-पान हित जाये संयत, फिर उस दाता के घर पर ॥

अन्वयार्थ—

पडिसेहिए=दाता द्वारा निषेध करने । व=या । दिण्णे=भिक्षा दे लेने पर । तम्मि=उस याचक आदि के । तओ=वहां से । णियत्तिए=हट जाने पर । संजए=साधु । भत्तट्ठा=आहार अथवा । पाणट्ठाए=पानी के लिए । उवसंकमिज्ज=प्रवेश करे ।

भावार्थ—

दाता द्वारा याचक को निषेध करने पर या कुछ देने पर जब वह याचक लौट जावे तब साधु आहार अथवा पानी के लिये घर में जावे ।

▭

मूल—

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अण्णं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

उत्पल पद्म कुमुद अथवा, मालती लता के फूलों का ।
हो अन्य सचित्त जो ऐसे ही, लुंचन कर वैसे फूलों का ॥

अन्वयार्थ—

उप्पलं=उत्पल कमल । वा=अथवा । पउमं=पद्म-लाल कमल । वा=अथवा । कुमुयं=चन्द्र विकासी कमल और । मगदंतियं=मालती के फूल । वा=अथवा वैसे । अण्णं=अन्य कोई । पुप्फसच्चित्तं=सचित्त फूल हो उसको । संलुंचिया=छेदन करके । दए=दे ।

भावार्थ—

कोई गृहस्थ भिक्षा दे तो कमल, पद्म कमल अथवा चन्द्र विकासी कमल वा मालती के फूल तथा वैसे किसी अन्य सचित्त फूल को छेदन करके साधु को भिक्षा दे (तो वह अकल्पनीय है ।)

▭

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥१५॥

हिन्दी पद्य—

फिर दाता यदि भक्त-पान दे, तो अकल्प्य हो जाता है।
भिक्षा दात्री को मुनि बोले, वैसा नहीं कल्पता है॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाण=साधुओं के लिए। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=होता है, अतः। दिंतियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=निषेध से कहे कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

ऐसा आहार-पानी साधुओं के लिए अग्राह्य होता है। अतः देने वाली से साधु निषेध की भाषा में कहे कि मुझको वैसा आहार लेना नहीं कल्पता है।

मूल—

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुयं वा मगदंतियं।
अण्णं वा पुप्फ-सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए॥१६॥

हिन्दी पद्य—

उत्पल पद्म कुमुद अथवा, मालती लता के फूलों का।
हो अन्य सचित्त जो ऐसे ही, मर्दन कर वैसे फूलों का॥

अन्वयार्थ—

उप्पलं=उत्पल कमल। वा=अथवा। पउमं=पद्म कमल। वा=अथवा। कुमुयं=चन्द्र विकासी कमल और। मगदंतियं=मालती के फूल। वा=अथवा वैसे। अण्णं=अन्य कोई। पुप्फसच्चित्तं=सचित्त फूल हो। तं=उसको। संमद्दिया=मसल कर। दए=साधु को भिक्षा दे।

भावार्थ—

पहले की तरह कोई कमल आदि फूलों का मर्दन कर साधु को भिक्षा दे तो साधु दाता को मना कर दे।

मूल—

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

दे दाता यदि भक्त पान तो, वह अकल्प्य हो जाता है।
भिक्षा दात्री को मुनि बोले, वैसा नहीं कल्पता है ॥

अन्वयार्थ—

तं=वह। भत्तपाणं=आहार-पानी। संजयाण=साधुओं के लिये। अकप्पियं=अग्राह्य। भवे=हो जाता है अतः। दितियं=देने वाली से। पडियाइक्खे=कहे कि। मे=मुझको। तारिसं=वैसा आहार लेना। ण कप्पइ= नहीं कल्पता।

भावार्थ—

उस प्रकार का आहार पानी साधुओं के लिये अग्राह्य होता है अतः देने वाली से निषेध की भाषा में कहे कि मुझको वैसा आहार लेना नहीं कल्पता है।

—

मूल—

सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलणालियं।
मुणालियं सासवणालियं, उच्छुखंडं अणिव्वुडं ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

कमल ढ़ाक का मूल कुमुद या, कमल तन्तु या नाल कमल।
सरसों भाजी ऊखखण्ड, जिन पर न हुआ है शस्त्र चलन ॥

अन्वयार्थ—

सालुयं=कमल का मूल। विरालियं=विराली कंद। वा=अथवा। कुमुयं=कुमुद। उप्पलणालियं=उत्पलनालिका। मुणालियं=मृणालिका-कमल तन्तु। सासवणालियं=सरसों की भाजी। उच्छुखंडं=और इक्षुखण्ड। अणिव्वुडं=अशस्त्र परिणत-कच्चा हो।

भावार्थ—

साधु वनस्पति की हिंसा से बचने के लिये कमल का मूल, विराली कंद, चन्द्र विकासी कमल, कमल की नाल, कमल का तन्तु, और सरसों की भाजी अशस्त्र परिणत हो तो ग्रहण नहीं करे।

मूल—

तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा।
अण्णस्स वा वि हरियस्स, आमगं परिवज्जए ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

हो इमली तरु के या तृण के, तरुण पत्र वा कोंपल-दल।
अन्य हरित भी हो सचित्त तो, छोड़े साधु उन्हें उस पल ॥

अन्वयार्थ—

रुक्खस्स=वृक्ष। वा=या। तणगस्स=तृण के। तणरुगं=पत्ते अथवा पवालं=कूंपले तथा। अण्णस्स=अन्य भी। हरियस्स=हरित के पत्ते आदि। आमगं=कच्चे हों तो। परिवज्जए=साधु वर्जन करें।

भावार्थ—

साधु वृक्ष, तृण या अन्य किसी वनस्पति के पत्ते अथवा कूंपलों को ग्रहण नहीं करें।

मूल—

तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं।
दितियं पडियाइक्खे, ण मे कप्पइ तारिसं ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

कच्ची एक वार भुंजी, हो फली सचित्त यदि गृहपति घर।
भिक्षा दात्री से मुनि बोले, वैसा नहीं लेना भोजन जल ॥

अन्वयार्थ—

तरुणियं=जिसमें बीज पके नहीं हों। छिवाडिं=वैसी मूंग आदि की फली। आमियं=कच्ची हो। वा सइं=अथवा एक वार। भज्जियं=भुंजी

हुई हो। दिंतियं=देने वाली से साधु। पडियाइक्खे=निषेध करते कहे कि। मे=मेरे को। तारिसं=वैसा आहार। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है।

भावार्थ—

मूंग आदि की कच्ची फली जो एक बार आग पर भुंजी गई हो साधु ग्रहण नहीं करे। देने वाले से मना कर दे।

मूल—

तहा कोलमणुस्सिण्णं, वेलुयं कासवणालियं।
तिल-पप्पडगं णीमं, आमगं परिवज्जए ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

वैसे बिना उबाले जो है, बेर केर श्रीपर्णी फल।
हो सचित्त तो साधु छोड़ दे, तिल पपड़ी या नीम का फल ॥

अन्वयार्थ—

तहा=वैसे फलों की तरह। कोलमणुस्सिण्णं=बिना उबाला बेर। वेलुयं=वंश करेला। कासवणालियं=काश्यपनालिका। तिल-पप्पडगं=तिल पपड़ी। णीमं=नीम या कादम्बफल। आमगं=कच्चा। परिवज्जए=ग्रहण नहीं करें।

भावार्थ—

फली की तरह बिना उबाले बेर आदि फल भी कच्चे हो तों साधु वर्जन कर दें।

मूल—

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तऽणिव्वुडं।
तिलपिट्ठ - पूइपिण्णागं, आमगं परिवज्जए ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

वैसे चावल का आटा, और गर्म किया ठण्डा पानी।
तिलकुट्टा एवं सरसों-खल, त्यागे सचित्त मुनि सुज्ञानी ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=इसी प्रकार। चाउलं=चावल आदि का। पिट्ठं=तत्काल पिसा आटा। वा=या। वियडं=विकट जल। तत्तऽणिव्वुडं=जो पूरा गर्म नहीं हुआ है। तिलपिट्ठ=तिल का पिष्ट। पूइपिण्णागं=पोय और सरसों की खलो। आमगं=ये सव कच्ची हो तो। परिवज्जए=वर्जन करे।

भावार्थ—

साधु चावल और तिल का पिष्ट, बरावर नहीं उबला हो वैसा पानी और सरसों की खली कच्ची हो तो छोड़ दे।

मूल—

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तियं।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि ण पत्थए ॥२३॥

हिन्दी पद्य—

कैथ विजौरा मूला या, टुकड़ा मूले के कन्दों का।
हो कच्चा शस्त्र-प्रयोग हीन, मुनि करे न ध्यान कभी उनका ॥

अन्वयार्थ—

कविट्ठ=कपित्थ-कोथ और। माउलिंगं=त्रिजोरा। मूलगं=मूला तथा। मूलगत्तियं=मूले के टुकड़े। आमं=कच्चे। असत्थपरिणयं=और अशस्त्र परिणत। मणसा=मन से। ण पत्थए=नहीं चाहे।

भावार्थ—

कैंथ, विजोरा, मूला और मूला के टुकड़े कच्चे एवं अशस्त्र परिणत हो तो ग्रहण नहीं करे।

मूल—

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिया।
बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही बेर फलादि चूर्ण, और बीज-चूर्ण को जान श्रमण।
हो दाख-बहेड़ा फल कच्चा, तो कभी न उसका करे ग्रहण ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=विजोरा आदि की तरह। फलमंथूणि=फल का चूर्ण। वीयमंथूणि=वीज का चूर्ण। च=और। विहेलगं=वहेड़ा। पियालं=तथा प्रियाल फल। आमगं=कच्चा हो तो। परिवज्जए=वर्जन करें।

भावार्थ—

फल और वीज आदि के चूर्ण, वहेड़ा आदि कच्चे हो या मिश्र की शंका हो तो छोड़ दें।

मूल—

समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
णीयं कुलमइक्कम, ऊसढं णाभिधारए ॥२५॥

हिन्दी पद्य—

सामुहिक भिक्षा हित भिक्षु, ऊंचे नीचे घर में जाये।
नीचे कुल को छोड़ नहीं, केवल धनियों के घर जाये ॥

अन्वयार्थ—

भिक्खू=साधु। सया=सदा। समुयाणं=सामुदायिक भिक्षा। कुल-मुच्चावयं=छोटे - वड़े घरों में। चरे=भिक्षा के लिये जावे। णीयं=छोटे। कुलं=घर को। अइक्कम=छोड़कर। ऊसढं=ऊंचे धनी के घर में। णाभिधारए=जाने की धारणा नहीं करे।

भावार्थ—

साधु सदा छोटे-वड़े घरों में सामूहिक भिक्षा करे। छोटे घर को छोड़कर वड़े धनी के घर में जाने का विचार नहीं करे।

मूल—

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, ण विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि, मायण्णे एसणारए ॥२६॥

हिन्दी पद्य—

तज दीन भाव भिक्षा ढूंढे, पंडित मुनि खेद कभी न करे।
मूर्च्छित हो ना भोजन में, मात्रज्ञ एषणा चित्त धरे ॥

अन्वयार्थ—

पंडिए=विचारवान् साधु । अदीणो=बिना दीन भाव के । विंति=भिक्षा की । एसिज्जा=गवेषणा करे । ण विसीइज्ज=नहीं मिलने से खेद नहीं करे । मायण्णे=मात्रा का जानकार मुनि । भोयणम्मि अमुच्छिओ=भोजन में, मूर्छा भाव नहीं रखते हुए । एसणारए=शुद्धाशुद्ध की एषणा में सतर्क रहे ।

भावार्थ—

विचारक साधु कभी दीन भाव नहीं लावे । भिक्षा करे, नहीं मिलने पर खेद नहीं करे । किन्तु आहार की मात्रा को जानने वाला मुनि भोजन में मूर्छित न होकर आहार की एषणा में सावधान रहे ।

मूल—

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।
ण तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो ण वा ॥२७॥

हिन्दी पद्य—

विविध रूप खादिम स्वादिम, है गृहस्थ के घर अधिक ।
उसकी इच्छा वह दे ना दे, मुनि सुज्ञ न बने उस पर कुपित ॥

अन्वयार्थ—

परघरे=गृहस्थ के घर में । विविहं=अनेक प्रकार के । खाइम-साइमं=खाद्य एवम् स्वाद्य - मुखवास के पदार्थ । बहुं=बहुत प्रमाण में । अत्थि=है । परो=गृहस्थ । दिज्ज=देवें । ण वा=या नहीं देवें । इच्छा=उसकी इच्छा । तत्थ=उस सम्बन्ध में । पंडिओ=विचारक मुनि । ण कुप्पे=कुपित नहीं होवे ।

भावार्थ—

गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार के मेवा, मिष्ठान्न और लवंग-सोपारी आदि बहुत प्रमाण में हैं । तथापि वह देवे या न देवे उसकी इच्छा, बुद्धि-मान साधु इस पर कुपित नहीं होवे । लाभालाभ में सम रहना ही मुनि का धर्म है ।

मूल—

सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए।
अदितस्स ण कुप्पिज्जा, पच्चक्खे विय दीसओ॥२८॥

हिन्दी पद्य—

शय्यासन, पट अशन-पान, प्रत्यक्ष दिखाई देने पर।
ना दे तो भी कुपित न होवे, कभी संयमी उस जन पर॥

अन्वयार्थ—

संजए=संयमी साधु। सयणासणवत्थं=शय्या, आसन-बाजोट और वस्त्र। वा=अथवा। भत्तपाणं=आहार-पानी। पच्चक्खे=प्रत्यक्ष। दीसओ=सामने दिखते हुए। विय=भी। अदितस्स=गृहस्थ नहीं देवे तो। ण कुप्पिज्जा=उस पर क्रोध नहीं करे।

भावार्थ—

आहार की तरह अन्य पदार्थ, शय्या, आसन, वस्त्र, पात्र और आहारादि प्रत्यक्ष सामने दिख रहे हैं, फिर भी गृहस्थ यदि नहीं दे तो उस पर क्रोध नहीं करें।

▭

मूल—

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं ण जाइज्जा, णो य णं फरुसं वए॥२९॥

हिन्दी पद्य—

नर नारी हो या शिशु छोटा, अथवा बुड्ढा या परम तरुण।
ना करे याचना वंदन-क्षण, अथवा न कहे कुछ परुष वचन॥

अन्वयार्थ—

इत्थियं=स्त्री। पुरिसं=पुरुष। वा=अथवा। डहरं=बालक। वा=या। महल्लगं=वृद्ध। वंदमाणं=वंदना करते हो उससे। ण जाइज्जा=याचना नहीं करे। य=और उसको। फरुसं=कठोर भी। णो वए=नहीं बोले।

भावार्थ —

भिक्षा में गये साधु को स्त्री, पुरुष, बालक अथवा वृद्ध वन्दना करते हो उससे बीच में याचना नहीं करे और रूक्ष वचन नहीं बोले।

मूल—

जे ण वंदे ण से कुप्पे, वंदिओ ण समुक्कसे।
एवमण्णेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठइ ॥३०॥

हिन्दी पद्य—

जो नहीं वन्दे क्रोध करे ना, वंदित हो नहीं गर्व धरे।
साधुत्व सुदृढ़ बन जाता है, यों जिनशासन की आन धरे ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। ण=वन्दना नहीं करे। से=उस पर। ण कुप्पे=क्रोध नहीं करे। वंदिओ=मान-सम्मान पाकर। ण समुक्कसे=मान नहीं करे। एवं=इस प्रकार। अण्णेसमाणस्स=अन्वेषण करने वाले का। सामण्णं=श्रमण धर्म। अणुचिट्ठइ=निरावाध रहता है।

भावार्थ—

जो मुनि वन्दन नहीं करने पर क्रोध नहीं करता और मान-सन्मान पाकर गर्व नहीं करता, इस प्रकार अन्वेषण करने वाले का श्रमण धर्म विना वाधा के टिका रहता है।

मूल—

सिया एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ।
मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए ॥३१॥

हिन्दी पद्य—

अगर अकेला प्राप्त अशन, ले छिपा लोभ से कहीं श्रमण।
दिखलाने पर सोचें यों, वे कर सकते हैं इसे ग्रहण ॥

अन्वयार्थ —

सिया=कदाचित्। एगइओ=भिक्षा को गया हुआ साधु अकेला। लद्धुं=मनोज्ञ भोजन पाकर। लोभेण=खाने के लोभ से। विणिगूहइ=

आहार को छिपाता है। मा=यदि। मेयं=इस आहार को। दाइयं संतं=दिखाया तो। दट्ठूणं=देखकर। सयमायए=बड़े मुनि स्वयं ले लेंगे, मुझे नहीं देगें।

भावार्थ—

भिक्षार्थ गया हुआ साधु एकाकी अच्छा भोजन पाकर, खाने के लोभ से साधारण आहार से छिपाता है, सोचता है कि अच्छा भोजन देखकर वे स्वयं ले लेंगे, मुझे कदाचित् नहीं देवें।

▭

मूल—

अत्तट्ठागुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ य से होई, णिव्वाणं च न गच्छइ ॥३२॥

हिन्दी पद्य—

स्वार्थी एवं जिह्वा लोलुप, बहु पाप साधु वह करता है।
जाता नहीं निर्वाण कभी, संतोष रहित जो रहता है ॥

अन्वयार्थ—

अत्तट्ठागुरुओ=अपने उदर भरण की मुख्यता वाला। लुद्धो=लालची साधु। बहुं=बहुत। पावं=पाप का। पकुव्वइ=संचय करता है। य=और वह। दुत्तोसओ=कठिनाई से तुष्ट करने लायक होता है और। णिव्वाणं=निर्वाण को। न गच्छइ=प्राप्त नहीं करता।

भावार्थ—

उदर भरण की मुख्यता वाला, वह लालची साधु बहुत पाप का संचय करता है, वह कठिनाई से तुष्ट होता है और निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है।

▭

मूल—

सिया एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवण्णं विरसमाहरे ॥३३॥

हिन्दी पद्य—

एकाकी कर प्राप्त अगर, इस जग में विविध पान-भोजन।
खाकर अच्छा-अच्छा संग में, लाये अरस विरस भोजन॥

अन्वयार्थ—

एगइओ=भिक्षा में गया हुआ मुनि। सिया=कदाचित्। विविहं=अनेक प्रकार के। पाणभोयणं=सरस आहार पानी। लद्धुं=पाकर। भद्दगं भद्दगं=अच्छा-अच्छा। भोच्चा=एकान्त में खाकर। विवण्णं=वर्ण-रहित। विरसं=नीरस आहार। आहरे=उपाश्रय में लावे।

भावार्थ—

भिक्षा में गया हुआ मुनि कभी अनेक प्रकार का सरस भोजन पाकर अच्छा-अच्छा एकान्त में खा लें और नीरस आहार लेकर उपाश्रय में आवे।

मूल—

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ॥३४॥

हिन्दी पद्य—

जाने इतने ये साधु हमें, है आत्मार्थी यह अहो! श्रमण।
वासी-सेवी लब्धाहारी, संतुष्ट अरस करके भोजन॥

अन्वयार्थ—

ता=वह मार्ग में खाने वाला सोचता है। इमे=ये। समणा=श्रमण। जाणंतु=जानें कि। अयं=यह। मुणी=मुनि। आययट्ठी=आत्मार्थी है। पंतं=नीरस आहार को। संतुट्ठो=सन्तोष पूर्वक। सेवए=खाता है। लूहवित्ती=सुस्वाद भोजन की आकांक्षा नहीं करने से। सुतोसओ=सहज तुष्ट होने वाला है।

भावार्थ—

मार्ग में खाने वाला, माया वश सोचता है कि नीरस आहार देख-कर गण के साधु सोचेंगे कि यह मुनि बड़ा आत्मार्थी है जो प्राप्त आहार

को सन्तोष पूर्वक खाता और सुस्वाद भोजन की आकांक्षा नहीं करने से सहज तुष्ट होने वाला है।

मूल—

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ॥३५॥

हिन्दी पद्य—

पूजार्थी वा यशकामी, सम्मान मान का अति इच्छुक।
पैदा करता है बहुत पाप, और माया शल्य धरे भिक्षुक ॥

अन्वयार्थ—

पूयणट्ठा=महिमा पूजा चाहने वाला। जसोकामी=यशस्कामी और। माणसम्माणकामए=मान सन्मान की इच्छा करने वाला। बहुं=बहुत। पावं=पाप कर्म का। पसवई=संचय करता। च=और। मायासल्लं=माया शल्य का। कुव्वइ=सेवन करता है।

भावार्थ—

महिमा के लिये कपट करने वाला वह साधु पाप कर्म का संचय करता और कपट का सेवन करता है, जो आत्मा के लिये अकल्याणकारी होता है।

मूल—

सुरं वा मेरगं वा वि, अण्णं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं ण पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥३६॥

हिन्दी पद—

सुरा और मैरेयक को, मद्यजनक वैसे रस को।
ना पीए भिक्षु जिन साक्षी, कर संरक्षण निज संयम को ॥

अन्वयार्थ—

अप्पणो=अपने। जसं=निर्मल संयम का। सारक्खं=रक्षण करने वाला। भिक्खू=भिक्षु। सुरं=सुरा। मेरगं=मेरक। वा=अथवा।

अण्णं=अन्य । मज्जगं=मादक । रसं=रस । ससक्खं=अरिहन्त या आत्मा की साक्षी से । ण पिबे=नहीं पिये ।

भावार्थ—

संगति के दोष से कोई गृहस्थ दशा में मादक द्रव्य लेने वाला हो और फिर संयमी बन गया हो । वैसे भिक्षु को शिक्षा के लिये कहा गया है कि भिक्षु अपने संयम धर्म को निर्मल रखने के लिये सुरा आदि किसी भी प्रकार का मादक द्रव्य आत्म साक्षी से कभी उपयोग नहीं करे ।

▭

मूल—

पियए एगओ तेणो, ण मे कोइ वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं, णियडिं च सुणेह मे ॥३७॥

हिन्दी पद्य—

बन चोर अकेला वह पीता, समझे न मुझे कोई जाने ।
देखो उसके इन दोषों को, माया उसकी सुन लो छाने ॥

अन्वयार्थ—

तेणो=भगवान की आज्ञा का चोर । एगओ=एकाकी । पियए=पीता है, वह सोचता है कि । मे=मुझे । कोई=कोई । ण वियाणइ=नहीं जानता । तस्स=उस मायाचारी के । दोसाइं=दोषों को । पस्सह=देखो । च=और । मे=मेरे द्वारा । णियडिं=उसके कपटाचार को । सुणेह=श्रवण करो ।

भावार्थ—

जो भगवान् की आज्ञा का चोर छिपकर एकाकी पीता है और समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, उस मायाचारी के दोषों को देखो और मुझ से उसके कपटाचार को श्रवण करो ।

▭

मूल—

वड्ढइ सुंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥३८॥

हिन्दी पद्य—

बढ़ती मद-आसक्ति और, माया मिथ्या उस भिक्षुक को।
अपकीर्ति अतृप्ति हरक्षण में, ऐसे असाधुता भो उसको ॥

अन्वयार्थ—

तस्स=उस। भिक्खुणो=अजितेन्द्रिय साधु की। सुंडिया=पानासक्ति और। मायामोसं=कपटपूर्ण मृषा। अयसो=तथा अकीर्ति। अणिव्वाणं=अशान्ति और। सययं=निरन्तर। असाहुया=असाधुता। वड्ढइ=बढ़ती हैं।

भावार्थ—

उपरोक्त दोष के कारण उसकी पानासक्ति के साथ अकीर्ति, अशांति और निरन्तर असाधुता बढ़ती रहती हैं।

मूल—

णिच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि, ण आराहेइ संवरं ॥३९॥

हिन्दी पद्य—

ज्यों चोर स्वकृत दुष्कृत्यों से, है व्याकुल सदा बना रहता।
दुर्बुद्धि मृत्यु क्षण तक भी वह, ना संवर आराधन करता ॥

अन्वयार्थ—

अत्तकम्मेहिं=अपने दुष्कर्मों से। दुम्मई=वह दुर्मति। तेणो=चोर। जहा=के समान। णिच्चुव्विग्गो=सदा उद्विग्न रहता है। तारिसो=वैसा साधक। मरणंते=मरणांत समय में भी। संवरं=संवर धर्म का। ण आराहेइ=आराधन नहीं कर पाता।

भावार्थ—

वैसा भिक्षु अपने दुष्कर्मों से चोर की तरह सदा उद्विग्न रहता है वह अन्त समय में भी संवर धर्म का आराधन नहीं कर सकता।

मूल—

आयरिए णाराहेइ, समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४०॥

हिन्दी पद्य—

आचार्य श्रमण गण को वैसा, है साधु न करता आराधन ।
करते गृहस्थ उसकी निन्दा, जिसलिये जानते वे सब जन ॥

अन्वयार्थ—

तारिसो=वैसा मायावी । आयरिए=आचार्य देव । आवि=और । समणे=साधु मण्डल को । णाराहेइ=विनयादि से सन्तुष्ट नहीं करता । गिहत्था=गृहस्थ भी । वि=उसकी । गरिहंति=निन्दा करते । जेण=जिसलिये कि । तारिसं=वे मायावी । जाणंति=जानते हैं ।

भावार्थ—

वैसा मायाचारी अपने गुरु आचार्य और साधुओं की सेवा नहीं करता सन्तोष उत्पन्न नहीं करता, गृहस्थ भी उसके वैसे आचार को जानकर निन्दा करते हैं ।

मूल—

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए ।
तारिसो मरणंते वि, णाराहेइ संवरं ॥४१॥

हिन्दी पद्य—

इस तरह अगुण-दर्शी एवं, सद्गुण का त्यागी बना श्रमण ।
वह मृत्यु घड़ी के आने तक, संवर कर सकता नहीं ग्रहण ॥

अन्वयार्थ—

एवं=इस प्रकार । अगुणप्पेही=दुर्गुणों का धारक । च=और । गुणाणं=गुणों का । विवज्जए=वर्जन करने वाला । तारिसो=वैसा भिक्षु । मरणंते=मरण काल में भी । संवरं=संवर धर्म की । णाराहेइ=आराधना नहीं कर सकता ।

भावार्थ—

इस प्रकार दुर्गुणों को धारण करने और सद्गुणों को छोड़ने वाला भिक्षु मरण काल में भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर पाता।

मूल—

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥४२॥

हिन्दी पद्य—

मेघावी मुनि तप करता, और स्निग्ध अशन त्यागन करता।
मद्य प्रमाद विरत रहकर, मन में कुछ दर्प नहीं रखता ॥

अन्वयार्थ—

मेहावी=जो बुद्धिमान साधु। मज्जप्पमायविरओ=मद्य और प्रमाद से वचकर। पणीयं=प्रणीत। रसं=रस का। वज्जए=वर्जन करता है। तवं=और तपस्या। कुव्वइ=करता है। अइउक्कसो=वह निर्दोष। तवस्सी=तपस्या वाला है।

भावार्थ—

जो मादक द्रव्य और प्रमाद से बचकर प्रणीत रस का वर्जन करते हुए तपस्या करता हैं, वह निर्दोष तप वाला है।

मूल—

तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइयं।
विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥४३॥

हिन्दी पद्य—

पूजित अनेक साधुजन से, देखो उसका कल्याण यहां।
विपुलार्थ युक्त वर्णन उसका, सब सुनलो मुझसे आज यहां ॥

अन्वयार्थ—

तस्स=उस-शुद्धाचारी के। अणेगसाहुपूइयं=अनेक साधुओं से प्रशंसित। कल्लाणं=कल्याण को। पस्सह=देखो। अत्थसंजुत्तं=आत्मगुण की साधना के। विउलं=विशाल मार्ग का। कित्तइस्सं=कीर्तन करूंगा। मे=तुम मेरे से। सुणेह=श्रवण करो।

भावार्थ—

उस शुद्धाचारी के कल्याण को देखो जो अनेक साधुओं से प्रशंसित है, परमार्थ संयुक्त उस विशाल मार्ग का मैं कीर्तन करूंगा, वह मेरे से श्रवण करो।

मूल—

एवं तु गुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंते वि, आराहेइ संवरं ॥४४॥

हिन्दी पद्य—

इस प्रकार गुण का दृष्टा, और दोषों का जो त्यागी है।
वैसा मरणकाल में भी मुनि, संवर आराधन भागी है ॥

अन्वयार्थ—

एवं तु=इस प्रकार। गुणप्पेही=गुणों का धारक। च=और। अगुणाणं=दुर्गुणों का। विवज्जए=वर्जन करने वाला। तारिसो=वैसा भिक्षु। मरणंते=मरणांत समय में भी। संवरं=संवर धर्म की। आराहेइ=आराधना करता है।

भावार्थ—

दुर्गुणों का वर्जन करने वाला गुण ग्राहक भिक्षु अन्त समय में संवर धर्म की आराधना कर लेता हैं।

मूल—

आयरिए आराहेइ, समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥४५॥

हिन्दी पद्य—

आचार्य श्रमण गण को वैसे, मुनिजन करते है आराधन।
करते गृहस्थ उसकी पूजा, जिनने पहचाना वैसे जन ॥

अन्वयार्थ—

तारिसो=वैसा भिक्षु। आयरिए=आचार्य-गुरु और। समणे=साधुओं की। आराहेइ=विनय आदि से सेवा करता है। गिहत्था=गृहस्थ भी। णं=उसकी। पूयंति=प्रशंसा करते। जेण=जिसलिये कि वे। तारिसं=विनयादि गुणों को। जाणंति=जानते हैं।

भावार्थ—

वैसा भिक्षु आचार्य और साधु मण्डल की सेवा करता है इसलिये गृहस्थ भी गुणवान् जानकर उसकी प्रशंसा करते हैं ।

▭

मूल—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे णरे ।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ।।४६।।

हिन्दी पद्य—

तप, वचन और जो रूप चोर, आचार, भाव तस्कर जग में ।
किल्विष बनकर पैदा होता, निजकृत कर्मों से सुरभव में ।।

अन्वयार्थ—

जे=जो । णरे=नर-साधु । तवतेणे=तपस्तेन । वयतेणे=व्रत या वचन का चोर । रूवतेणे=रूपस्तेन । य=और । आयारभावतेणे=आचार भाव का स्तेन होता है । देवकिव्विसं=किल्विष देव का । कुव्वइ=आयु बन्ध करता हैं ।

भावार्थ—

जो साधु तपस्तेन, व्रत-रूप और आचार भाव का चोर होता है वह किल्विष देव में उत्पन्न होता है ।

▭

मूल—

लद्धुणं वि देवत्तं, उववण्णो देवकिव्विसे ।
तत्थ वि से ण याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ।।४७।।

हिन्दी पद्य—

पाकर भी देवत्त्व साधु, किल्विष भव में पैदा होकर ।
वह वहां पहुंचकर भी, ना जाने, मिला सुफल किस करनी पर ।।

अन्वयार्थ—

देवत्तं=देव भव । लद्धुण=प्राप्त करके भी । देवकिव्विसे=किल्विषी देवों में । उववण्णो=उत्पन्न होता है । तत्थ=वहां पर भी । से=वह । ण याणाइ=यह नहीं जान पाता कि । मे=मैंने । किं=क्या । किच्चा=करके । इमं=यह देवगति रुप । फलं=फल पाया है ।

भावार्थ—

तपस्तेन आदि रूप से मायाचार करने वाला देवभव में उत्पन्न होकर भी किल्विषी देव रूप से उत्पन्न होता है, वहां उसको यह ज्ञान नहीं होता कि मैं क्या करके किल्विषी रूप से उत्पन्न हुआ हूँ।

मूल—

तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूयगं।
णरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥४८॥

हिन्दी पद्य—

किल्विष भव से भी चवकर वह, अजवत् गूंगा बन जायगा।
है बोधि जहां दुर्लभ वैसा, नारक तिर्यक् भव पाएगा ॥

अन्वयार्थ—

तत्तो=वहां से भी। चइत्ताण=च्युत होकर। से=वह। एलमूयगं=बकरे के समान (मम्मण बोलने वाला) भव। लब्भिही=प्राप्त करेगा। वा=अथवा। णरगं=नरक। तिरिक्खजोणिं=तिर्यञ्च योनि को पाता है। जत्थ=जहां पर। बोही=उसको धर्म की प्राप्ति। सुदुल्लहा=अति दुर्लभ होती है।

भावार्थ—

वह मायाचारी साधु किल्विषी देव के भव से निकलकर, बकरे के समान एल-मूक योनि में जाता अथवा नरक-तिर्यञ्च योनि को पाता है, जहां उसको सम्यक्त्व धर्म की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

मूल—

एयं च दोसं दट्ठूण, णायपुत्तेण भासियं।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥४९॥

हिन्दी पद्य—

उपरोक्त दोष को देख यहां, जो ज्ञात-पुत्र ने कहा यही।
अणुभर भी माया मिथ्या का, सेवन मुनि जन करें नहीं ॥

अन्वयार्थ—

णायपुत्तेण=ज्ञातपुत्र-महावीर से । भासियं=भाषित । एयं=इस प्रकार के । दोसं=दोष को । दट्ठूण=देखकर । मेहावी=बुद्धिमान साधु । अणुमायं पि=अल्प मात्र भी । मायामोसं=कपट सहित मृषा । विवज्जए= नहीं बोले ।

भावार्थ—

ज्ञात पुत्र महावीर से कथित इस प्रकार के दोष को देखकर मेधावी साधु अल्पमात्र भी कपट पूर्ण मृषा नहीं बोले ।

८

सूल—

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थभिक्खू सुप्पणिहिइंदिए,तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि
त्ति बेमि ॥५०॥

हिन्दी पद्य—

भिक्षा दोषों की शुद्धि सीख, संयमी ज्ञानी मुनिजन संग में ।
दान्त तीव्र लज्जालु गुणी, मुनि विहरे निर्भय हो जग में ॥

अन्वयार्थ—

बुद्धाण=तत्व के ज्ञाता-गीतार्थ । संजयाण=सन्तों के । सगासे= पास । भिक्खेसणसोहिं=गवेषणा की शुद्ध विधि को । सिक्खिऊण=सीखकर । तिव्वलज्ज=दोष से लजाने वाला । गुणवं=गुणवान् । भिक्खू=साधु । तत्थ=उस एषणा में । सुप्पणिहिइंदिए=जितेन्द्रिय और स्थिरचित्त होकर । विहरिज्जासि=विचरे । त्तिबेमि=ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थ—

सुधर्मा कहते है-तत्त्वज्ञ मुनियों के पास भिक्षा में एषणा शुद्धि की शिक्षा लेकर दोषों से बचने वाला गुणवान् साधु आहार आदि की गवेषणा में जितेन्द्रिय और स्थिर चित्त होकर विचरे ।

(पंचम अध्ययन द्वितीय उद्देशक समाप्त)

महाचार-कथा
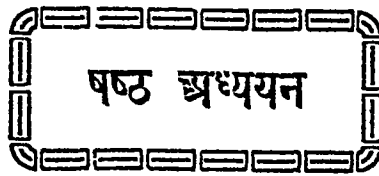
षष्ठ अध्ययन

उपक्रम

छठे अध्ययन का नाम महाचार कथा है। तीसरे अध्ययन की अपेक्षा इसमें आचार-स्थान का विस्तार से वर्णन होने से इसका नाम महाचार कथा है। जैसाकि निर्युक्तिकार ने कहा है- "जो पुव्वि उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो। सच्चेव य होइ कहा, आयारकहाए महईए। नि० २४५" तीसरे अध्ययन में निषेध पक्ष में अनाचारों का कथन किया गया, किन्तु इस अध्ययन में आचार के १८ स्थानों का सहेतुक वर्णन किया है। हिंसा-मृषा-अदत्त-त्याग, मैथुन विरति, परिग्रह त्याग, रात्रि-भोजन-विरमण आदि को २-३ गाथा से हेतु पूर्वक समझाया गया है। छोटे-बड़े सब साधुओं के लिए इन १८ स्थानों का पालन आवश्यक बतलाया है। श्रमणाचार को संक्षेप में सरल ढंग से लिखकर सूत्रकार ने सर्व साधारण पाठकों के लिए बड़ा उपकार किया है।

श्रमण जीवन की चर्या में इन १८ स्थानों में जैन साधु के आचार का सम्पूर्ण प्रतिपादन होता है। श्रमण के आचार गोचर को भयंकर कहा है। यहां सूत्रोक्त १८ स्थानों में साध्वाचार की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है—

"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं। पलिअकं निसेज्जा य सिणाणं सोभवज्जणं ॥" (नि. ॥२६८॥) हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन, विरमण रूप ६ व्रत के ६ स्थान पृथ्वी-जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय की रक्षा के ६ स्थान, इस तरह १२। सदोष आहार, उपाश्रय, वस्त्र और पात्र का त्याग १३, गृहस्थ के भाजन में आहार-पानी वर्जन १४, पर्यङ्क १५, निषद्या १६, गृहस्थ के यहां बैठने का त्याग, स्नान १७, शरीर और वस्त्र आदि की सजावट-शोभा इन दोनों का त्याग १८।

ये १८ स्थान श्रमण-निर्ग्रन्थ के लिये वर्जनीय है। इस प्रकार पंच महाव्रत से लेकर विभूषावर्जन तक के मूलोत्तर गुणरूप सम्पूर्ण साधु आचार का वर्णन होने से इस अध्ययन को "महाचार कथा" कहा गया है। निर्युक्तिकार ने इसका दूसरा नाम 'धर्मार्थकाम' भी बतलाया है। अध्ययन की चतुर्थ गाथा में साधु को 'धर्मार्थकाम' कहा गया है। जैसे-'हंदि धम्मत्थकामाणं' मोक्ष रूप धर्म के अर्थ की कामना करने वाले निर्ग्रन्थों का आचार इसमें बतलाया गया है। इसी बात को निर्युक्तिकार निम्न शब्दों में कहते हैं—

धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणावाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा, धम्मत्थ कामत्ति॥ नि० २६५॥

अर्थात् धर्म का फल मोक्ष है, जो शाश्वत, अनुपम, शिव - उपद्रव रहित, और निराबाध है। साधु उसकी इच्छा वाले हैं, इसलिए अध्ययन का नाम 'धमार्थकाम' रखा गया है। इसकी ६८ गाथाएं हैं।

इसमें यह खास विशेपता है कि साधक हिंसा, मृषावाद, मैथुन और रात्रि-भोजन आदि का त्याग क्यों करे? इसकी सहेतुकता बताकर व्रत ग्रहण की शिक्षा दी गई है। जैसे-"अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए' मृषावाद लोको में अविश्वास का कारण है, इसलिये इसका वर्जन करना चाहिये।

इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी बताया है। अध्ययन बहुत ही मननीय और पुनः पुनः पठनोय है। पंचम अपरिग्रह व्रत में घी, तेल, गुड़ आदि के संचय करने का ही नहीं सन्निधि की इच्छा का भी निषेध किया है। परिग्रह त्यागी के पास वस्त्र-पात्र-कम्वल आदि कैसे? इसके उत्तर में यहां कहा गया है—तंपि संजम लज्जट्ठा धारन्ति परिहरन्ति य॥ दशवै० गाथा २०॥

अर्थात् वस्त्र, पात्र, आदि भी निर्ग्रन्थ, संयम और लज्जा के लिये ही रखते और उपयोग में लेते हैं। इसलिये यह परिग्रह नहीं है। "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।" क्योंकि मूर्च्छा ही परिग्रह कहा गया है। साधु सर्वत्र संयम की रक्षा के निमित्त वस्त्र पात्र आदि उपधि को ग्रहण करते हैं। वे अपने शरीर पर भी ममत्व भाव का सेवन नहीं करते। छठे रात्रि-भोजन विरमण स्थान में रात्रि-भोजन के ग्रहण में दोष बतलाकर उसका निषेध करने के साथ मुनि की चर्या का उल्लेख करते हुए कहा है— अहो णिच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहि वण्णियं। जा य लज्जा समावित्ती एगभत्तं च भोयणं।"

साधु का आश्चर्य जनक नित्य तप है, संयम के अनुकूल वृत्ति और एक भक्त का भोजन ! (विशेष टिप्पणी में देखे)

मूल—

नाण – दंसण – संपन्नं, संजमेय तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ॥१॥

हिन्दी पद्य—

ज्ञान और दर्शन वाले, संयम और तप के जो धारक।
उद्यान पधारे गणिप्रवर, आगम विद्या के थे ज्ञायक ॥

अन्वयार्थ—

णाणदंसणसंपन्नं=सम्यक् ज्ञान और दर्शन से युक्त। संजमे=सत्तरह प्रकार के संयम। य=और। तवे रयं=अन्तरंग-बहिरंग तप में रमण करने वाले। आगम संपन्नं=आगमों के ज्ञाता। गणिम्=आचार्य देव। उज्जाणम्मि=नगरी के उद्यान में। समोसढं=पधारे।

भावार्थ—

किसी समय नगर के उद्यान में ज्ञान दर्शन से युक्त, संयम और तपस्या में रमण करने वाले आगमों के ज्ञाता आचार्य का पदार्पण हुआ। नये साधुओं को देखकर नागरिकों में जिज्ञासा होनी सहज है, नगर के प्रमुख, आचार्य से पूछते हैं-

मूल—

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति णिहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ?॥२॥

हिन्दी पद्य -

राजा राजमंत्री ब्राह्मण, क्षत्रिय सब शुद्ध हृदय वाले।
आकर पूछे सविनय, गणी से आचार संत कैसा पाले ॥

अन्वयार्थ—

रायाणो=राजा। रायमच्चा=राजमन्त्री। य=और। माहणा=ब्राह्मण। अदुव=अथवा। खत्तिया=क्षत्रियों ने। णिहुअप्पाणो=स्थिरमन

और भक्ति पूर्वक आचार्य देव से। पुच्छंति=पूछा। मे=हे भगवन् आपका आयारगोयरो=आचार-गोचर। कहं=किस प्रकार का है?

भावार्थ—

विधि के अनभिज्ञ नगरी के राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि स्थिर मन और विनय से पूछने लगे कि महाराज! आपका आचार धर्म कैसा है?

मूल—

तेसिं सो णिहुओ दंतो, सव्वभूयसुहावहो।
सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ वियक्खणो ॥३॥

हिन्दी पद्य—

निश्चल मन दमितेन्द्रिय वे, सुखदायक सारे जीवों के।
शिक्षा में संपन्न विचक्षण, बोले उत्तर उन प्रश्नों के॥

अन्वयार्थ—

तेसिं सो=उन राजा आदि को। णिहुओ=स्थिर चित्त। दंतो=जितेन्द्रिय। सव्वभूयसुहावहो=सब प्राणियों का सुखैषी। सिक्खाए=आसेवना और ग्रहण शिक्षा से। सुसमाउत्तो=युक्त वह। वियक्खणो=विचक्षण आचार्य। आयक्खइ=अपना आचार धर्म बतलाते हैं।

भावार्थ—

स्थिरचित्त, जितेन्द्रिय और सब जीवों के हितकारी, शिक्षा संपन्न वे विचक्षण आचार्य उन राजा एवं मन्त्रियों को अपना आचार बताते हुए कहने लगे।

मूल—

हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे।
आयारगोयरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठियं ॥४॥

हिन्दी पद्य—

देवानुप्रिय! सुनलो मुझसे, धर्मेच्छुक निर्ग्रन्थों का।
महाभीम आचार जान लो, भैक्ष्य कठिन पाना उनका॥

अन्वयार्थ—

हंदि=अय जिज्ञासुओ। धम्मत्थकामाणं=धमार्थ कामी। निग्गंथाणं=निर्ग्रन्थों का। सयलं=सम्पूर्ण। आयारगोयरं=आचार गोचर। भीमं=कठोर और। दुरहिट्ठियं=कायर जनों के लिये दुःशक्य है। मे=वह मेरे से। सुणेह=श्रवण करो।

भावार्थ

आचार्य कहते हैं कि प्रेमी जिज्ञासुओ। धमार्थकामी निर्ग्रन्थों का सम्पूर्ण आचार कठोर एवं साधारण जनों के लिये अत्यन्त कठिन है। उसका संक्षिप्त परिचय जिस प्रकार है, वह श्रवण करो।

मूल—

णण्णत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, ण भूयं ण भविस्सइ ॥५॥

हिन्दी पद्य—

ऐसा न कहा अन्यत्र कहीं, पालन जिसका है अति दुष्कर।
होगा न हुआ मोक्षार्थी का, आचार उच्च इससे बढ़कर ॥

अन्वयार्थ—

एरिसं=इस प्रकार का। परमदुच्चरं=परम दुष्कर आचार। णण्णत्थ=अन्यत्र-अन्यमतों में कहीं। ण=नहीं। वुत्तं=कहा गया है। जं=जो। विउलट्ठाणभाइस्स=विपुल स्थान-मोक्षगामी पुरुषों के लिये। लोए=लोक में अन्यत्र। ण भूयं=हुआ नहीं। ण भविस्सइ=और होगा नहीं।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थों का ऐसा मार्ग लोक में अन्यत्र कहीं नहीं कहा गया है विपुल मोक्षरूप अर्थ के भागी सुसाधुओं का मार्ग ऐसा हुआ नहीं और होगा नहीं।

मूल—

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंड फुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥६॥

हिन्दी पद्य—

हो बालक वृद्ध तथा रोगी, सबके हित जो गुण होते हैं।
वे अखंड पालन करते हैं, है जैसे उनको कहते हैं॥

अन्वयार्थ—

सखुड्डगवियत्ताणं=बालक, वृद्ध । च=और । वाहियाणं=रोग-ग्रस्तों के लिये । जे गुणा=जिनगुणों का । अखंड फुडिया=अखंड और स्पष्ट । कायव्वा=पालन करने योग्य है । तं जहा=उसका स्वरूप जैसा है। तहा=वैसा । सुणेह=श्रवण करो ।

भावार्थ—

गाथा में बताया गया है कि यह आचार गोचर छोटे बड़े सब साधुओं के पालन योग्य है । बालक, वृद्ध और रोगी साधकों के लिये जो गुण निर्दोष पालन योग्य है उनका यथा तथ्य वर्णन श्रवण करो ।

▭

मूल—

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ ।
तत्थ अण्णयरे ठाणे, णिग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥७॥

हिन्दी पद्य—

जो बाल अठारह स्थानों में, अपराध धर्म का करता है ।
उनमें जहां प्रमादी बन, चारित्र धर्म से गिरता है ॥

अन्वयार्थ—

दस=दश । य=और । अट्ठ=आठ । ठाणाइ=ये १८ आचार स्थान है । जाइम्=जिनमें । बालो=मंदमति साधु । अवरज्झइ=दण्ड भागी होता है । तत्थ=उन १८ स्थानों में । अण्णयरे ठाणे=किसी एक स्थान में चूककर । णिग्गंथत्ताउ=मुनि निर्ग्रन्थ धर्म से । भस्सइ=फिसल जाता है ।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी के १८ आचार स्थान है, मंदमति इनमें से किसी एक स्थान पर अपराध करके निर्ग्रन्थ धर्म-साधु धर्म से फिसल जाता है ।

▭

मूल—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक णिसिज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ॥८॥

हिन्दी पद्य—

षट्काय यतन, षट् व्रत पालन, दूषित अशनादिक, गृहि भाजन।
पर्यंक-निषद्या और स्नान, शोभा शृंगार करे वर्जन ॥

अन्वयार्थ—

वयछक्कं=छः व्रत। कायछक्कं=षट्काय का रक्षण। अकप्पो=अकल्पनीय-वस्त्रादि। गिहिभायणं=गृहस्थ का भाजन। पलियंक=पलंग। णिसिज्जा=निषद्या। य=और। सिणाणं=स्नान करना। सोहवज्जणं=शोभा-शृंगार इनका वर्जन करना निर्ग्रन्थ का आचार है।

भावार्थ—

१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अदत्तादान-विरमण, ४ ब्रह्मचर्य, ६. अपरिग्रह, ६. रात्रि भोजन विरमण व्रत, ७. षट्काय रक्षण-पृथ्वीकाय रक्षण, ८. अपकाय रक्षण, ९. तेउकाय रक्षण, १०. वायुकाय रक्षण, ११. वनस्पति काय रक्षण, १२. त्रसकाय रक्षण, अकल्प-पिंड, शय्या, वस्त्र, पात्र सदोष नहीं लेना, १३. गृहिभाजन-थाल-कटोरे आदि, १४. पलंग, १५. निषद्या-गादी, कुर्सी आदि, १६. स्नान, १७. तेल, पाउडर आदि का वर्जन करना इन १८ स्थानों में साधु के मूल आचार का परिचय मिलता है।

मूल—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥९॥

हिन्दी पद्य—

अष्टादश उन स्थानों में, प्रभु ने देखा है इसे प्रथम।
है सफल अहिंसा इस जग में, सब प्राणी में रखना संयम ॥

अन्वयार्थ—

तत्थिमं=उन १८ स्थानों में। सव्वभूएसु=सब जीवों पर यतना करने रूप। इमं=इसको। महावीरेणं=महावीर देव ने। पढमं=पहला।

ठाणं=स्थान । देसियं=बतलाया है । अहिंसा=अहिंसा को प्रभु ने । णिउणा=निपुण-पाप से बचाने में सक्षम । दिट्ठा=देखा है ।

भावार्थ –

अठारह स्थानों में सब जीवों पर यतना रूप अहिंसा को भगवान् महावीर ने पाप से बनाने में सक्षम देखा है । यह प्रथम स्थान है ।

मूल—

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, ण हणे णो वि घायए ।।१०।।

हिन्दी पद्य—

जितने इस जग में प्राणी हैं, त्रस अथवा स्थावर के भव में ।
उनको जाने या अनजाने, ना मारे मरवाये जग में ।।

अन्वयार्थ—

लोए=सम्पूर्ण लोक में । तसा=त्रस । अदुव=अथवा । थावरा=स्थावर । जावंति=जितने । पाणा=प्राणी हैं । ते जाणं=उनको जानते । वा=अथवा । अजाणं=अजानते । ण हणे=हिंसा करे नहीं । णो वि=और नहीं । घायए=करवाना भी ।

भावार्थ—

सम्पूर्ण लोक त्रयी में त्रस अथवा स्थावर–स्थितिशील जितने जीव हैं, उनकी निर्ग्रन्थ-साधु-साध्वी हिंसा करे नहीं, करावे भी नहीं । उपलक्षण से अनुमोदन भी समझ लेना चाहिये ।

मूल—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं ण मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं ।।११।।

हिन्दी पद्य—

सभी जीव जीना चाहते, कोई भी मरण नहीं चाहते ।
इसलिये जीव-वध है दारुण, निर्ग्रन्थ सदा वर्जन करते ।।

अन्वयार्थ—

सव्वे=त्रस और स्थावर। वि=सभी। जीवा=जीव। जीविउं=जीना। इच्छंति=चाहते है। मरिज्जिउं=मरना। ण=नहीं. चाहते। तम्हा=इसलिये। पाणिवहं=प्राणी-वध हिंसा को। घोरं=भयंकर जानकर णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ साधु। वज्जयंति=वर्जन करते हैं।

भावार्थ—

संसार के छोटे बड़े सब जीव जीना चाहते हैं मरना कोई नहीं चाहते। इन्द्रासन का इन्द्र और मल में रहने वाला कीड़ा दोनों को जीवन प्रिय है, इसलिये प्राणिवध को भयंकर जानकर निर्ग्रन्थ साधु सर्वदा वर्जन करते हैं।

▭

मूल—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं ण मुसं बूया, णो वि अण्णं वयावए॥१२॥

हिन्दी पद्य—

अपने या परजन के हित में, भय तथा क्रोध के कारण से।
ना बोले हिंसक झूठ कभी, ना ही बुलवाये परजन से॥

अन्वयार्थ—

अप्पणट्ठा=अपने लिये। वा=या। परट्ठा=दूसरे-परिजन के लिये। कोहा=क्रोध से। वा=अथवा। भया=भय से। हिंसगं=हिंसाजनक-पीड़ाकारी। मुसं=मृषा-वचन। ण=नहीं। बूया=बोले। अण्णं=दूसरे को। वयावए=बोलावे भी। णो वि=नहीं।

भावार्थ—

दूसरे व्रत में निर्ग्रन्थ साधु अपने प्रयोजन से या किसी दूसरे के लिये क्रोध से अथवा भय एवं लोभादि कारण से परपीड़ाकारी, मृषावचन स्वयं बोले नहीं, एवं दूसरे से झूठ बोलावे भी नहीं।

-✻-

मूल—

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥१३॥

हिन्दी पद्य—

है सभी साधुओं के द्वारा, मिथ्या भाषण जग में निन्दित।
झूठे पर सबका अविश्वास, अतएव झूठ करदे वर्जित॥

अन्वयार्थ—

लोगम्मि=लोक-संसार में। सव्वसाहूहिं=सब साधुओं ने। मुसावाओ=मृषावाद को। गरिहिओ=गर्हित-निन्दित माना है। य=और। भूयाणं=जन समाज में। अविस्सासो=अविश्वास का कारण है। तम्हा=इसलिये। मोसं=मृषावाद का। विवज्जए=वर्जन करना उचित है।

भावार्थ—

मृषा-असत्य भाषण संसार में सब मतों के साधुओं ने निन्दित माना है, और यह व्यवहार में अविश्वास का कारण है। इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि को सर्वथा असत्य भाषण का वर्जन करना चाहिये।

मूल—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया॥१४॥

हिन्दी पद्य—

यदि हो सचित्त अथवा अचित्त, थोड़ा अथवा हो अधिक बहुत।
है दंत-विशोधन का तृण, अवग्रह से लेना याचित॥

अन्वयार्थ—

चित्तमंतं=चेतनावान्-पशु पक्षी, शिष्यादि। वा=अथवा। अचित्तं=अचित्त-सोना चांदी, शास्त्र आदि। अप्पं=थोड़ा। वा=अथवा। बहुं=बहुत। दंतसोहणमित्तं=दांत कुरेदने को तृणमात्र भी। उग्गहंसि=स्वामी की अनुमति। अजाइया=बिना लिये ग्रहण करता अदत्त है।

भावार्थ

जैन साधु का व्रत है कि—मनुष्य, पक्षी-पशु सजीव और शास्त्र पुस्तक आदि निर्जीव पदार्थ थोड़ा हो अथवा बहुत हो निर्ग्रन्थ-साधु दांत शोधन को तृणमात्र भी स्वामी की आज्ञा विना नहीं ले। ऐसा लेना अदत्त है।

मूल—

तं अप्पणा ण गिण्हंति, णो वि गिण्हावए परं।
अण्णं वा गिण्हमाणं पि, णाणुजाणंति संजया ॥१५॥

हिन्दी पद्य—

करते न ग्रहण हैं स्वयं उसे, ना औरों से करवाते हैं।
लेते हुए अदत्त अन्य को, मुनि अनुमोदन ना करते हैं ॥

अन्वयार्थ—

तं=वैसा दाता की बिना अनुमति वाला पदार्थ जो अदत्त है, उसको। अप्पणा=स्वयं। ण गिण्हंति=ग्रहण नहीं करते। परं=दूसरे से। णो गिण्हावए=ग्रहण करवाते नहीं। अण्णं वा=अन्य। गिण्हमाणं=ग्रहण करने वाले को भी। संजया=संयमी साधु। णाणुजाणंति=अनुमोदन नहीं करते।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थों का तीसरा व्रत है कि साधु अदत्त पदार्थ को स्वयं ग्रहण करते नहीं, दूसरे से ग्रहण करवाते नहीं, और दूसरे अदत्त ग्रहण करने वाले का भी अनुमोदन नहीं करते।

मूल—

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
णायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

है घोर प्रमाद अब्रह्मचर्य, और दुष्परिणाम विधायक है।
आचरण न मुनि जग में करते, यह संयम-धर्म विघातक है ॥

अन्वयार्थ—

भेयाययणवज्जिणो=चारित्र भंग के स्थानों का वर्जन करने वाले। मुणी=मुनिजन। लोए=लोक में। अबंभचरियं=अब्रह्मचर्य को। घोरं=भयंकर। पमायं=प्रमाद। दुरहिट्ठियं=एवं दुःखदायी मानकर। णायरंति=आचरण नहीं करते हैं।

भावार्थ—

संयम धर्म को दूषित करने के कारणों का वर्जन करने वाले मुनि अब्रह्मचर्य को भयंकर प्रमाद और दुःख का हेतु जानकर सदा वर्जन करते हैं।

▭

मूल—

मूलमेयमहम्मस्स, महोदोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, णिग्गंथा वज्जयंति णं ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

अधर्म का है मूल तथा, है वर्धक सब गुरु-दोषों का।
अतएव साधु जन तज देते, संसर्ग यहां सब मैथुन का ॥

अन्वयार्थ—

एयं=यह-अब्रह्मचर्य। अहम्मस्स=अधर्म का। मूलं=मूल। महा-दोससमुस्सयं=बड़े दोषों को बढ़ाने वाला है। तम्हा=इसलिये। णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ-साधु। मेहुणसंसग्गं=मैथुन के संसर्ग को। वज्जयंति=वर्जन करते हैं।

भावार्थ—

अब्रह्मचर्य बड़े दोषों को बढ़ाने वाला है ऐसा जानकर निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन का वर्जन करते हैं।

▭

मूल—

बिडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं।
ण ते संणिहिमिच्छंति, णायपुत्तवओरया ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

विड लवण समुद्र लवण एवं, साधारण लवण तेल गुड़ भी।
जो वीर-वचन में रत है मुनि, ना रखे इनको पास कभी ॥

अन्वयार्थ—

णायपुत्तवओरया=ज्ञात-पुत्र के वचनों में अनुरक्त। ते=वे मुनि-पंचम व्रत में। विडं=विड लवण। उब्भेइमं=समुद्री लवण। लोणं=सादा

नमक। तिल्लं=तेल। सप्पि=सर्पि-घी। च=और। फाणियं=गीले गुड़ को। संणिहिं=रात्रि में रखना। ण=नहीं। इच्छन्ति=चाहते हैं।

भावार्थ—

महावीर प्रभु के वचनों में श्रद्धा रखने वाले मुनि सब प्रकार का अचित्त लवण, तेल, घी और गुड़ आदि पदार्थों को रात्रि में पास नहीं रखें।

मूल—

लोहस्सेस अणुप्फासो, मण्णे अण्णयरामवि।
जे सिया संणिहिकामे, गिही पव्वइए ण से ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

है यह लोभ प्रभाव कदाचित्, कोई कुछ सन्निधि चाहे।
इससे गृहस्थ वह बन जाता, प्रव्रजित रूप ना शोभाये॥

अन्वयार्थ—

एस=खाद्य वस्तुओं को रात में रखना। लोहस्स=लोभ का। अणुप्फासे=एक प्रभाव है। मण्णे=तीर्थंकर मानते हैं कि। अण्णयरामवि=थोड़ी सी भी। जे=जो। सिया=कदाचित्। संणिहिकामे=संग्रह की इच्छा करते हैं। से=वह आचार में। गिही=गृहस्थ है। पव्वइए=साधु। ण=नहीं है।

भावार्थ—

ब्रह्मचर्य और असंग्रह साधु के मुख्य व्रत हैं, इसलिए कहा कि जो साधु, घी, तेल, गुड़ आदि रात को पास रखता है, वह लोभ का प्रभाव है। इसलिए प्रभु ने कहा कि जो थोड़ा भी खाद्य आदि का रात को संग्रह करता है वह आचार में गृहस्थ है, साधु नहीं।

मूल—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

मुनि, वस्त्र-पात्र अथवा कम्बल, या रजोहरण करते धारण।
वे भी संयम लज्जा हित में, करते प्रयोग अथवा धारण॥

अन्वयार्थ—

जं पि=जो भी। वत्थं=वस्त्र। पायं=पात्र। वा=अथवा। कंबलं=कम्वल। पायपुंछणं=रजोहरण रखते हैं। तं पि=वह भी। संजमलज्जट्ठा=संयम की रक्षा और लज्जा के लिए। धारंति=रखते। य परिहरंति=और पहनते-उपयोग में लेते हैं।

भावार्थ—

साधु के पास वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि देखकर शंका हो सकती है, कि फिर ये वस्त्रादि क्यों रखते हैं? उत्तर में शास्त्र कहता है– साधु जो वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरणादि रखते हैं, परीषहों को सरलता से जीतने और संयम धर्म की रक्षा के लिये रखते हैं, उनको संग्रह की इच्छा से नहीं रखते।

मूल—

न सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

उस त्रायी ज्ञातपुत्र प्रभु ने, ना इन्हें परिग्रह बतलाया।
आसक्ति परिग्रह कहलाती, ऐसा जिनवर ने है गाया॥

अन्वयार्थ—

ताइणा=षट्काय के रक्षक। णायपुत्तेण=ज्ञात पुत्र ने। सो=वह वस्त्रादि धारण। परिग्गहो=परिग्रह। ण=नहीं। वुत्तो=कहा है। मुच्छा=क्योंकि मूर्छा। परिग्गहो=परिग्रह। वुत्तो=कहा है। इइ=ऐसा। महेसिणा=गणधर महर्षि ने। वुत्तं=कहा है।

भावार्थ—

षट्काय जीवों के रक्षक श्रमण भगवान् महावीर ने वस्त्रादि उपकरण रखने को परिग्रह नहीं कहा है। क्योंकि वास्तव में मूर्च्छा परिग्रह है। ऐसा महर्षि गणधरों ने कहा है।

मूल—

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि णायरंति ममाइयं॥२२॥

हिन्दी पद्य—

सर्वत्र उपधि धारक ज्ञानी, संरक्षण हेतु परिग्रह में।
रखते ममत्व ना थोड़ा भी, अपने भी तो प्यारे तन में ।।

अन्वयार्थ—

बुद्धा=तत्त्व के ज्ञाता। सव्वत्थ=सर्वदा। उवहिणा=रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपकरण। संरक्खण=संयम रक्षण के लिए। परिग्गहे=ग्रहण करते हैं। अवि=उपधि तो क्या। अप्पणो=अपने। देहम्मि=शरीर पर भी। ममाइयं=ममता भाव का। णायरंति=आचरण नहीं करते।

भावार्थ—

जिन शासन के ज्ञाता मुनि सर्वत्र रजोहरणादि उपकरणों को संयम रक्षा के लिये ही ग्रहण करते हैं। स्थविरकल्पी ही नहीं, कम से कम दो उपकरण - रजोहरण व मुखवस्त्रिका जिनकल्पी मुनि भी रखते हैं। उन उपकरणों पर ममत्व नहीं होता। उपकरण की क्या बात ज्ञानवान् मुनि अपने शरीर पर भी मूर्च्छाभाव तथा ममता भाव नहीं रखते।

मूल—

अहो णिच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जा समावित्ती, एगभत्तं च भोयणं ।।२३।।

हिन्दी पद्य—

अहो! सभी तीर्थङ्कर ने यह, नित्य कर्म तप बतलाया।
भिक्षा से एक समय भोजन, है संयम के अनुरूप अहा ।।

अन्वयार्थ—

अहो=आश्चर्य है। सव्वबुद्धेहिं=सब तीर्थङ्करों ने। णिच्चं=ऐसा नित्य। तवोकम्मं=तपः कर्म। वण्णियं=वर्णन किया है। जा य=जो कि। लज्जासमा=संयम के अनुकूल। वित्ती=वृत्ति - जीविका। एगभत्तं=और एक बार। भोयणं=आहार करना कहा है।

भावार्थ—

साधुओं के लिये तीर्थङ्करों ने ऐसा नित्य तपः कर्म कहा है कि संयम के अनुकूल वृत्ति हो और बिना कारण एक बार आहार ग्रहण हो!

मूल—

संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो; कहमेसणियं चरे ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

ये सूक्ष्म जीव रहते भू पर, त्रस अथवा स्थावर योनि के ।
रज में दृष्टि न आते हैं, निर्दोष अशन ले किस घर के ॥

अन्वयार्थ—

इमे सुहुमा=ये बहुत से सूक्ष्म । पाणा=प्राणी । तसा=त्रस । अदुव=अथवा । थावरा=स्थावर । संतिमे=हैं । जाइं=जो । राओ=रात्रि में । अपासंतो=दृग्गोचर नहीं होते, फिर । एसणियं=निर्दोष भिक्षा के लिये । कहं=कैसे । चरे=भ्रमण हो सकता है ।

भावार्थ—

बहुत से सूक्ष्म प्राणी त्रस अथवा स्थावर के रूप से रहते हैं जो रात्रि में दृष्टिगोचर नहीं होते, ऐसी स्थिति में रात्रि को निर्दोष भिक्षा के लिये कैसे जाना हो सकता है ?

मूल—

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा णिवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥२५॥

हिन्दी पद्य—

कच्चा जल बीजादि युक्त, पृथ्वी पर प्राणी रहते हैं ।
दिन में वे टाले जा सकते, कैसे निशि में चल सकते हैं ? ॥

अन्वयार्थ—

महिं=भूमि पर । उदउल्लं=पानी का गीलापन । बीयसंसत्तं=सचित्त बीजों का संसर्ग । पाणा=और पतंगादि प्राणी । णिवडिया=पड़े होते है । ताइं=उनका । दिया=दिन में । विवज्जिज्जा=बचाव किया जा सकता है । राओ=रात्रि में । तत्थ=उनकी रक्षा में । कहं=कैसे । चरे=चला जायेगा ।

भावार्थ—

भूमि पर कहीं सचित्त बीज बिखरे होते, कहीं पानी भरा या गीला होता, कहीं पतंगादि गिरे होते हैं, उनको दिन में देखकर बचाया जा सकता है, किन्तु रात में वहां कैसे चला जायेगा, सूक्ष्म जीवों की रक्षा सम्भव नहीं होती।

मूल—

एयं च दोसं दट्ठूणं, णायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं ण भुंजंति, णिग्गंथा राइभोयणं ॥२६॥

हिन्दी पद्य—

सूक्ष्म दृष्टि से इन दोषों को, देख वीर ने कहा वचन।
निर्ग्रन्थ सकल अशनादि का, ना करते है निशि में भक्षण ॥

अन्वयार्थ—

णायपुत्तेण=ज्ञात पुत्र श्री महावीर द्वारा। भासियं=कथित। एयं=इस। दोसं=दोष को। दट्ठूण=देखकर। णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ मुनि। राइभोयणं=रात्रि भोजन में। सव्वाहारं=अशन आदि कोई आहार। ण=नहीं। भुंजंति=सेवन करते-खाते हैं।

भावार्थ—

जिनेश्वर भगवान् महावीर ने रात्रि भोजन में छोटे बड़े जीवों की हिंसा का दोष कहा है। इस बात को ध्यान में लेकर निर्ग्रन्थ छट्ठे व्रत में किसी भी प्रकार का आहार-जो खाया अथवा पिया जाय रात्रि को नहीं खाते है। खाने की तो बात क्या व्रती साधु रात में कभी दिन में खाये पदार्थ का गुचलका आ जाय तो उसे भी पीछा निगलना दोष रूप मानता है।

मूल—

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥२७॥

हिन्दी पद्य—

हिंसा न करे पृथ्वीकायिक को, तन, मन एवं निज वचनों से।
सम्यक् समाधि वाले संयत, त्रिकरण तथा त्रियोगों से ॥

अन्वयार्थ—

सुसमाहिया=समाधि भाव वाला। संजया=संयमी साधु। पुढविकायं=पृथ्वीकाय की। न हिंसंति=हिंसा नहीं करते। मणसा=मन। वयसा=वचन और। कायसा=काया से। तिविहेण=तीन प्रकार के। करणजोएणं=करण और योग से पृथ्वी की हिंसा का वर्जन करते है।

भावार्थ—

सातवें स्थान में साधु के लिये पृथ्कीकायिक जीवों की हिंसा का सर्वथा निषेध वतलाया है। शस्त्र परिणत अचित्त पृथ्वी के अतिरिक्त सूक्ष्म वादर सव पृथ्वीकायिक हिंसा साधु तीन करण और तीन योग अर्थात्-मन, वाणी और काया से हिंसा का वर्जन करते हैं।

मूल—

पुढवीकायं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए।
तसे य विवहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥२८॥

हिन्दी पद्य—

हिंसा पृथ्वीकायिक करते, आश्रित का भी वध करता है।
त्रस या नानाविध वे प्राणी, दृष्टि में आवे नहीं आवे ॥

अन्वयार्थ—

पुढवीकायं=पृथ्वीकाय के जीवों की। विहिंसंतो=हिंसा करने वाला। तयस्सिए=तदाश्रित-पृथ्वी के आश्रित। चक्खुसे=चाक्षुष। य अचक्खुसे=और अचाक्षुष। विविहे=विविध प्रकार के। तसे=त्रस। पाणे=प्राणियों और स्थावरों की। हिंसइ उ=हिंसा कर लेता है।

भावार्थ—

पृथ्वीकायिक की हिंसा करते समय केवल पृथ्वी के जीवों की ही हिंसा नहीं होती तदाश्रित अन्य अनेकों चाक्षुष अचाक्षुष त्रस और स्थावर जीवों की भी हिंसा कर जाता है। पृथ्वी के आश्रय में छोटे, बड़े कीड़े छिपे रहते हैं, और पृथ्वी के छेदन भेदन करते, जलकाय वनस्पतिकाय और वायु का आरम्भ भी सहज हो जाता है।

मूल—

तम्हा एवं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥२९॥

हिन्दी पद्य —

दुर्गति वर्धक यह दोष कहा, इसलिये जान करके मन से।
पृथ्वीकायिक का आरम्भ तज, जीवन भर शुद्ध हृदय तन से।

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। दुग्गइवड्ढणं=नरकादि दुर्गति को बढ़ाने वाले। एवं=इस। दोसं=दोष को। वियाणित्ता=जानकर साधु। पुढविकाय-समारंभं=पृथ्वीकाय के आरम्भ का। जावज्जीवाए=जीवन भर के लिये। वज्जए=वर्जन करता है।

भावार्थ—

पृथ्वीकाय की विराधना दुर्गति को बढ़ाने वाली है, इस दोष को जानकर कल्याणार्थी साधु पृथ्वीकाय के जीवों का आरम्भ जीवन भर के लिये वर्जन कर दे। मन्दमति लोग धर्म, अर्थ और काम के लिये हिंसा करते है। जैसा कि आचारांग में कहा है-"धम्मा, अत्था, कामा हणंति" किन्तु महाव्रती साधु सनिमित्तक या अनिमित्तक पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते, इसके लिये आचारांग का प्रथमाध्ययन और दशवैकालिक का चतुर्थ-धर्म प्रज्ञप्ति अध्ययन जिज्ञासु के लिये दृष्टव्य हैं।

मूल—

आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥३०॥

हिन्दी पद्य—

अपकाय की न हिंसा मुनि करते, मन से वाणी वा काया से।
चित्तसमाधि युक्त संयमी, त्रिविधकरण और योगों से॥

अन्वयार्थ—

सुसमाहिया=समाधि भाव वाले। संजया=संयमी साधु। मणसा=मन। वयसा=वचन। कायसा=और काया से। तिविहेण=त्रिविध।

करणजोएणं=करण और योग से। आउकायं=अपकाय की। न हिंसंति=हिंसा नहीं करते हैं।

भावार्थ—

अपकाय-जल जीवों का पिंड है, जलकाय और उसके आश्रित सहस्रो अन्य जीव अन्यमत में भी माने गये है। उनमें भी विना छने पानी के उपयोग का निषेध किया गया है। आचारांग के प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक चतुर्थ अध्ययन में अपकाय के जीवों की हिंसा पर विस्तार से विचार किया गया है। यहां निर्ग्रन्थ के धर्म स्थान की अपेक्षा कहा है कि संयमी साधु मन, वचन, और काया से त्रिविध करण और योगों से जलकाय के जोवों की सर्वथा हिंसा नहीं करते हैं।

मूल—

आउकायं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥३१॥

हिन्दी पद्य—

अप्काय की हिंसा में, आश्रित का भी वध करता है।
त्रस स्थावर नाना जीवों का, चाक्षुष बिन चाक्षुष हरता है॥

अन्वयार्थ—

आउकायं=अप्काय की। विहिंसंतो=हिंसा करने वाला। तयस्सिए=जल के आश्रित। चक्खुसे=चाक्षुष और। अचक्खुसे=अचाक्षुष। विविहे=विविध प्रकार के। तसे य=त्रस और स्थावर। पाणे हिंसइ=प्राणियों की हिंसा करता है।

भावार्थ—

इसलिये कि जल में अगणित चलते फिरते प्राणी है, यह कहा गया है कि जलकाय के जीवों की हिंसा करने वाला जल के आश्रित दृश्य, अदृश्य, अगणित जावों की हिंसा करता है।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥३२॥

हिन्दी पद्य—

दुर्गति वर्द्धक दोष कहा, अतएव जान करके मन से।
अप्कायिक का वध तज देना, जीवन भर शुद्ध हृदय तन से॥

अन्वयार्थ—

तम्हा एयं दुग्गइवड्ढणं=इसलिये, इस दुर्गति वढ़ाने वाले। दोसं=दोष को। वियाणित्ता=जानकर। जावज्जीवाए=जीवन भर के लिये। आउकायसमारंभं=अप्काय के आरम्भ का। वज्जए=सर्वथा वर्जन करते हैं।

भावार्थ—

आठवें धर्म स्थान में निर्ग्रन्थों के लिये अप्काय के जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है क्योंकि पृथ्वीकाय की तरह अप्काय की हिंसा भी दुर्गति वढ़ाने वाली है, इसलिये इस दोष को जानकर साधु जीवन भर के लिये अप्काय का समारम्भ वर्जन करते हैं।

मूल—

जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमण्णयरं सत्थं, सव्वओवि दुरासयं॥३३॥

हिन्दी पद्य—

जाततेज है पाप जनक, इनका मुनि जलन नहीं करते।
तीक्ष्ण अन्यतर शस्त्र बड़ा, सब ओर जीव पकड़े जाते॥

अन्वयार्थ—

जायतेयं=साधु जाततेज अग्नि को। पावगं=पापकारी जान। जलइत्तए=जलाना। न इच्छंति=नहीं चाहते हैं। तिक्खं=यह तीक्ष्ण और अण्णयरं=एक अनोखा। सत्थं=शस्त्र है। सव्वओ=सब तरफ से यह। दुरासयं=धारवाला सहना कठिन है।

भावार्थ—

नवमें धर्मस्थान में अग्नि के आरम्भ का वर्णन बतलाया है। जात-तेज बहुत भयंकर शस्त्र है, इसलिये इसको पापकारी कहा है। भाला, बर्छी, तलवार एक ओर से ही हानि करते किन्तु अग्नि ऐसा शस्त्र है कि

यह सब ओर से प्राणियों के लिए तापकारी है, इसलिए निर्ग्रन्थ अग्नि को जलाना नहीं चाहते हैं।

मूल—

पाइणं पडीणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥३४॥

हिन्दी पद्य—

पूर्व और पश्चिम अथवा, ऊँचे और अनुदिक जीवों को।
दक्षिण-उत्तर अधोभाग से, दहन करे पावक जग को ॥

अन्वयार्थ—

पाईणं=पूर्व। वा=अथवा। पडीणं=पश्चिम। उड्ढं=उर्ध्व दिशा। अणुदिसामवि=तथा अनुदिशाएं। अहे=नीची दिशा। दाहिणओ=दक्षिण दिशा। वा=अथवा। उत्तरओ=उत्तर की ओर से भी। दहे=जलाती रहती है।

भावार्थ—

अग्निकाय सब ओर से प्राणियों को जलाती रहती है। पूर्व दिशा, पश्चिम, ऊर्ध्व दिशा, अनुदिशाएं, नीचे की ओर, दक्षिण और उत्तर की ओर पास से आये पदार्थ और प्राणियों को जला देती है। अग्निकाय के जीवों का शरीर ऐसे ही दाह प्रकृति वाला होता है, इसलिये पांच स्थावरों में पृथ्वी, जल और वनस्पति में तो देव जाति के उत्पन्न होते हैं, किन्तु तेजः काय और वायुकाय में देव नहीं जाते हैं।

मूल—

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो ण संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि णारभे ॥३५॥

हिन्दी पद्य—

पावक प्राणी का है घातक, और द्रव्य विनाशक निस्संशय।
अतएव प्रकाश, प्रतापन को, आरंभ न करते हैं संजय।

अन्वयार्थ—

एसं=यह। हव्ववाहो=हव्य का वहन करने वाली-अग्नि। भूयाणं=जीवों के लिये। आघाओ=घात करने वाली है। ण संसओ=इसमें संशय की बात नहीं है। तं=इसलिये। संजया=साधु। पईवपयावट्ठा=प्रकाश और ताप के लिये। किंचि=कुछ भी अग्नि का। णारंभे=आरंभ नहीं करते।

भावार्थ—

साधु प्रकाश और रोशनी के लिये कभी अग्नि का किंचित् भी आरम्भ नहीं करते, क्योंकि अग्नि चाहे चकमक से उत्पन्न होने वाली हो सूर्य किरण का चूल्हा, बेट्री, गैस, या विद्युत आदि की हो, सब विनाशकारी और सचित्त है। दयाव्रती साधु इससे होने वाले जीववध में किसी प्रकार की शंका नहीं करता।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥३६॥

हिन्दी पद्य—

इसलिए दोष दुर्गति वर्द्धक, परिचय पावक का जान श्रमण।
दे छोड़ अग्नि का समारम्भ, हो निर्मल मन यावज्जीवन ॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। दुग्गइवड्ढणं=दुर्गति बढ़ाने वाले। एयं=इस दोसं=दोष को वियणित्ता=जानकर। तेउकायसमारंभं=अग्निकाय के आरम्भ को साधु। जावज्जीवाए=जीवन भर। वज्जए=वर्जन करे।

भावार्थ—

उपरोक्त दोष को जानकर साधु जीवन पर्यन्त अग्निकाय के आरम्भ का वर्जन करते हैं। यह नौवाँ आचार स्थान है।

मूल—

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मण्णंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, णेयं ताईहिं सेवियं ॥३७॥

हिन्दी पद्य—

वायुकाय का समारम्भ, प्रभु अग्निकाय जैसा कहते।
है पाप बहुल अतएव नहीं, त्रायी-मुनि यह सेवन करते॥

अन्वयार्थ—

बुद्धा=तीर्थङ्कर देव। अणिलस्स = वायुकाय के आरम्भ को। तारिसं=अग्निकाय के समान ही। मण्णंति = मानते हैं। एयं च=वह वायुकाय। सावज्जबहुलं=पाप की बहुलता वाला है। ताईहिं=षट्काय के रक्षक मुनियों ने। एयं=इसका आरम्भ। ण=नहीं। सेवियं=सेवन किया है।

भावार्थ—

तीर्थङ्कर देव वायुकाय के आरम्भ को तेजस्काय के समान मानते हैं। प्रचण्ड वायु के झोके में भी हजारों-लाखों वृक्ष धराशायी हो जाते हैं। वायु अग्नि को भी प्रज्वलित करता है। इसको पाप बहुल मानकर षट्काय के रक्षक मुनिजन फूंक अथवा पंखे आदि से वायु का संचालन नहीं करते, वायुकाय की रक्षा के लिये मुख पर भी मुखपत्ती धारण करते हैं।

८

मूल—

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा।
ण ते वीइउमिच्छंति, वेयावेऊण वा परं॥३८॥

हिन्दी पद्य—

तालवृंत या अन्य पत्र, तरु शाखा पंखा या वीजन।
वे करते नहीं हवा इनसे, पर से न कराते कभी 'श्रमण'॥

अन्वयार्थ—

ते=वे निर्ग्रन्थ। तालियंटेण=तालवृंत। पत्तेणं=पत्ते से। वा=अथवा साहाविहुयणेण=शाखा के हिलाने से। वीइउं=हवा करना। ण=नहीं। इच्छंति=चाहते। परं=दूसरे से। वेयावेऊण=हवा कराना भी। वा= नहीं चाहते।

भावार्थ—

निर्ग्रन्थ मुनि वायुकाय की रक्षा के लिये तालवृंत, पंखा या शाखा के कम्पन, हाथ, कपड़े का छोर, पुट्ठे आदि से हवा करते नहीं और दूसरों

से हवा करवाते नहीं, दूसरे ने पंखा चालू किया है, वहां बैठकर अनुमोदन भी नहीं करे।

मूल—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
ण ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति य ॥३९॥

हिन्दी पद्य—

जो वस्त्र पात्र कम्बल अथवा, मुनि धर्म चिन्ह है रजोहरण।
वे इनसे हवा नहीं करते, करते संयम पूर्वक धारण॥

अन्वयार्थ—

ते=वे साधु। जं पि=जो भी। वत्थं=वस्त्र। पायं=पात्र। कंबलं=कम्वल। पायपुंछणं=रजोहरण आदि से। वायं=वायु का। ण उइरंति=उदीरणा भी नहीं करते, किन्तु। जयं=यतना पूर्वक। परिहरंति=रखते और धारण करते हैं।

भावार्थ—

साधु वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि से भी वायु का संचलन नहीं करे। वस्त्रादि को वैसे ही रक्खें और धारण करे जिससे वस्त्र आदि हवा में ध्वजा की तरह लहरावे नहीं।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वाउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥४०॥

हिन्दी पद्य—

इसलिये दोष-दुर्गति वर्द्धक, है वायुकाय का उपमर्दन।
यह जान वायु का संचालन, दे छोड़ श्रमण सारे जीवन॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। दुग्गइवड्ढणं=दुर्गति बढ़ाने वाले। एयं=इस। दोसं=दोष को। वियाणिता=जानकर। जावज्जीवाए=जीवन भर के लिये। वाउकाय समारंभं=वायुकाय के आरम्भ का। वज्जए=वर्जन करते हैं। यह दसवां आचार स्थान है।

भावार्थ—

चार गाथाओं से वायुकाय की पाप बहुलता और साधुओं द्वारा विविध साधनों से हिंसा नहीं करने का उपदेश बताया गया है।

▭

मूल—

वणस्सइं ण हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करण जोएणं, संजया सुसमाहिया ॥४१॥

हिन्दी पद्य—

करते न वनस्पतिकायिक को, हिंसा तन मन या वचनों से ।
सम्यक् समाधि वाले संयत्, वे त्रिविध करण और योगों से ॥

अन्वयार्थ—

सुसमाहिया=समाधि भाव वाले। संजया=संयमी-मुनि। वणस्सइं=वनस्पतिकाय की। मणसा=मन। वयसा=वचन। कायसा=और काया से। तिविहेण=तीन प्रकार के। करणजोएणं=करण और योगों से। ण हिंसंति=हिंसा नहीं करते हैं।

भावार्थ—

जिनके मन में विकार नहीं ऐसे समाधि सम्पन्न मुनि, मन, वचन और काया से तीन प्रकार के करण और योगों से मूल, कन्द, खंध, त्वचा शाखा, प्रवाल, पत्र, फूल,फल और बीज इनमें से किसी प्रकार की वनस्पति की हिंसा नहीं करते। वनस्पति में कई एकास्थिक, बहु बीज और साधारण अनन्त जीवी भी होते हैं। साधु सचित्त का त्यागी होने से किसी भी प्रकार की वनस्पति की हिंसा नहीं करता है।

▭

मूल—

वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥४२॥

हिन्दी पद्य—

हरितकाय की हिंसा करते, आश्रित का भी वध करता है ।
त्रस और विविध प्राणी-जीवन, चाक्षुष बिन चाक्षुष हरता है ॥

अन्वयार्थ—

वणस्सइं = वनस्पतिकाय की। विहिंसंतो=हिंसा करने वाला। तयस्सिए=उसके आश्रित। विविहे=अनेक प्रकार के। तसे=त्रस। पाणे=जीव। चक्खुसे=चाक्षुष एवम्। अचक्खुसे=अचाक्षुषों की। हिंसई=हिंसा कर बैठता है।

भावार्थ—

वनस्पतिकाय की हिंसा करने वाला, प्रत्यक्ष में तो एक वनस्पति की ही हिंसा करता है, परन्तु गहराई से देखने पर वनस्पति-पत्र, फूल, फल, आदि के आश्रित हजारों सूक्ष्म जीवों की हिंसा कर बैठता है। गोबी के फूल और कई हरे पत्तों पर वैसे ही रंग रूप के हजारों सूक्ष्म जीवों की अनायास हिंसा हो जाती है।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ।।४३।।

हिन्दी पद्य—

दुर्गति वर्द्धक यह दोष कहा, इसलिये जानकर के मन से।
हरितकाय का वध छोड़े, जीवन भर श्रमण स्वयं तन से ।।

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। दुग्गइवड्ढणं=दुर्गति को बढ़ाने वाले। एयं=इस। दोसं=दोष को। वियाणित्ता=जानकर। आवज्जीवाए=जीवन पर्यन्त के लिये। वणस्सइसमारंभं=वनस्पतिकाय के आरम्भ का। वज्जए=वर्जन करते है।

भावार्थ—

अतः वनस्पतिकाय के जीवों का वध जो पापजनक और दुर्गति देने वाला है, इस प्रकार के दोष को जानकर साधु भोजन-पान आदि आवश्यक कारणों से भी वनस्पति काय की हिंसा का जीवन भर के लिये वर्जन करते है। यह ११ वां आचार स्थान है। पृथ्वीकाय जलकाय और तेजस्काय और वायुकायिक की तरह वनस्पति के भी एक ही स्पर्शइन्द्रिय है। रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण इन्द्रियां नहीं है, फिर भी इनकी ज्ञान चेतना कुछ स्थूल रूप में जानी जाती है जैसे-खिलना, कुम्हलाना आदि।

मूल—

तसकायं ण हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥४४॥

हिन्दी पद्य—

त्रसकायिक का वध ना करते, तन मन अथवा इन वचनों से ।
सम्यक् समाधि वाले संयत, निज त्रिविध योग वा करणों से ॥

अन्वयार्थ—

सुसमाहिया=समाधि शील । संजया=साधु । मणसा=मन । वयसा=वचन । कायसा=काया से । तिविहेण=तीन प्रकार के । करणजोएणं=करण और योगों से । तसकायं=त्रसकायिक जीवों को । ण हिंसंति=हिंसा नहीं करते ।

भावार्थ—

समाधि शील साधु मन, वचन और काया से तीन प्रकार के करण और योगों से त्रसकायिक-बेइन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों की हिंसा नहीं करते ।

मूल—

तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥४५॥

हिन्दी पद्य—

त्रसकायिक की हिंसा करते, आश्रित का वध करता है ।
त्रस या स्थावर सूक्ष्म और, स्थूल प्राण को हरता है ॥

अन्वयार्थ—

तसकायं=त्रसकाय को । विहिंसंतो=हिंसा करने वाला । तयस्सिए=उनके आश्रित । चक्खुसे=चाक्षुष और । अचक्खुसे=अचाक्षुष । विविहे=अनेक प्रकार के । तसे=त्रस । पाणे=प्राणियों को । हिंसइ=हिंसा करते हैं ।

भावार्थ—

१. अंडज, २. पोतज, ३. जरायुज, ४. रसज, ५. संस्वेदिम, ६. सम्मूछिम, ७. उद्भिज, और ८. औपपातिक ये मुख्य त्रस हैं । इनके पशु, पक्षी

और मनुष्य के शरीर के आश्रित कृमि, यूका, आदि जीव रहते हैं, जब कोई एक त्रस जीव को हिंसा करता है, तो उसके आश्रित एवं उससे पलने वाले चाक्षुष, अचाक्षुष अनेकों जीवों की हिंसा कर लेता है।

मूल—

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तसकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥४६॥

हिन्दी पद्य—

दुर्गति वर्द्धक दोष यहां, इसलिये जान करके मन से।
त्रस की हिंसा छोड़ें मुनि, जीवन भर मन से तन से ॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=त्रसकाय की हिंसा पाप बढ़ाने वाली है, इसलिये। दुग्गइ-वड्ढणं=दुर्गति बढ़ाने वाले। एयं=इस। दोसं=दोष को। वियाणित्ता= जानकर। तसकायसमारंभं=त्रसकाय के आरम्भ को। जावज्जीवाए= जीवन भर के लिये। वज्जए=वर्जन कर दे।

भावार्थ—

उपरोक्त गाथा में त्रसकाय की हिंसा को अधिक दोष वाली जानकर साधुजनों को सदा के लिये वर्जन करने की आज्ञा दी है।

मूल—

जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणाहारमाइणि।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥४७॥

हिन्दी पद्य—

जो चार अकल्प कहे मुनि के, पट पात्र तथा शय्या भोजन।
उन सबका करके त्याग श्रमण, संयम का सतत करे पालन ॥

अन्वयार्थ—

जाइं=जो। आहारमाइणि=आहार आदि (पिंड, शय्या, वस्त्र, पात्र) चत्तारि=चार पदार्थ। इसिणा=मुनियों के लिये। अभुज्जाइं=अग्राह्य है। ताइं=उनका। विवज्जंतो=वर्जन करते हुए। संजमं=शुद्ध संयम धर्म का। अणुपालए=पालन करें।

भावार्थ—

छह व्रत और छहकाय जीवों की रक्षा का उपदेश देकर इस गाथा में बतलाया गया है कि आत्मार्थी मुनि वस्त्र, पात्र, आहार और शय्या शास्त्र आदि भी कल्पनीय ही ग्रहण करे। महाव्रत और षट्काय जीवों की विराधना से बचने के लिये सदोष आहार आदि का त्याग करना आवश्यक है, इसलिये अकल्प का त्याग १३ वां स्थान कहा गया है।

मूल—

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं ण इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥४८॥

हिन्दी पद्य—

भोजन, शय्या, वस्त्र तथा, चौथा है पात्र कहा जाता।
इनमें अकल्प को ना चाहे, और कल्प ग्रहण में है आता॥

अन्वयार्थ—

पिंडं=चारों प्रकार के आहार। सिज्जं=शय्या-ठहरने का स्थान। वत्थं=वस्त्र-कम्बल। च=और। चउत्थं=चौथा। पायमेव=पात्र, उपलक्षण से पाट, चौकी शास्त्र आदि। अकप्पियं=अकल्पनीय-सदोष। ण=नहीं। इच्छिज्जा=चाहे। कप्पियं=निर्दोष-कल्पनीय ही। पडिगाहिज्ज=ग्रहण करें।

भावार्थ—

आरम्भ से बचने के लिये साधु सदोष-अशन-पानादि चारों आहार साधु के लिये बनाये या खरीदे हो मकान अथवा पाट आदि तथा वस्त्र पात्र, रजोहरण सदोष ग्रहण नहीं करे, निर्दोष होने से जो कल्पनीय हो उसी को ग्रहण करें।

मूल—

जे णियागं ममायंति, कीयमुद्देसियाहडं।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥४९॥

हिन्दी पद्य—

आमंत्रित क्रीत तथौद्देशिक, आहृत जो साधु ग्रहण करते।
जिनवर बोले वे अनुमोदन, षट्कायिक वध का हैं करते॥

अन्वयार्थ—

जे=जो साधु। णियागं=आमंत्रित-नित्यपिंड। कीयं=साधु के लिये खरीद के लाया हुआ। उद्देसियं=साधु के लिये आरम्भ पूर्वक बनाया हुआ। आहडं=पर घर से सामने लाये हुए आहार आदि को। ममायंति=ग्रहण करते हैं। ते=वे साधु। वहं=हिंसा की। समणुजाणंति=अनुमोदना करते है। इइ=ऐसा। महेसिणा=महर्षि महावीर ने। वुत्तं=फरमाया है-कहा है।

भावार्थ—

श्रमण आरम्भ का संपूर्ण त्यागी है, अतएव उसको कृत, कारित, अनुमोदन का मन, वाणी, और काय से त्याग होता हैं। वह आहार-वस्त्र, पात्र आदि आवश्यक पदार्थ भी हिंसा की सम्भावना हो वैसे औद्देशिक, क्रीत, आहृत आदि दोष युक्त आहारादि अकल्पनीय मानकर ग्रहण नहीं करता। उनके ग्रहण करने में भगवान् ने हिंसा की अनुमोदना बतलाई है। यह १३ वां स्थान है।

मूल—

तम्हा असणपाणाइं, कीयमुद्देसियाहडं।
वज्जयंति ठियप्पाणो, णिग्गंथा धम्मजीविणो॥५०॥

हिन्दी पद्य—

इसलिए क्रीत और औद्देशिक, अशनादिक आहृत को मुनिजन।
आत्म स्थित तथा धर्मजीवी, मन से करतें इनका वर्जन॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=दोष का कारण है-इसलिये। ठियप्पाणो=संयम में स्थित आत्मा वाले। धम्मजीविणो=धर्म जीवी। णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ मुनि। कीयमुद्देसियाहडं=खरीदा हुआ औद्देशिक और आहृत–सामने लाया हुआ। असणपाणाइं=अशन-पानादि का। वज्जयंति=वर्जन करते हैं।

भावार्थ—

संयम में जिनका मन स्थिर है वैसे धर्मजीवी निर्ग्रन्थ जो अशनादि क्रीत, औद्देशिक और आहृत, आधाकर्म, आदि दोषों से दूषित हो उसका कभी ग्रहण नहीं करते। वे अशनादि निर्दोष पदार्थों से ही अपनी संयम यात्रा चलाते हैं।

मूल—

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥५१॥

हिन्दी पद्य—

कांसे के प्याले कांस्य पात्र, या कांस्यकुण्ड में पान अशन।
खाता आचार भ्रष्ट होता, खो देता निज संस्कार श्रमण॥

अन्वयार्थ—

कंसेसु=गृहि भाजन कांसी के कटोरे। कंसपाएसु=कांस्य पात्र थाली आदि। वा=अथवा फिर। कुंडमोएसु=कुंडे के आकार का कांसे के भाजन में। असणपाणाइं=अशन-पान आदि आहार। भुंजंतो=खाता हुआ। आयारा=आचार धर्म से। परिभस्सइ=फिसल जाता-चूक जाता है।

भावार्थ—

साधु-साध्वी के लिये तीन प्रकार के पात्र ग्रहण योग्य बतलाये हैं, अलाबु-तुम्बपात्र, काष्ठ पात्र और मिट्टी के पात्र। कांचपात्र आदि में अशन-पानादि नहीं करे। चिकित्सालय में चिकित्सा के निमित्त चीनी के वर्तन, कांच के प्याले आदि उपयोग में लेना पड़े तो अपवाद समझे। जलादि ग्रहण करने में मिट्टी का भांड लिया जा सकता है तब वस्त्र साफ करने को मिट्टी के वर्तन काम में लिया जाय तो शास्त्र विरुद्ध प्रतीत नहीं होता। शास्त्र में—"भुंजंतो असण पाणाइं" अशन-पान का भोग ही निषेध किया है। आगे गृहिभाजन में होने वाले दोष बतलाये हैं यह चौदहवा आचार स्थान है।

मूल—

सीओदगसमारंभे, मत्तधोयणछड्डणे।
जाइं छंणंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥५२॥

हिन्दी पद्य—

शीतल जल का समारम्भ, और अशन पात्र प्रक्षालन में।
मरते कितने जीव, असंयम को देखा प्रभु ने उनमें॥

अन्वयार्थ—

गृहस्थ के कांस्य पात्रादि में आहार करने पर उसे मांजना या धोना होगा, इसलिये कहा—

अन्वयार्थ—

सीओदगसमारंभे=कच्चे जल का धोने एवं साफ करने में आरम्भ होगा। मत्तधोयणछड्डणे=पात्र धोकर पानी अयतना से फेंका जायगा। जाइं=जिससे। भूयाइं=जीवों की। छंणंति=हिंसा होगी। तत्थ=इस प्रकार बर्तनों की सफाई कार्य में। असंजमो=गृहिभाजन से षट्कायिक जीवों का असंयम। दिट्ठो=देखा गया है।

भावार्थ—

साधु पात्र इसलिये रखता है कि भोजन करते हुए अन्नादि के कण नीचे गिरके असंयम का कारण नहीं बने, गृहस्थ के पात्र में आहार करने से सचित्त जल आदि का आरम्भ अवश्यंभावी है। जैसा कि कहा है-

मूल—

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ ण कप्पइ।
एयमट्ठं ण भुंजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे ॥५३॥

हिन्दी पद्य—

पश्चात् एवं पुरः कर्म से, कल्प नहीं है वहां अशन।
अतः गृहस्थों के बर्तन में, निर्ग्रन्थ नहीं करते भोजन ॥

अन्वयार्थ—

तत्थ=गृहस्थ के पात्र में भोजन करने से। पच्छाकम्मं=खाने के बाद बर्तन साफ करना। पुरेकम्मं=देने से पहले हाथ आदि धोना। सिया=सम्भव है अतः यह। ण कप्पइ=नहीं कल्पता है। एयमट्ठं=इसलिये। णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ-साधु। गिहिभायणे=गृहस्थ के कांस्य पात्रादि में। ण भुंजंति=भोजन नहीं करते हैं।

भावार्थ—

अपरिग्रही साधु खाने को कांस्य पात्रादि ग्रहण नहीं करता, इसलिये उसको पात्र चुराने का खतरा नहीं, फिर काष्ठ पात्र में उसके व्रतीपन का सहज परिचय प्राप्त होगा और काष्ट पात्र में सचित्त जल के आरम्भ का दोष भी बचता है। यह १४ वां गृहिभाजन में भोजन त्याग का आचार स्थान है।

मूल—

आसंदीपलियंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्त् सइत्त् वा ॥५४॥

हिन्दी पद्य—

कुर्सी पलंग माचा पीढी, ऐसे ही शयन तथा आसन।
उन पर सोने तथा बैठने, का संयमी को है वर्जन ॥

अन्वयार्थ—

आसंदी=वेंत की बनी कुर्सी या मुड्डे पर। पलियं=पलंग पर। मंचं=मंच तथा। आसालएसु=जिसके पीछे सहारा हो। आसइत्तु=ऐसे आसनों पर बैठना। वा=अथवा। सइत्त्=सोना। अज्जाणं=आर्यपुरुष-साधुओं के लिये। अणायरियं=आचरण योग्य नहीं होता।

भावार्थ—

त्याग-मूर्ति साधु भोग भावना से विरत होता है। फिर वह ऐसे आसन पर बैठता है जिसको अच्छी तरह देख सके, आसंदो, पलंग और, मंच तथा सहारे वाले आसन मुनि बैठने एवं सोने को ग्रहण नहीं करता।

▭

मूल—

णासंदोपलियंकेसु, ण णिसिज्जा ण पीढए।
णिग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥५५॥

हिन्दी पद्य—

आसंदी और पर्यंकों पर, आसन तथा पीठ ऊपर।
प्रतिलेखन संभव हो न जहां, ना बैठे मुनि जिन-श्रद्धाकर ॥

अन्वयार्थ—

बुद्धवुत्तमहिट्ठगा=भगवान् के वचनों पर अधिष्ठित रहने वाले। णिग्गंथा=निर्ग्रन्थ। आसंदीपलियंकेसु=आसंदी-कुर्सी एवं पलंग पर। ण=नहीं सोवे। णिसिज्जा=गादी पर। पीढए=तथा मुड्डे आदि पर। ण=नहीं बैठे, नहीं सोवे, क्योंकि। अपडिलेहाए=उनमें प्रतिलेखना नहीं होती।

भावार्थ—

शास्त्र वचनों पर श्रद्धा रखने वाले मुनि, सूक्ष्म जीवों की प्रति-लेखना नहीं होती इसलिये वेंत की कुर्सी या पलंग और मुड्डे-गादी आदि

पर बैठना, खड़ा रहना एवं शयन नहीं करें। प्राचीन संतों ने राजसभा में भी कुर्सी को स्वीकार नहीं कर अपनी मर्यादा का सम्यक् पालन किया आज हमें भी उस परम्परा पर चलने का ध्यान रखना चाहिये।

मूल—

गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलियंको य, एयमट्ठं विवज्जिया ॥५६॥

हिन्दी पद्य—

कुर्सी पलंग के जीवों का, होता है बहुत कठिन निर्णय।
ये दुष्कर प्रतिलेखन वाले, अतएव त्याग दे इन्हें सदय ॥

अन्वयार्थ—

एए=कुर्सी आदि में दोष वतलाये है-ये कुर्सी आदि। गंभीरविजया=गम्भीर छिद्र वाले होते हैं। पाणा=खटमल आदि प्राणी। दुप्पडिलेहगा=कठिनाई से देखे जाते है। एयमट्ठं=इसलिये निर्ग्रन्थों ने। आसंदी=कुर्सी। य=और। पलियंको=पलंग का। विवज्जिया=विवर्जन किया है।

भावार्थ—

जैन साधु अपने उपकरणों का दोनों समय अवलोकन करता है, वह ऐसी वस्तु को नहीं रखता जिसमें भीतर छिपे जीव जन्तु नहीं देखे जा सके। कुर्सी, पलग मंच आदि की वनावट गहरे छिद्र वाली होने से सरलता से देखी नहीं जाती, इसलिये साधु इनका वर्जन करते है। यह १५ वां स्थान है।

मूल—

गोयरग्गपविट्ठस्स, णिसेज्जा जस्स कप्पइ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहियं ॥५७॥

हिन्दी पद्य—

बैठे गृहस्थ के घर में जो, भिक्षा लेने को गया श्रमण।
वह अनाचार को पाता है, मिथ्यात्व रूप जिसका वर्णन ॥

अन्वयार्थ—

गोयरग्गपविट्ठस्स=गौचरी में गया हुआ। जस्स णिसेज्जा=जो साधु गृहस्थ के घर में निषद्या। कप्पइ=करता-बैठता है। इमेरिसं=आगे बताया

जाने वाला। अणायारं=अनाचार दोष का सेवन करने से। अबोहियं=मिथ्यात्व को। आवज्जइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

गृहस्थ के घर गोचरी आदि कारण से गया हुआ साधु गोचरी लेकर तत्काल लौट जाता हैं, घर में बैठकर या खड़े-खड़े भी कथा का विस्तार नहीं करता, मात्र एक उदाहरण से अधिक नहीं कहता, घर में बैठने से अगली गाथा में कहे हुए अनुसार दोष लगता है जो अबोधि-मिथ्यात्व का कारण होता है।

मूल—

विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥५८॥

हिन्दी पद्य—

ब्रह्मचर्य का नाश, प्राण वध, में संयम का भी वध है।
याचक के हो अन्तराय, मुनि के प्रति क्रोध विवर्द्धक है ॥

अन्वयार्थ—

बंभचेरस्स=घर में बैठने से ब्रह्मचर्य के नियम का। विवत्ती=विनाश होता। च=और। पाणाणं=प्राणियों के। वहे=समारम्भ से। वहो=संयम जीवन का वध होता है। वणीमगपडिग्घाओ=भिखारी के लाभ में अन्तराय। अगारिणं=तथा गृहपति को। पडिकोहो=क्रोध होता है।

भावार्थ—

साधु यदि गृहस्थ के घर में बैठेगा तो ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में शंका होगी और आधाकर्मी आहार तैयार किया तो प्राणियों का वध से संयम गुण की घात होगी, मांगने के लिये आये हुए भिखारी को अशनादि मिलने में अन्तराय होगा। घर के कार्य में व्यवधान पड़ने से गृहपति को क्रोध होगा वह यही चाहेगा कि महाराज कितने जल्दी चले जाय।

मूल—

अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वा वि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥५९॥

हिन्दी पद्य—

ब्रह्मचर्य का हो ना गोपन, शंका हो नारी दर्शन से।
कुशीलवर्द्धक स्थान मान, छोड़े मुनि रहकर दूर इसे ॥

अन्वयार्थ —

वंभचेरस्स=गृहस्थ के वाल - वच्चेदार घर में ठहरने से ब्रह्मचर्य धर्म की। अगुत्ती=अगुप्ति - वाड़ का पालन नहीं होगा। वा वि= अथवा। इत्थीओ=सुन्दर रमणियों के संग से। संकणं=शंका उत्पन्न होगी। कुसीलवड्ढणं=कामराग बढ़ाने वाले। ठाणं=स्थान का। दूरओ=दूर से। परिवज्जए= वर्जन-परित्याग करें।

भावार्थ—

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये नव वाडे वताई गई हैं। गृहस्थ के घर में वैठने से उन नव वाड़ों में से १-२-३-४-६ का सम्यग् पालन नहीं होता। घर में स्त्रियों के वीच बैठने से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा नहीं होती, स्त्रियों का अति संसर्ग शंका का कारण होता है इसलिये कुशील बढ़ाने वाले स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन कर दें। उत्तराध्ययन सूत्र के १६ वें अध्ययन में ब्रह्मचर्य के दश समाधि स्थान वतलाये हैं। घर में वैठने से इनका पालन नही होता। अतः साधु गृहस्थ के घर में नहीं वैठे।

▭

मूल—

तिण्हमण्णयरागस्स, णिसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो ॥६०॥

हिन्दी पद्य—

इन तीनो में कोई भी, है सकता बैठ गृही घर में।
वृद्ध तपस्वी रूग्ण साधु को, दोष न माना पर घर में ॥

अन्वयार्थ—

जराए=वृद्धावस्था से। अभिभूयस्स=घिरा हुआ। वाहियस्स=रोग से पीड़ित। तवस्सिणो=और तपस्वी। तिण्हं=इन तीनों में से। अण्णयरागस्स=जिस किसी को। जस्स=उसको। णिसिज्जा=घर में वैठना। कप्पइ=कल्पता है।

भावार्थ—

गृहस्थ के घर में न बैठना यह १६वां आचार है। कभी वृद्धावस्था से थकान हो, रोग के कारण क्षीण होने से चक्कर आता हो अथवा विकट तप के कारण बैठना आवश्यक हो तो इन तीनों में से कोई साधु गृहस्थ के घर में बैठते हुए आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

मूल—

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ॥६१॥

हिन्दी पद्य—

यदि रोगी अथवा नीरोगी मुनि, स्नान कभी भी करता है।
आचार भंग होता उसका, संयम से पीछे हटता है ॥

अन्वयार्थ—

वाहिओ=रोगी। वा=अथवा। अरोगी=निरोग होकर। जो=जो भी। सिणाणं=स्नान की। पत्थए=इच्छा करता है। आयारो=वह तप नियम के आचार का। वुक्कंतो=उल्लंघन। होइ=करता है, और। संजमो=उसका संयम। जढो=जड़। हवइ=हो जाता है।

भावार्थ—

सतरहवें स्थान में बतलाया है कि-साधु रोगी हो या निरोग। जो आराम के लिये स्नान की इच्छा करता है, वह आचार धर्म का उल्लंघन करता और संयम को दूषित करता है।

मूल—

संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य।
जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावए ॥६२॥

हिन्दी पद्य—

क्षार और चिकनी मिट्टी में, सूक्ष्म बहुत से प्राणी हैं।
करके स्नान भिक्षु उनको, देता पीड़ा मनमानी हैं ॥

अन्वयार्थ—

घसासु=पोली। य=और। भिलगासु=दरार वाली भूमि में। संतिमे=वे। सुहुमा=सूक्ष्म। पाणा=कीड़े आदि। जे=है, जिनको।

सिणायंतो=स्नान करता हुआ। भिक्खू=भिक्षु-साधु। वियडेण=अचित जल से। उप्पलावए=बहा देगा-डूबा देगा।

भावार्थ—

साधु यदि स्नान करेगा तब स्नान का गिरा पानी इधर उधर बहकर जायेगा, उससे भूमि की दरार में रहे हुए सूक्ष्म जीव-कीड़ी, मकड़ी आदि पानी से बह जायेंगे-मिट्टी से दब जायेंगे जो कष्ट एवं प्राण वध का कारण होगा।

▭

मूल—

तम्हा ते ण सिणायंति, सीएण-उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥६३॥

हिन्दी पद्य—

अतएव न गर्म, शीत जल से वे, स्नान साधु जन करते हैं।
जीवन भर स्नान रहित होकर, दुस्सह व्रत पालन करते हैं॥

अन्वयार्थ—

तम्हा=इसलिये। ते=वे निर्ग्रन्थ मुनि। सीएण=शीतल जल। वा=या। उसिणेण = गर्म पानी से। ण सिणायंति = स्नान नहीं करते हैं। जावज्जीवं=जीवन पर्यन्त। असिणाणं=स्नान वर्जन रूप। घोरं=घोर-कठिन। वयं=व्रत के पालन में। अहिट्ठगा=टिके रहते है।

भावार्थ—

पानी में बहकर जीवों की हिंसा होती है इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि ठन्डे अथवा गर्म जल से स्नान नहीं करते, इस प्रकार जीवन भर के लिये स्नान वर्जन रूप इस कठोर व्रत के पालन में मुनि अधिष्ठित रहते हैं! यह सत्तरहवां आचार स्थान हुआ।

▭

मूल—

सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, णायरंति कयाइ वि ॥६४॥

हिन्दी पद्य—

स्नान योग्य सरसों का खल, और लोद्र पद्मकेशर सुरभित।
करने शरीर का संमर्दन, करते है श्रमण इन्हें वर्जित॥

अन्वयार्थ—

सिणाणं=स्नान । अदुवा=अथवा । कक्कं=चन्दनादि का मिश्रित-कल्क । लोद्धं=लोध्र । य=और । पउमगाणि=पद्म-केशर आदि चूर्ण । गायस्स=शरीर पर । उव्वट्टणट्ठाए=उद्वर्तन करने के लिये । कयाइ=मुनि कभी । वि=भी । णायरंति=उपयोग में नहीं लेते ।

भावार्थ—

ब्रह्मचारी साधु स्नान तथा शरीर पर मर्दन करने के लिये कल्क, लोध, पद्मचूर्ण का कभी भी उपयोग नहीं करते । ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये शास्त्र में १० गुप्तियां बताई गई, वहां नवमी वाड़ विभूषा वर्जन कहा गया है । विभूषा वर्जन से साधक कामियों के लिये आकर्षण केन्द्र नहीं रहता, और बाह्य तप की आराधना करता है ।

मूल—

णगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमणहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारियं ।।६५।।

हिन्दी पद्य—

नग्न तथा पूरे मुण्डित, है केश नखादि बढे जिनको ।
उपशान्त हुए जो मैथुन से, क्या शोभा से मतलब उनको ।।

अन्वयार्थ—

णगिणस्स=जो अत्यल्प वस्त्र रखने से नग्नवत् है । वा=अथवा । मुंडस्स=द्रव्य-भाव से मुण्डित और । दीहरोमणहंसिणो=बढ़े हुये नख तथा केश वाले है । मेहुणा=मैथुन भाव से । उवसंतस्स=उपशान्त है, उसको । विभूसाइ=विभूषा-सजावट से । किं=क्या । कारियं=करना है ।

भावार्थ—

साधु को विभूषा क्यों नहीं करना, इसके लिये शास्त्रकार उपदेश देते कहते हैं–जो अत्यल्प वस्त्र रखने से नग्नवत् रहते, केशलुंचन और राग वर्जन से द्रव्य-भाव से मुण्डित तथा बढ़े हुये केशवाले और मैथुन-विषय भोग से उपशान्त हैं, उनको विभूषा से क्या प्रयोजन है ?

मूल—

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥६६॥

हिन्दी पद्य—

तन की शोभा के हेतु भिक्षु, दुश्छेद्य कर्म-बन्धन करता ।
दुस्तर घोर भवाब्धि मध्य, उस कारण से आकर पड़ता ॥

अन्वयार्थ—

विभूसावत्तियं=विभूषा के निमित्त से । भिक्खू=साधु । चिक्कणं=चिकने-निकाचित । कम्मं=कर्मों का । बंधइ=बन्ध करता हैं । जेणं=जिससे जीव । दुरुत्तरे=कठिनाई से पार करने योग्य । घोरे=घोर-भयंकर । संसारसायरे=संसार सागर में । पडइ=गिर जाता है ।

भावार्थ—

जैन साधु राग विजय का पथिक है, विभूषा करने से उसमें काम-राग की वृद्धि होती है, अपने रूप-लावण्य और कान्ति का मोह उत्पन्न होता है, जिससे चिकने कर्मो का वन्ध होता है । कर्म से भारी बनी आत्मा दुस्तर भयंकर संसार सागर में गिर के जन्म-मरण करती रहती है ।

मूल—

विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं, णेयं ताईहिं सेवियं ॥६७॥

हिन्दी पद्य—

शोभा की इच्छा जिस मन में, प्रभु ने उसको वैसा माना ।
शोभा है पाप बहुल जग में, मुनि ने सेवन गर्हित जाना ॥

अन्वयार्थ—

बुद्धा=ज्ञानवान् । विभूसावत्तियं=शरीर की शोभा विभूषा के निमित्त होने वाले । चेयं=उस कार्य को । तारिसं=वैसा-चिकना बन्ध । मण्णंति=मानते है । चेयं=ऐसा । सावज्जबहुलं=पाप की बहुलता वाला कार्य । ताईहिं=षट्काय के रक्षक मुनियो ने । एयं=इस विभूषा कार्य को । ण सेवियं=कभी सेवन नहीं किया है ।

भावार्थ—

बुद्धिमान साधु शरीर की शोभा के निमित्त होने वाली विभूषा को रागवर्द्धक होने से चिकने बन्ध का कारण मानकर षट्काय के रक्षक मुनि, पाप की बहुलता वाले विभूषा कार्य का कभी आचरण नहीं करते हैं।

▭

मूल—

खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजम अज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, णवाइं पावाइं ण ते करेंति ॥६८॥

हिन्दी पद्य—

तप संयम आर्जव गुण में रत, मोक्षार्थी दोष नष्ट करता।
पहले पाप खपा करके, वह नूतन पाप नहीं करता ॥

अन्वयार्थ—

अमोहदंसिणो=निर्मोह भाव से तत्त्व दर्शन करने वाले। अप्पाणं=शरीर या कषाय आत्मा का। खवेंति=क्षय करते। संजम=तप में तथा सत्तरह प्रकार संयम। अज्जवे गुणे=और आर्जव भाव आदि। रया=गुणों में रमण करने वाले। पुरेकडाइं=पूर्वकृत। पावाइं=पाप कर्मों का। धुणंति=क्षय करते और। णवाइं=नवीन। पावाइं=पाप कर्मो का। ते=वे। ण करेंति=बन्ध नहीं करते।

भावार्थ—

निर्मोह भाव से तत्त्व का दर्शन करने वाले मुनि, योग एवं कषाय आत्मा को क्षीण करते, तप में रमण करने वाले, संयम और आर्जव भाव आदि गुणों से युक्त साधक-पूर्वकृत पापकर्मो का क्षय करते और मोह विजय के कारण नवीन पाप कर्मो का बन्ध नहीं करते हैं।

▭

मूल—

सओवसंता अममा अकिंचणा, सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसण्णे विमले व चंदिमा, सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ॥

हिन्दी पद्य—

उपशान्त परिग्रह मोह रहित, आत्मज्ञ ज्ञान युत यशकामी।
स्वच्छ शरद् के विमल चन्द्रवत्, जाते विमान शिवपद स्वामी ॥

अन्वयार्थ—

अठारह प्रकार के आचार की साधना करने वाले—

सओवसंता=सदा उपशान्त। अममा=ममता रहित। अकिंचणा=और अपरिग्रही। सविज्जविज्जाणुगया=आत्म विद्या के ज्ञान का अनुगमन करने वाले। जसंसिणो=यशस्वी पुरुष। उउप्पसण्णे=शरद् काल की प्रसन्न ऋतु में। विमला=निर्मल। चंदिमा=चन्द्र की तरह। ताइणो=षट्काय के रक्षक मुनि। सिद्धिं=सिद्धि गति। विमाणाइं=या वैमानिक देव के पद को। उवेंति=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—

पूर्व कथित १८ आचार धर्मों की निर्दोष आराधना करने वाले मुनि सदा उपशान्त, ममत्वरहित और अपरिग्रही होते हैं, आत्म विद्या के ज्ञान पर चलने वाले षट्काय के रक्षक यशस्वी पुरुष, कर्म मल को दूर कर शरद्काल की प्रसन्न ऋतु में निर्मल चन्द्र के समान सिद्धि-मुक्ति पद को या वैमानिक देव के भव को प्राप्त करते हैं–ऐसा मैं कहता हूँ।

(इति–महाचार कथा : षष्ठ अध्ययन समाप्त)

वक्क सुद्धि– (वाक्य शुद्धि)
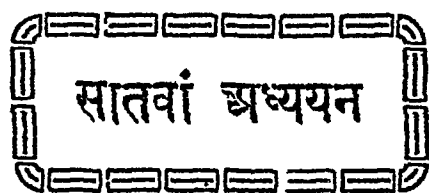
उपक्रम

छठे अध्ययन में आचार कथा का वर्णन किया, वह आचार वचन-शुद्धि के बिना पूर्ण नहीं होता। क्योंकि मृषावाद विरमण आचार धर्म का मुख्य अंग होने से उसके लिये वचन शुद्धि–वाच्य अवाच्य का ज्ञान आवश्यक है।

सप्तम अध्ययन में वचन शुद्धि का वर्णन किया जाता है। सत्यव्रती–कैसी भाषा बोले अथवा कैसी नहीं, जिससे कि उसका सत्य व्रत निर्मल रह सके, इस दृष्टि से इस अध्ययन में वर्णित ४ प्रकार की भाषाओं में से असत्य और मिश्र, को छोड़कर सत्य एवं व्यवहार भाषा का ही प्रयोग करे। सत्य भी सावद्य और पर पीड़ाकारी हो, वैसा वचन नहीं बोले। कहा गया है कि-
"जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा। जा य बुद्धे हिऽणाइन्ना, न तं भासेज्ज पन्नवं॥"

अर्थात् जो भाषा सत्य होकर भी अवक्तव्य है और जो मिश्र तथा मिथ्या है ऐसे ही जो ज्ञानियों द्वारा अनाचीर्ण है, वैसी भाषा नहीं बोले। तब कैसी भाषा बोले-तो बताया गया कि साधु 'सत्य भाषा' व्यवहार भाषा और पापरहित, कोमल और जो सन्देह रहित हो, आवश्यक होने पर वैसी भाषा का प्रयोग करे। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में बोलने का निषेध भी है और विधान भी। अवाच्य वचन नहीं बोलने से गुप्ति का आराधन होता है। जबकि विहित वचन बोलने से समिति का भी पालन होता है। जो स्व-पर दोनों के लिये लाभकारी है। स्त्री-पुरुष और दृष्टि में आने वाले भवन एवं वनादि को देखकर साधु कैसी भाषा का प्रयोग करे और किस को किन शब्दों में पुकारे, प्रस्तुत अध्ययन में इसका सरल और स्पष्ट भाषा में प्रतिपादन किया गया है। पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार यह अध्ययन सत्य प्रवाद पूर्व से उद्धृत किया गया है। बोलने से पहले

सत्यव्रती को "क्या बोलना" इसका विचार कर लेना चाहिये। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिसको सावद्य और निरवद्य वचन का भेद ज्ञात नहीं उसका बोलना भी उचित नहीं, फिर देशना देने का तो प्रश्न ही नहीं होता। निर्युक्तिकार ने विवेकपूर्वक बोलने को भी मौन की तरह तप कहा है, जैसे— "वयणविभत्ती-कुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो। दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो॥" अर्थात् वचन के वाच्य-अवाच्य आदि विविध प्रकारों को जानता हुआ जो वचन-विभाग का कुशल यदि दिन भर भी बोले तो भी वह वचन गुप्ति को प्राप्त समझना चाहिये।

श्रमण के आचार धर्म में वाक्य-शुद्धि का प्रमुख स्थान है, श्रमणाचार का शुद्ध पालन और प्रतिपादन वही कर सकेगा जिसको भाषा का पूर्ण विचार है, इस लिये सप्तम अध्ययन में भाषा शुद्धि का कथन करते हैं—

मूल—

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो॥१॥

हिन्दी पद्य—

निश्चय से चारों भाषा के, मुनि-प्राज्ञ स्वरूप अवगत करके।
दो से शुद्ध विनय सीखें, दो बोले नहीं भूल करके॥

अन्वयार्थ—

पन्नवं=प्रज्ञावान् मुनि। चउण्हं=सत्यभाषा, असत्य०, मिश्र और व्यवहार इन चार। भासाणं=भाषाओं का। खलु=निश्चय। परिसंखाय=ज्ञान करके। दोण्हं=दो-सत्य और व्यवहार भाषा को। विणयं=विनय से। सिक्खे=सीखें और। दो=मिश्र तथा असत्य दो भाषा को। सव्वसो=सर्वथा। न=नहीं। भासिज्ज=बोलें।

भावार्थ—

संयमी पुरुष के लिये भाषा का विवेक बहुत आवश्यक है। भाषा के मुख्य ४ प्रकार हैं-१. सत्यभाषा, २. असत्य भाषा, ३. मिश्र भाषा, और ४. व्यवहार भाषा। फिर प्रत्येक के अलग २ भेद बतलाये गये हैं। आचारांग और प्रश्न व्याकरण सूत्र में भाषा के वाच्य अवाच्य का बहुत विस्तार

से वर्णन किया गया है। साधु को सत्य और व्यवहार इन दो भाषाओं से ही संभाषण करना चाहिये। असत्य और मिश्र वचन उसके लिये सदा वर्जनीय कहे गये हैं। संयमी असत्य के समान जो पीड़ाकारी हो वैसी सत्य भाषा भी नहीं बोलता। उसको कैसी भाषा बोलना और कैसी नहीं बोलना उसका विचार किया जाता है।

मूल—

जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना, न तं भासेज्ज पन्नवं ॥२॥

हिन्दी पद्य—

जो सत्य मगर हो अवक्तव्य, मिथ्या या सत्य-झूठ मिश्रित।
जिनवर से जो है अननुज्ञात, बोले न प्राज्ञ करदे वर्जित ॥

अन्वयार्थ—

जा=जो भाषा। सच्चा=सत्य होकर। अवत्तव्वा=अवक्तव्य है। य=और जो। सच्चामोसा=मिश्र। य=और। जा=जो। मुसा=मृषाभाषा है। जा य=फिर जो। बुद्धेहि=ज्ञानियों के द्वारा। अणाइन्ना=अनाचीर्ण-निषिद्ध कही गई है। तं=उस भाषा को। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। न भासेज्ज=नहीं बोले।

भावार्थ—

जो भाषा सत्य होकर भी अप्रिय तथा मर्मकारी होने से अवक्तव्य है, फिर जो भाषा मिश्र और मिथ्या है, वस्तु को विपरीत रूप से कथन करने वाली है, तथा जिस भाषा का तीर्थङ्कर और गणधरों ने सेवन नहीं किया-किन्तु अवाच्य कहा है, उस भाषा को मतिमान को सदा वर्जन करना चाहिये। सत्य और असत्य मिश्रित हो उसे मिश्र कहते हैं। जीव मिश्र, अजीव मिश्र, अनन्त मिश्र, परित्त मिश्र आदि मिश्र के भेद हैं। पत्र आदि सहित को अनन्तकाय कहना अनन्त मिश्र है। ऐसे आमंत्रणी १, आज्ञापनी २, याचनी ३, पुच्छणी ४, प्रज्ञापनी ५ आदि भाषा अनेक प्रकार की है।

मूल—

असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥३॥

हिन्दी पद्य—

व्यवहार सत्य भाषा को भी, प्रिय हितकर बना प्राज्ञ बोलें।
गुण दोषों का करके विचार, सन्देह रहित भाषा बोलें॥

अन्वयार्थ—

पन्नवं=बुद्धिमान साधु कैसी भाषा बोले तो कहा। असच्चमोसं=व्यवहार भाषा-लोक व्यवहार में प्रचलित। च=और। सच्चं=सत्य भाषा। अणवज्जं=जो दोष रहित। ककसं=कोमल हो। गिरं=वैसी भाषा। समुप्पेहं=अच्छी तरह सोचकर। असंदिद्धं=संदेह रहित। भासेज्ज=बोलें।

भावार्थ—

बुद्धिमान् साधु वैसी भाषा बोले जो लोक व्यवहार में प्रचलित और सत्य हो! दूषित भाषा सत्य भी हो तो साधु नहीं बोलते। वे सदा निर्दोष और कोमल वचन, भले बुरे का विचार कर संदेह रहित-स्पष्ट रूप से समझ में आवे ऐसी भाषा बोलते हैं।

'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात सत्यमप्रियं।' संत इस उक्ति का पालन करते हैं। समुप्पेह-पहले बुद्धि से सोचकर फिर बोलना चाहिये। जैसे-अन्धा पुरुष-खींचने वाले के पीछे चलता है, वैसे बुद्धि के अनुसार वचन की प्रवृत्ति होनी चाहिये। जैसे निर्युक्ति में कहा है-

पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता, पच्छा वयमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा॥२९२॥

मूल—

एयं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसं पि, तं पि धीरो विवज्जए॥४॥

हिन्दी पद्य—

पूर्वोक्त अन्य दोषों वाली, जो शाश्वत पद से दूर करे।
ऐसी न मिश्र भाषा का भी, मुनि धीर कभी व्यवहार करे॥

अन्वयार्थ—

एयं=सावद्य और कर्कशता वाले, इस। अट्ठं=अर्थ को। वा=अथवा ऐसे। अन्नं=अन्य अर्थ को। जं तु=जो। सासयं=शाश्वत-मोक्ष को।

नामेइ=नमाती है-रोकती है। स=वह साधु । सच्चमोसं=सत्यामृषा-मिश्र । भासं=दोष युक्त सत्य हो । तं पि=उसको भी । धीरो=धीर साधु। विवज्जए=वर्जन करे ।

भावार्थ—

बुद्धिमान धीर साधु सावद्य एवं कठोरता वाले इस वचन को अथवा इस प्रकार का अन्य भी वचन जो शाश्वत-मोक्ष को रोकता है, वह मिश्र हो या सत्य हो उसको भी कर्म काटने में धीर साधक वर्जन कर दे। कभी ऐसी भाषा नहीं बोले ।

▭

मूल—

वितहंपि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥५॥

हिन्दी पद्य—

कल्पित असत्य-मूर्ति जैसी, जिस भाषा को कोई बोले ।
उससे वह पाप बंध करता, फिर क्या ? जो साफ झूठ बोले ॥

अन्वयार्थ—

वितहंपि=असत्य भी। तहामुत्ति=जो सत्य आकार एवं स्वरूप वाली है। जं=जिस । गिरं=भाषा को। नरो=व्रती पुरुष। भासए=बोलता है। तम्हा=उस वचन के बोलने से। सो=वह वक्ता। पावेणं=पाप कर्म से। पुट्ठो=स्पृष्ट होता है। पुण=फिर । जो=जो व्यक्ति। मुसं=स्पष्ट झूठ बोलता है। किं वए=उसका तो कहना ही क्या ?

भावार्थ—

जो सत्य के आकार वाला भी झूठ वचन कोई बोलता हैं, तो उस वचन को बोलने में वक्ता पाप कर्म से स्पृष्ट होता है। जैसे-स्त्री वेश में स्थित किसी पुरुष को कोई यह कहे कि यह महिला आती है, गाती है आदि। ऐसे वचन बोलते हुए वक्ता पाप कर्म का वन्ध कर लेता है। तब जो खुला झूठ वचन बोलता है, उसके पाप वन्ध में तो शंका ही क्या है ?

▭

मूल—

तम्हा गच्छामो वक्खामो,अमुगं वा णे भविस्सई ।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सई ॥६॥

हिन्दी पद्य—

अतः वहां जाऊंगा उसको, बोलूंगा अमुक कार्य होगा।
अथवा मैं कार्य करूंगा वह, या वह मुनि ऐसा कर लेगा ॥

अन्वयार्थ—

सत्य के आकार वाला भी मृषा वचन बन्ध का कारण होता है-
तम्हा=इसलिये। गच्छामो=हम कल जाएंगे ही। वक्खामो=बोलेंगे ही। वा=अथवा। णे=अमुक कार्य। भविस्सई=हमारा। वा णं=होगा ही। अहं=मैं। करिस्सामि=उस कार्य को करूंगा ही। वा णं=अथवा। एसो=यह उस कार्य को। करिस्सई=अवश्य करेगा ही।

मूल—

एवमाई उ जा भासा, एस कालम्मि संकिया।
संपयाईयमट्ठे वा, तं पि धीरो विवज्जए ॥७॥

हिन्दी पद्य—

भूत भविष्यद् वर्तमान में, सन्देह भरी जो भी भाषा।
मुनि धीर त्याग दे उसको भी, जो भी हो यो व्यवहृत भाषा ॥

अन्वयार्थ—

एवमाई=इस प्रकार की। जा=जो। भासा=भाषाएं। एस कालम्मि=भविष्य काल के लिये। संकिया=शंकाजनक हो। वा=अथवा। संपयाईयमट्ठे=वर्तमान तथा भूतकाल का अर्थ शंका युक्त हो। धीरो=धीर पुरुष। तं पि=ऐसा वचन भी। विवज्जए=नहीं बोले-वर्जन करे।

भावार्थ—(गाथा ६ तथा ७)

सत्य के आकार वाला भी झूठ पाप बन्ध का कारण होता है-इसलिये हम कल जायेंगे ही, अगले दिन व्याख्यान करेंगे ही अथवा यह कार्य होगा ही, मैं उस कार्य को करूंगा ही अथवा वह इस कार्य को अवश्य करेगा ही—इस प्रकार भविष्य काल में जो शंका जनक है अथवा वर्तमान और भूत का जो अर्थ शंकित है धीर पुरुष को ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिये। निश्चय कारी भाषा बोलने में वैसा नहीं होने से लोक में हंसी और स्वयं को मन में खेद तथा आकुलता होती है, अतः सत्यव्रती को ऐसे निश्चयकारी वचन नहीं बोलने चाहिये।

मूल—

अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेयं ति नो वए ॥८॥

हिन्दी पद्य—

भूत भविष्यद् वर्तमान के, हो जिसका कुछ ज्ञान नहीं।
उस अनजाने के बारे में, निश्चय की भाषा कहे नहीं ॥

अन्वयार्थ—

अईयम्मि=बीते हुए। कालम्मि=काल में। पच्चुप्पन्नं=वर्तमान तथा। अणागए=भविष्य काल की। जमट्ठं=जिस वस्तु को अच्छी तरह। न=नहीं। जाणेज्जा=जाने। तु=उस विषय में। ति=ऐसा ही है। एवमेयं=इस प्रकार। नो वए=निश्चय भाषा नहीं बोले।

भावार्थ—

साधु की भाषा बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होती है, अतः उसको इतना ही बोलना चाहिये जो वस्तुतः यथार्थ हो। भूत, भविष्य अथवा वर्तमान काल के जिस पदार्थ को यथावत् नहीं जाने उस सम्बन्ध में कोई निर्णायक बात नहीं कहे। इतना ही कहे कि ऐसा देखा, सुना या पढ़ा है, निश्चय में जैसा अतिशय ज्ञानी कहे, वही प्रमाण है।

मूल—

अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए।
जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयं ति नो वए ॥९॥

हिन्दी पद्य—

भूत भविष्यद् वर्तमान में, हो संशय उत्पन्न कहीं।
उसके लिये कभी भी पर को, निश्चय भाषा कहे नहीं ॥

अन्वयार्थ—

अईयम्मि=बीते हुए। कालम्मि=काल में। य=और। पच्चुप्पन्नम्=वर्तमान अथवा। अणागए=भविष्य काल में। जत्थ=जिस विषय में। संका=शंका। भवे=हो। तु=उस विषय में। ति=ऐसा ही है। एवमेयं=इस प्रकार। नो वए=नहीं बोले।

भावार्थ—

भूतकाल में जो अर्थ हो चुका है, ऐसे वर्तमान और भविष्यकाल में भी जिस वस्तु अथवा घटना के सम्बन्ध में शंका हो, उसके सम्बन्ध में यह ऐसा ही है, इस तरह अवधारिणी भाषा नहीं बोलना चाहिये । भूतकाल के आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में जो बात कही है, जब तक उस विषय में उनका दृष्टिकोण सही नहीं समझ लिया जाय निश्चयात्मक कहने से मतभेद का कारण हो जाता है। इसलिये विवेकी पुरुषों को आग्रह पूर्ण भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

▭

मूल—

अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
निस्संकियं भवे जं तु, एवमेयं ति निद्दिसे ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

भूत भविष्यद् वर्तमान में, हो यदि ज्ञान पूर्ण निश्चित ।
उसके बारे में ऐसा है, कहना मुनिजन को है समुचित ॥

अन्वयार्थ—

अईयम्मि=बीते हुए । कालम्मि=काल में । य=और । पच्चुप्पण्णं=वर्तमान तथा । अणागए=भविष्यकाल में । जं=जो अर्थ या घटना । निस्संकियं=शंका रहित । भवे=हो । तु=तो । ति=ऐसा ही है । एवमेयं=यह निर्णायक भाषा । निद्दिसे=बोलनी चाहिये ।

भावार्थ—

भाषा के आग्रह पूर्ण लेखन-पठन और संभाषण ही धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर टकराहट के कारण होते हैं । अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि जिस विषय को यथावत् नहीं जानो अथवा जिस बात के लिये शंका हो वहां ऐसा ही है, इस प्रकार एकान्त लेखन या भाषण मत करो । भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन जिस घटना अथवा वस्तु के सम्बन्ध में प्रमाण पूर्वक जानकारी होकर मन शंका रहित हो, उसी विषय में निश्चयात्मक कथन करो-अन्यथा नहीं ।

▭

मूल—

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही भाषा कठोर, बहुजीव-घातिनी होती है।
वह सत्य मगर वक्तव्य नहीं, जो पाप वर्द्धिनी होती है ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=मृषा और निश्चयकारिणी भाषा के समान। भासा=जो भाषा। फरुसा=कठोर और। गुरुभूओवघाइणी=बहुत से जीवों को कष्ट पहुंचाने वाली है। वि सा=वह। सच्चा=सत्य भाषा भी। न वत्तव्वा=बोलने योग्य नहीं है। जओ=क्योंकि उससे। पावस्स=पाप का। आगमो=संचय होता है।

भावार्थ—

पूर्वोक्त सदोष भाषा की तरह जो कठोर भाषा बहुत से जीवों का उपमर्दन करने वाली है वैसी भाषा सत्य होकर भी वक्तव्य नहीं होती, क्योंकि उससे पापकर्म का बन्ध होता है। कठोर भाषा से परस्पर का प्रेम भंग हो जाता और कुल, जाति एवं संघ में वात्सल्य की वृद्धि में कमी आती है।

=

मूल—

तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही काणों को काणा, क्लीवों को तथा क्लीव कहना।
व्याधी को रोगी तस्कर को, है तस्कर नहीं उचित कहना ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=कठोर भाषा की तरह। काणं=काणे को। काणेत्ति=काणा कहना। वा=अथवा। पंडगं=हिजड़े को। पंडगे=नंपुसक या नामर्द कहना। वा वि=तथा। वाहियं=रोगी को। रोगित्ति=रोगी कहना। तेणं=चोर को। चोरेत्ति=चोर ऐसा भी। नो वए=नहीं कहे।

भावार्थ—

व्रती के लिये सत्य भाषा भी जो पीड़ाकारी और अप्रिय हो उसका वर्जन किया गया है। कहा है कि काणे को काणा, पंडक को-नामर्द अथवा हिजड़ा, रोगी को रोगी, चोर को चोर, और अंधे को अंधा ऐसा अप्रिय वचन नहीं बोले। जैसे-अंधे को सूरदास कहने से काम निकलता और उसे अप्रिय भी नहीं लगता है, व्रती सत्य भी प्रिय बोलता है, यह उसकी कुशलता है।

मूल—

एएणन्नेण अट्ठेण, परो जेणुवहम्मई।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासेज्ज पन्नवं ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे ही अन्य तदर्थों से, जो पर हित में पीड़ाकारी।
आचार भाव-दोषज्ञ प्राज्ञ, ना बोले वैसा दुःखकारी ॥

अन्वयार्थ—

आयारभावदोसन्नू=आचार भाव के दोष को जानने वाला। पन्नवं=बुद्धिमान् साधु। एएण=पूर्वोक्त अथ। अन्नेण=ऐसे अन्य। अट्ठेण=अर्थ से। जेणुव=जिसके द्वारा। परो=सुनने वाला। हम्मई=कष्ट प्राप्त करे। तं=ऐसे वचन। न भासेज्ज=नहीं बोले।

भावार्थ—

साध्वाचार के दोष को जानने वाला मुनि इस प्रकार या अन्य प्रकार के जिन शब्दों से सुनने वाले का मन कष्ट अनुभव करे वैसी बात और पीड़ाकारी वचन कभी नहीं बोले।

मूल—

तहेव होले गोले त्ति, साणे वा वसुले त्ति य।
दमए दुहए वा वि, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

अरे! दुराचारी जारज!, श्वान गरीब नीच निष्ठुर।
तथा अभागे आदि वचन, ना कहे प्राज्ञ जो हो न मधुर ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=ऐसे ही। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। होले=किसी को हे ! होल। गोले=हे ! लंपट। वा=अथवा। साणे=हे ! कुत्ता। य=और। वसुले=हे ! दुराचारी। दमए=हे ! कंगाल। दुहए=हे ! भाग्यहीन। एवं= इस प्रकार के शब्दों से। न भासेज्ज=नहीं बोले।

भावार्थ—

ऐसे ही बुद्धिमान साधु किसी को हल्के शब्दों से जैसे-हे होल, हे लंपट, तथा हे कुत्ते, हे लुच्चे, हे कंगाल, हे अभागे, आदि अपशब्दों से किसी को बोलना सत्य महाव्रती के लिये शोभनीय नहीं होता-लोकोक्ति में कहावत है कि साधु की परीक्षा शब्दों से होती है ! पुराने समय की घटना है कि एक गांव में सियाले के समय एक चक्षु हीन संत धूप में बैठे थे, उधर से ठाकुर की सवारी निकली, आगे छड़ी लेकर दरोगा जा रहा था, उसने कहा—आंधा राम-राम, बाबा ने कहा—गोला राम-राम, पीछे कामदार आया उसने आंधा नहीं बोलकर कहा सूरदास—राम, राम, वाबाजी ने कहा-कामदार राम—राम। फिर दीवान का घोड़ा निकला—उसने कहा-सूरदासजी राम-राम, बाबा ने उत्तर में कहा—दिवानजी राम-राम। जब ठाकुर सा० आये तो उन्होंने कहा—सूरदास महाराज राम-राम' सूरदासजी बोले—ठाकुर साहब राम, राम। ठाकुर ने पूछा—महाराज ! आपको आंख नहीं फिर आपने पहचाना कैसे ? सूरदासजी बोले-मैने अलग-अलग बोली से समझा, कि ये कौन हैं।

मूल—

अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउस्सिय त्ति य।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति, धूए नत्तुणिए त्ति य ॥१५॥

हिन्दी पद्य —

हे दादी ! या परदादी हे, परनानी मां मौसी होती।
यह भाषा मुनि को कल्प नहीं, भानजी भुआ दुहती पोती ॥

भावार्थ—

अज्जिए=हे, आर्यिक। पज्जिए=हे नानी, हे परदादी। वा वि= अथवा। अम्मो=हे मां। माउसियत्ति=हे मौसी। पिउस्सिए=हे भूआ। मायणिज्ज=हे भानजी। धुए=हे बेटी। य=और। णत्तुणिएत्ति=हे दोहिती-इस प्रकार संसार के सम्बन्ध से न बुलावे।

भावार्थ—

साधु को मोह बढ़ाने वाले और हल्के अप्रिय शब्दों में भी किसी स्त्री का सम्बोधन नहीं करना चाहिये। जैसे-दादी, नानी, परदादी, परनानी, हे मां, हे मौसी, हे भानजी, हे बेटी, हे पोती, हे दोहिती आदि शब्द मोह बढ़ाने वाले होने से वर्जित कहे गये हैं।

मूल—

हले हलेत्ति अन्नेत्ति, भट्टे सामिणि गोमिणी।
होले गोले वसुलेत्ति, इत्थियं नेवमालवे ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

हे सखि! अन्ने! भट्टे! स्वामिनि!, हे गोमिनि प्रिय आमंत्रण।
हे होले! हे गोले! वसुलि, यों न नारी को कहे श्रमण॥

अन्वयार्थ—

हले=हे हले। हलेत्ति=हे सखि। अन्नेत्ति=हे अन्ने। भट्टे=हे भट्टे। सामिणि=हे स्वामिनी। गोमिणी=हे गोमिनी। होले=हे मूर्ख। गोले=हे गोली। वसुलेत्ति=हे दुश्शीले। एवं=ऐसे शब्दों से। इत्थियं=स्त्री को। ण आलवे=नहीं पुकारे।

भावार्थ—

ऐसे ही-हल्के शब्दों से बोलना भी उचित नहीं कहा जाता, जैसे-हले, हले, हे अन्ने, हे भट्टे, हे स्वामिनी, हे गोमिनी, हे गोले, हे वसुलि, आदि शब्दों से स्त्री को सम्बोधन नहीं करें।

मूल—

नामधिज्जेण णं बूया, इत्थीगोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

ले नारी का नाम गोत्र से, उच्चारण करके बोले।
यथायोग्य गुण पूर्वक चाहे, एक अनेक बार बोले॥

अन्वयार्थ—

णं=उस स्त्री को। नामधिज्जेण=नाम से। बूया=बोले। वा=अथवा। पुणो=फिर। इत्थीगोत्तेण=स्त्री के गोत्र से। जहारिहमभिगिज्झ=

यथायोग्य गुणों को ग्रहण करके। आलवेज्ज=एक बार बोले। वा=या। लवेज्ज=अनेक बार बोले।

भावार्थ—

साधु स्त्री से कभी बोलना हो तो नाम से अथवा स्त्री के गोत्र से सम्बोधन करें। यथा योग्य वृद्ध हो तो-मांजी, श्राविका, सम्पन्न घर की हो तो सेठानी, मास्टरनीजी, तपसणजी, आदि गुणों के अनुसार सम्बोधन करे।

मूल—

अज्जए पज्जए वा वि, वप्पो चुल्लपिउत्ति य।
माउलो भाइणेज्ज त्ति, पुत्ते नत्तुणियत्ति य ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

हे दादा! नाना! परदादा! परनाना और पिता काका।
मामा भानेज पुत्र पोता, दौहित्र न कहना मुनिजन का॥

अन्वयार्थ—

अज्जए=हे दादा। पज्जए=हे परदादा। वा वि=अथवा। वप्पो=हे पिताजी। चुल्लपिउ=हे चाचाजी। य=और। माउलो=हे मातुल! भाइणेज्ज=हे भानजे। पुत्ते=हे पुत्र। नत्तुणियत्ति=हे दौहित्र हे पौत्र, इस प्रकार के सांसारिक सम्बन्ध के शब्दों से न पुकारे।

भावार्थ—

साधु संसार के संयोग को त्याग चुका है, अतः वह बाप, दादा, परदादा, नाना, चाचा, बाबा, भाई, मामा, पुत्र, मित्र, दौहित्र आदि सम्बन्धों से किसी को पुकारेगा-तो मोह भाव की जागृति सम्भव है। फिर सुनने वाले भी सम्बन्ध सुनकर राग करेंगे, इसलिये आत्मार्थी संत उनको संसारी सम्बन्ध तथा हल्के नामों से नहीं पुकारे। किन्तु सामान्य भाई-बहन अथवा श्रावक के नाम से पुकारे, यही अधिक हितकर है।

मूल—

हे हो हलेत्ति अन्नेत्ति, भट्टा सामिय गोमिए।
होल गोल वसुलेत्ति, पुरिसं नेवमालवे ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

हे भो ! हल और अन्न ! भट्टा हे, गोमिक होल गोल स्वामी।
मुनि के लिए वसूल आदि, नर को कहना न उचित कभी ॥

अन्वयार्थ—

हो हलेत्ति=हे हले ! अन्नेत्ति=हे अन्ने ! भट्टा=हे भट्ट । सामिय=हे स्वामिन् । गोमिए=हे गोमिक । होल=हे होल । गोल=हे गोले । वसुलेत्ति=हे दुराचारिन् ! एवं=इस प्रकार हीनता सूचक शब्दों से । पुरिसं=पुरुष को साधु । न=नहीं । आलवे=बोले ।

भावार्थ—

फिर हे हले ! हे अन्ने ! हे भट्ट, हे स्वामिन् ! हे गवाले, हे होल, हे गोल, हे दुराचारिन् ! हे होल, हे गोल ! हे वसूल ! हे दश नम्बरी, इस प्रकार किसी पुरुष को साधु नहीं बोलें । कैसे बोले यह आगे बताया गया है-

मूल—

नामधेज्जेण णं बूया, पुरिस गोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झे, आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

लेकर नाम पुरुष का अथवा, कर उसका गोत्रोच्चारण ।
पदपूर्वक एक अनेक बार, उसको सम्बोधित करे श्रमण ॥

अन्वयार्थ—

णं=उसको । नामधेज्जेण=नाम लेकर । वा=अथवा । पुणो=फिर । पुरिसगोत्तेण=पुरुष के गोत्र से । बूया=बोले । जहारिहं=यथा योग्य शिक्षा, दीक्षा अवस्था को । अभिगिज्झ=ग्रहण कर । आलवेज्ज=एक बार । वा=अथवा । लवेज्ज=अनेक बार बोलें ।

भावार्थ—

किसी पुरुष को सम्बोधन करना हो तो उसको नाम से या गौत्र एवं उपनाम से पुकारे, गुण. अवस्था आदि से यथायोग्य ग्रहण कर, अवस्था वाले को बाबाजी, शिक्षित को पंडितजी, कहकर एक बार अथवा आवश्यकता से अनेक बार बोले ।

मूल—

पंचिंदियाण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणेज्जा, ताव जाइत्ति आलवे ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

पंचेन्द्रिय प्राणी का जब तक, नर नारी भेद न जान सके।
तब तक जाति की संज्ञा से, सम्बोधन करना उचित जंचे ॥

अन्वयार्थ—

पंचिंदियाण = पांच इन्द्रिय वाले। पाणाणं = गो, महिष आदि प्राणियों में। एस इत्थी = यह स्त्री है। अयं पुमं = या वह नर है। जाव णं = जब तक बराबर। न = नहीं। विजाणेज्जा = जान लें। ताव = तब तक। जाइत्ति = जाति-गो जाति, महिष जाति। आलवे = इस प्रकार बोलें।

भावार्थ—

पशुओं में दूरी आदि के कारण जब तक पंचेन्द्रिय प्राणियों में यह नर है या मादा—स्त्री है, ऐसा बराबर जान नहीं ले तब तक गाय, भैंस या बैल है, यह नहीं कहकर गो जाति, महिष जाति, श्वान आदि जाति वाचक पद से कथन करें।

मूल—

तहेव मणुस्सं पसुं, पक्खि वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे, पाइमे त्ति य नो वए ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही मनुज चतुष्पद पक्षी, अजगर आदि सरीसृप को।
मोटा तुंदिल वध्य पाच्य है, कहना उचित नहीं उनको ॥

अन्वयार्थ—

तहेव = वैसे ही। मणुस्सं = मनुष्य। वा = अथवा। पसुं = किसी पशु। पक्खि = पक्षी को तथा। सरीसिवं = अहि, अजगर आदि सरक कर चलने वाले को। थूले = यह स्थूल-मोटा है। पमेइले = मेदवाला। वज्झे = वध्य। पाइमेत्ति = पाच्य है। एयं = ऐसा। न वए = नहीं बोलें।

भावार्थ—

वैसे ही किसी मनुष्य, गो-महिषादि पशु, पक्षी, अथवा सर्प नोलिया, आदि शब्द से मच्छ आदि को देखकर यह मोटा है, खूब चर्बी वाला है, मारने योग्य है, पकाने योग्य है इस प्रकार की हिंसा जनक-सावद्य भाषा संयमी-मुनि कभी नहीं बोलें ! आवश्यकता से कुछ कहना पड़े तो इस प्रकार बोले-

मूल—

परिवुड्ढे त्ति णं बूया, बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वा वि, महाकाए त्ति आलवे ।।२३।।

हिन्दी पद्य—

सामर्थ्यवान् उनको बोले, अथवा परिपुष्ट अंगवाला ।
या मुदित अभूतपूर्व कोई, अतिशय विशाल काया वाला ।।

अन्वयार्थ—

परिवुड्ढे=बढ़ा हुआ-शक्ति सम्पन्न है। त्ति बूया=ऐसा बोले। उवचिए=भरे शरीर वाला है। त्ति=ऐसा। बूया=बोलें ! संजाए=सब अंगों से परिपूर्ण। पीणिए=पुष्ट। वा=अथवा। महाकाए=विशालकाय है। त्ति=इस प्रकार। आलवे=बोले !

भावार्थ—

आवश्यकता से कहना हो तो-यह शक्ति सम्पन्न है, भरे शरीर वाला, परिपूर्ण अंग-उपांग वाला, परिपुष्ट और विशालकाय वाला है ऐसे निर्दोष और शोभनीय शब्दों से बोलें, सावद्य वचन का प्रयोग नहीं करें।

मूल—

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति य ।
वाहिमा रहजोग त्ति, नेवं भासेज्ज पन्नवं ।।२४।।

हिन्दी पद्य—

है दोहन के योग्य गाय, बछड़े निग्रह के योग्य तथा ।
हल और शकट लायक देखो, ना प्राज्ञ श्रमण यह कहे कथा ।।

अन्वयार्थ—

तहेव=उसी प्रकार। गाओ=गौएं। दुज्झाओ=दुहने योग्य है। य=और। गोरहग=बछड़े। दम्मा=दमन करने योग्य है-खसी करने योग्य है। वाहिमा=खेत में हल चलाने योग्य है। रहजोगत्ति=रथ में जोड़ने योग्य है। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। एवं=इस प्रकार। न भासेज्ज=सावद्य वचन कभी नहीं बोले।

भावार्थ—

जो वचन आरम्भवर्द्धक या किसी को पीड़ाकारक हो साधु, वैसे वचन नहीं बोलें, जैसे-ये गाय, भैंस आदि दुहने योग्य हैं, बछड़े दमन करने योग्य, हल में लगाने योग्य और रथ में जोतने योग्य हैं, ऐसी भाषा बुद्धिमान् कभी नहीं बोले।

▭

मूल—

जुवं गवेत्ति णं बूया, धेणुं रसदयत्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि, वए संवहणेत्ति य ॥२५॥

हिन्दी पद्य—

संयमी तरुण बैल बोले, और गाय दुधारू को रसदा।
यह छोटा है यह बैल बड़ा, मुनि कहे उसे संवहन सदा॥

अन्वयार्थ—

गवेत्ति=यह बैल। जुवं=युवा है। धेणुं=दुधारू धेनु को। रसदयत्ति=रसदा ऐसा। बूया=कहे। रहस्से=यह ह्रस्व-छोटा है। वा=अथवा। महल्लए=बड़ा है। संवहणेत्ति=संवहन योग्य है ऐसा। वए=बोले।

भावार्थ—

गाय बैल के लिये आवश्यकता से कभी बोलना पड़े तो बैल युवा है, धेनु या महिष रसदा है, बैल छोटा अथवा बड़ा है तथा वहन योग्य है, इस प्रकार साधु संयत भाषा में बोले। आरम्भ की वृद्धि हो और पशु को पीड़ा हो ऐसे वचन नहीं बोले।

▭

मूल—

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥२६॥

हिन्दी पद्य—

विचरण करते मुनि प्राज्ञ कभी, उद्यान शैल वन में जाकर।
ना बोले ऐसे वचन देख, दृढ़ विटप विशाल खड़ा पाकर॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। उज्जाणं=उद्यान-बगीचे में। पव्वयाणि=तथा पर्वत। य=और। वणाणि=वनों में। गतुं=जाकर। रूक्खा महल्ल=बड़े-बड़े वृक्षों को। पेहाए=देखकर। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। एवं=इस प्रकार। न भासेज्ज=नहीं बोलें।

भावार्थ—

विचरण करते मुनि कभी उद्यान, पर्वत, और वनों में पहुंचे, वहां ताल, तमाल, सागवान् आदि के बड़े-२ वृक्ष दृष्टिगोचर हो तो बुद्धिमान साधु उनको देखकर आगे कहीं जाने वाली सदोप भाषा नहीं बोले।

□

मूल—

अलं पासायखंभाणं, तोरणाणं गिहाण य।
फलिहग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं ॥२७॥

हिन्दी पद्य—

ये वृक्ष महल के स्तम्भ योग्य, फाटक मकान रचने वाले।
परिघा अर्गला नाव तथा, जल पात्र सुखद बनने वाले॥

अन्वयार्थ—

पासाय खंभाणं=भवन के खम्भों के लिये। तोरणाणं=तोरण। य=और। गिहाण=घर के लिये। अलं=अच्छे-पर्याप्त होंगे। फलिहग्गलनावाणं=नगर द्वार की परिघा, आगल, और नौका के लिये तथा। उदगदोणिणं=जल कुंडी के लिये। अलं=अच्छे हैं।

भावार्थ—

वन में अच्छे-अच्छे वृक्षों को देखकर संयमी ऐसा नहीं बोले कि ये वृक्ष भवन के खम्भों के लिये, तोरण और घर की छत के लिये तथा नगर

द्वार की परिघा, आगल, नौका और जलकुंडी के लिये इसकी लकड़ी अच्छी है, ऐसी सावद्य भाषा नहीं बोलें।

मूल—

पीढए चंगबेरे य, नंगले मइयं सिया।
जंतंलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया ॥२८॥

हिन्दी पद्य—

ये पीढ़ पायली हल चौकी, के लगते है निर्माण योग्य।
कोल्हू पहिए के मध्य भाग, अथवा सुनार-उपकरण योग्य ॥

अन्वयार्थ—

पीढए=पीढ-वाजोट। चंगबेरे=चंगेरी-काष्ठपात्री। य=और। नंगले=नंगल। मइयं सिया=तथा खेत को सम करने के लिये फेरा जाने वाला काष्ठ। जंतंलट्ठी=घाणी की लाट। नाभि=चाक की नाभि। गंडिया=गंडिका-एरन के लिये। अलंसिया=अच्छा होगा।

भावार्थ—

अच्छे वृक्षों को देखकर यह कहना कि यह काष्ठ पीठ-वाजोट, चंगेरी, नंगल, या खेत में घुमाने के बड़े काष्ठ के लिये, कोल्हू की लाट, चक्र की नाभि अथवा एरन के लिये ठीक है, यह सावद्य भाषा है।

मूल—

आसणं सयणं जाणं, होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥२९॥

हिन्दी पद्य—

इससे शयन यान आसन, या साधु उपाश्रय बनें तभी।
ना ऐसी प्राणहरी भाषा, मुनि प्राज्ञ किसीसे कहे कभी ॥

अन्वयार्थ—

आसणं=फिर पाट आदि आसन। सयणं=सोने का बड़ा पाट। जाणं=यान-पालकी आदि। उवस्सए=उपाश्रय के लिये। किंच=कुछ। होज्जा=उपयोगी होगा! भूओवघाइणिं=इस प्रकार हिंसा वर्द्धक। भासं=भाषा। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। न भासेज्ज=नहीं बोले।

भावार्थ—

जंगल के वृक्षों को देखकर साधु उपाश्रय के लिये छोटा पाट, सोने का बड़ा पाट, यान, कपाट आदि के लिये उपयोगी होगा, ऐसी हिंसा कारक भाषा बुद्धिमान को कभी नहीं बोलना चाहिये। साधु उपाश्रय के निर्माण कार्य से भी उपरत होता है, इसलिये उसको इस सम्बन्ध में तटस्थ रहना ही अच्छा है।

मूल—

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि य।
रूक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासेज्ज पन्नवं ॥३०॥

हिन्दी पद्य—

प्राज्ञ-साधु विचरण करते, जाकर उद्यान शैल वन में।
उन बड़े विटप को देख - देख कह सकते ऐसे जन जन में॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। उज्जाणं=उद्यान। पव्वयाणि=पर्वत। य=और। वणाणि=वनों में। गतुं=जाकर। रूक्खामहल्ल=बड़े-बड़े वृक्षों को। पेहाए=देखकर। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। एवं=इस प्रकार। भासेज्ज=बोले।

भावार्थ—

जंगल में विचरण करते हुए कभी मुनि उद्यान, पर्वत और वन प्रदेशों में प्रकृति के रमणीय दृश्यों में बड़े-२ वृक्षों को देखकर आवश्यकता वश परिचय देना पड़े तो बुद्धिमान ऐसी निर्दोष भाषा में बोले।

मूल—

जाइमंता इमे रूक्खा, दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति य ॥३१॥

हिन्दी पद्य—

ये उच्च जाति वाले तरु हैं, लम्बे और गोल तथा विस्तृत।
परिपूर्ण प्रशाखा शाखा से, यों बोले विटप सुघड़ सज्जित॥

अन्वयार्थ—

इमे=ये। रुक्खा=वृक्ष। जाइमंता=अच्छी जाति वाले है। दीहवट्टा=लम्बे वर्तुलाकार हैं। महालया=विस्तार वाले है। पयायसाला=शाखाएं खूब फैली हुई है। विडिमा=प्रतिशाखा वाले। य=और। दरिसणित्ति=दर्शनीय है। वए=ऐसा बोले।

भावार्थ—

ये वृक्ष अच्छी जाति वाले हैं, लम्बे वर्तुलाकार है, बहुत विस्तार वाले हैं, शाखा और प्रतिशाखाएं भी बहुत फैली हुई है, इसलिये दर्शनीय है ऐसा बोले- संयमी उनके सम्बन्ध में कोई सावद्य वचन नहीं बोले।

▭

मूल—

तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइत्ति नो वए ॥३२॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ये स्वयं पके है फल, ना कहे खाद्य होंगे पककर।
हैं तत्क्षण खाद्य योग्य कोमल, या दो भागों में कटने पर॥

अन्वयार्थ—

तहा=वृक्षों की तरह। फलाइं=ये फल। पक्काइं=अच्छे पके। पायखज्जाइं=पका कर खाने लायक है। नो वए=इस प्रकार की सावद्य भाषा नहीं बोले। वेलोइयाइं=समय के अनुकूल। टालाइं=कोमल है। वेहिमाइत्ति=चाकू से काटने योग्य है। नो वए=इस प्रकार नहीं बोलें।

भावार्थ—

वैसे कभी फलों के विषय में बोलने का प्रसंग आवे तो ये फल अच्छे पके हैं, पकाकर खाने योग्य है, मौसम के अनुकूल है, गुठली नहीं आने से कोमल है, दो टुकड़े कर खाने योग्य है, इस प्रकार का कथन आरम्भजनक और आहार संज्ञा उत्पन्न करने वाला है, इसलिये मुनि ऐसी भाषा नहीं बोलें।

—

मूल—

असंथडा इमे अंबा, बहुनिवट्टिमा फला।
वएज्ज बहुसंभूया, भूयरूवत्ति वा पुणो ॥३३॥

हिन्दी पद्य—

बहु फल वाले ये आम्र विटप, असमर्थ भार ढोने में है।
फल चुके तथा फल लगने से, अतिशय सुन्दरता इनमें है ॥

अन्वयार्थ—

इमे=ये। अंबा=आम वृक्ष। असंथडा=फल धारण में असमर्थ है। बहुनिवट्टिमा फला=प्रायः फल तैयार हो चुके हैं। बहुसंभूया=एक साथ अधिक फल लगे हैं। पुणो=अथवा। भूयरूवत्ति=कोमल हैं। वएज्ज= इस प्रकार बोलें।

भावार्थ—

फलों के सम्बन्ध में कभी कहना पड़े तो इस प्रकार बोले-ये आम फल धारण करने में असमर्थ हैं, प्रायः पक चुके है, एक साथ बहुत उत्पन्न हुए हैं, गुठली नहीं पड़ने से कोमल हैं, इस प्रकार कारण होने पर बोले।

मूल—

तहेवोसहीओ पक्काओ, नीलियाओ छवीइ य।
लाइमा भज्जिमाओत्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए ॥३४॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे ये पक गये अन्न, कोमल वा योग्य तोड़न के हैं।
काटने तथा भूंजने योग्य, ना होला खाने योग्य कहे ॥

अन्वयार्थ—

तहेवोसहीओ=इसी प्रकार-धान्य के सम्बन्ध में भी ये शालि आदि धान्य। पक्काओ=पक चुके है। नीलियाओ छवीइय=फलियां नीली हैं। लाइमा=लूनने-काटने योग्य है। भज्जिमाओत्ति=भुनने लायक है। पिहुखज्जत्ति=अग्नि में सेंक कर खाने योग्य हैं। नो वए=इस प्रकार सावद्य वचन नहीं बोलें।

भावार्थ—

फलों की तरह धान्य के सम्बन्ध में-ये शालि, जो, आदि पक चुके हैं, फलियां नीली हैं, काटने योग्य हो गयी हैं, भुनकर खाने योग्य हैं, होले आदि की तरह आग पर सेक कर खाने योग्य हैं, ऐसी सावद्य भाषा प्रसंग आने पर भी नहीं बोले।

मूल—

रूढ़ा बहुसंभूया, थिरा ऊसढा वि य।
गब्भियाओ पसूयाओ, ससाराओत्ति आलवे ॥३५॥

हिन्दी पद्य—

अंकुरित सुविस्तृत हुए शालि, दृढ़ अंगों से अति शोभित हैं।
काण्डादि-समृद्ध मंजरी युत, बोले दाने से सज्जित हैं॥

अन्वयार्थ—

रूढ़ा=धान्य के अंकुर निकल गये हैं। बहु संभूया=पत्र आदि बहुत फैल गये हैं। थिरा=स्थिर। य=और। ऊसढा=धान्य ऊंचे आ गये है। गब्भियाओ=सिट्टे निकलने वाले है। पसूयाओ=सिट्टे निकल चुके हैं। ससाराओत्ति=दाने फैल रहे है। आलवे=इस प्रकार बोलें।

भावार्थ—

प्रसंग वश धान्य के सम्बन्ध में कुछ कहना पड़े तो-शालि आदि के अंकुर निकल गये हैं, पत्र फैल चुके हैं, स्थिर जमकर धान्य ऊपर आ गये है। सिट्टों में दूध आया—सिट्टे निकलने वाले है या सिट्टे निकल गये हैं, उनमें दाने भी पड़ चुके है, इस प्रकार निर्दोष वचन बोलें। रूढ़ आदि शब्दों से वनस्पति की ७ अवस्थाएं कही गई है, इनका क्रम बीज के अंकुरित होकर पुनः बीज होने तक है। चूर्णिकार ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है— १. अंकुरित को रूढ, २. विकसित को बहु संभूत, ३. बीजांकुर की उत्पादक शक्ति को स्थिर, ४. सुसंवर्धित स्तम्भ को उत्सृत, ५. भुट्टा न निकला हो उसे गर्भित, ६. भुट्टा निकलने पर प्रसूत और, ७. दाने पड़ने पर ससार कहा है।

मूल—

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जंत्ति नो वए।
तेणगं वा वि वज्झेत्ति, सुतित्थ त्ति य आवगा॥३६॥

हिन्दी पद्य—

ना बोले मृतक विवाह हेतु, करना है जीमनवार उचित।
ना चोर देख वध योग्य कहे, शुभ तीर्थ नदी को भी वर्जित॥

अन्वयार्थ—

तहेव=उसी प्रकार। संखडिं=जीमनवार को। नच्चा=जानकर। किच्चं=यह काम। कज्जंत्ति=करणीय है। नो वए=ऐसा नहीं बोले। तेणगं=चोर को। वज्झेत्ति=यह वध्य है ऐसा। य=और। आवगा=नदी को। सुतित्थत्ति=यह सरलता से तैरने योग्य है। नो वए=इस प्रकार नहीं बोले।

भावार्थ—

धान्य के समान कभी गाव में जीमनवार हो तो मृत्यु भोज आदि के जीमनवार को जानकर यह गांव का काम है करने योग्य है, ऐसा कहना सावद्य वचन है। चोर को यह फांसी देने योग्य है ऐसा और नदियों को देखकर यह आराम से तैरने योग्य है, ऐसा हिंसाकारी वचन नहीं बोले।

मूल—

संखडिं संखडिं बूया, पणियट्ठत्ति तेणगं।
बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं वियागरे ॥३७॥

हिन्दी पद्य—

जीमन को जीमनवार कहे, और चोर देख बोले यह जन।
जीवन-पण से है स्वार्थ निरत, और नदी देख बोले तट सम ॥

अन्वयार्थ—

संखडिं=खंखडी को। संखडिं=पट्काय जीवों की हिंसा रूप संखडी। बूया=कहे। तेणगं=चोर को। पणियट्ठत्ति=धन का अर्थी ऐसा। आवगाणं=नदियों के सम्बन्ध में। तित्थाणि=बहुत समान तीर्थ-तटवाली है। वियागरे=कथन करे।

भावार्थ—

जीमन षट्काय जीवों के प्राण हरण वाला होने से उसे संखडि कहे, चोर को अर्थ के लिये जीवन को बाजी पर धरने वाला और नदियों को देखकर इनके तट-तीर्थ सम हैं, ऐसो निर्दोष भाषा बोले।

मूल—

तहा नईओ पुण्णाओ, कायतिज्जत्ति नो वए।
नावाहिं तारिमाओत्ति, पाणिपिज्जत्ति नो वए ॥३८॥

हिन्दी पद्य—

ना कहे नदी यह उदकभरी, तन से तैरी जा सकती है।
या नावों से हैं पार योग्य, सुख पेया कहला सकती है ॥

अन्वयार्थ—

तहा=वैसे। पुण्णाओ=भरी हुई। नईओ=नदियों को। कायतिज्जत्ति=काय से तिरने योग्य है ऐसा। नो वए=नहीं कहे। नावाहिं=नौकाओं के द्वारा। तारिमाओत्ति=तिरने योग्य है ऐसा। पाणिपिज्ज=तथा यह सुख पेय है-तट पर बैठा कोई भी अंजलि से पानी पी सकता है। ति=इस प्रकार। नो वए=नहीं बोले।

भावार्थ—

तथा भरी हुई नदियों को देखकर ये शरीर से तिरने योग्य हैं या नौका से पार करने योग्य हैं, ऐसी सुख पेया है कि तट पर बैठा बच्चा भी आराम से पानी पी सकता है, ऐसा नहीं कहें।

मूल—

बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा।
बहुवित्थडोदगा यावि, एवं भासेज्ज पन्नवं ॥३९॥

हिन्दी पद्य—

जल भरी अगाध वेगवाली, विस्तार-उदग-क्षेत्रों वाली।
मुनि प्राज्ञ कहें ऐसी भाषा, जो उनकी मर्यादा वाली ॥

अन्वयार्थ—

बहुवाहडा=जल से पूर्ण भरी हुई है। अगाहा=अगाध गहराई वाली। बहुसलिलुप्पिलोदगा=पानी की अधिकता से दूसरी नदी से पानी टकराता है। यावि=और वह। बहुवित्थडोदगा=बहुत विस्तृत उदक वाली। पन्नवं=बुद्धिमान साधु। एवं=ऐसी। भासेज्ज=निर्दोष भाषा बोले।

भावार्थ—

नदियों को देखकर-जल से पूर्ण भरी हुई अगाध जल वाली दूसरी नदी के पानी से जो टकराने वाली है, और जिसका पानी बहुत फैला हुआ है, इस प्रकार बुद्धिमान साधु को निर्दोष वचन बोलने चाहिये।

मूल—

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठाए निट्ठियं।
कीरमाणं ति वा नच्चा, सावज्जं न लवे मुणी ॥४०॥

हिन्दी पद्य—

भूत भविष्यद् वर्तमान में, परहित जान पाप का कर्म।
मुनि बोले सावद्य वचन ना, हो जिससे उत्पन्न अधर्म ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=ऐसे ही। परस्सट्ठाए=किसी दूसरे के लिये। निट्ठियं=भूत-काल में किये गये। सावज्जं=पाप सहित कार्य। कीरमाणं ति=जो किया जा रहा हो। वा=या भविष्य में होने वाला। नच्चा=जानकर अच्छा है ऐसा। सावज्जं=सदोष वचन। मुणी=मुनि। न लवे=कभी नहीं बोले।

भावार्थ—

मुनि हिंसा जनक प्रवृत्ति का कृत, कारित, अनुमोदन का त्यागी है, अतः किसी दूसरे के लिये किये गये अथवा जो किया जा रहा है—वैसे क्रियमाण सावद्य हिंसा आदि पाप वाले कार्य को अच्छा किया इत्यादि रूप से मुनि सावद्य वचन नहीं बोले।

▭

मूल—

सुकडे त्ति सुपक्के त्ति, सुछिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिय सुलट्ठे त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥४१॥

हिन्दी पद्य—

सुकृत सुपक्व सुच्छिन्न और, सुन्दर हृतमृत न कहे श्रमण।
सुन्दर नष्ट तथा रुचिरा, ऐसा सब पाप वचन वर्जन ॥

अन्वयार्थ—

सुकडेत्ति=यह भोजन अच्छा किया। सुपक्केत्ति=अच्छा पकाया। सुछिन्ने=अच्छा भेदन किया। सुहडे=अच्छा हरण किया। मडे=अच्छा मरा। सुनिट्ठिय=अच्छा रस निष्पन्न हुआ। सुलट्ठे त्ति=बहुत सुन्दर है इस प्रकार का। सावज्जं=सावद्य वचन। मुणी=मुनि। वज्जए=वर्जन करें।

भावार्थ—

भोजन आदि के सम्बन्ध में साधु ऐसा नहीं कहे-यह अच्छा किया, अच्छा पकाया, शाक पत्रादि अच्छा छेदन किया, कड़वापन अच्छा दूर किया, सत्तु में घी अच्छा भरा, अच्छा स्वादिष्ट हो गया-अच्छे सुन्दर है, इस प्रकार के सावद्य वचन मुनि वर्जन करें।

मूल—

पयत्तपक्कत्ति य पक्कमालवे, पयत्तछिन्नत्तिय छिन्नमालवे।
पयत्तलट्ठत्ति व कम्महेउयं, पहारगाढ़त्ति व गाढ़मालवे॥

हिन्दी पद्य—

श्रमपूर्ण पक्व को पका कहे, श्रम छिन्न वस्तु को छिन्न कहे।
कर्म हेतु से कर्म लष्ट, गाढ़ प्रहार को गाढ कहे॥

अन्वयार्थ—

पक्कं=अच्छे पके हुए को। पयत्तपक्कत्ति=प्रयत्न से पक्व। आलवे=कथन करे। छिन्नं=अच्छे कटे को। पयत्तछिन्नत्ति=प्रयत्न छिन्न। आलवे=कहे। पयत्तलट्ठत्ति=सधे अभ्यास से किये हुए को। कम्महेउयं=कर्म हेतुक कहे। गाढं=गाढ को। पहारगाढत्ति=प्रहार गाढ। आलवे=ऐसा कहें।

भावार्थ—

सावद्य भाषा से वचने के लिये कैसे वचन बोले, तो कहते हैं-अच्छे पके को प्रयत्न छिन्न, अच्छे कटे को प्रयत्न छिन्न कहे, अभ्यास बल से किये गये को कर्म हेतुक और गाढ को प्रहार गाढ कहे, इन शब्दों में परिश्रम का ही उल्लेख किया है, जो जिस तरह किया जाय उसको वैसा कहना सावद्य नहीं है।

मूल—

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं।
अविक्कियमवत्तव्वं, अचियत्तं चेव नो वए॥४३॥

हिन्दी पद्य—

यह सबसे सुन्दर मूल्यवान, अनुपम इसके सम और नहीं।
यह अविक्रीत वर्णन से बाहर, मुनि दुखद वचन कुछ कहे नहीं॥

अन्वयार्थ—

सव्वुक्कसं=यह वस्तु सबसे उत्कृष्ट है। परग्घं=बहुत मूल्य वाली है। अउलं=यह अतुल है। एरिसं=ऐसी। नत्थि=अन्य नहीं मिलती। अविक्कियं=मोल बेचने योग्य नहीं है। अवत्तव्वं=मोल कहा नहीं जा सकता और। अचियत्तं=अप्रीति कारक है। नो वए=ऐसा नहीं बोलें।

भावार्थ—

विक्रय की वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रसंगवश कहना पड़े तो-यह सबसे उत्कृष्ट है, बहुत अधिक मूल्यवान है, इसके समान दूसरी वस्तु नहीं होने से यह अतुल है, यह बेची नहीं जा सकती क्योंकि इसका मूल्य कहा नहीं जा सकता और अच्छी-प्रीतिकर नहीं, ऐसा सावद्य वचन नहीं बोलें।

▭

मूल—

सव्वमेयं वइस्सामि, सव्वमेयंत्ति नो वए।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासेज्ज पन्नवं ॥४४॥

हिन्दी पद्य—

ऐसा सब कुछ मैं कह दूंगा, या उसने ऐसा कहा सभी।
ना प्राज्ञ कहे करके विचार, और बोले प्रिय सर्वत्र सभी॥

अन्वयार्थ—

एयं=यह शास्त्र या प्रवचन। सव्वं=मैं सब। वइस्सामि=बोल दूंगा। सव्वमेयंत्ति=सब ऐसा ही है यों। नो=नहीं। वए=बोलें। पन्नवं=बुद्धिमान् साधु। सव्वत्थ=सब स्थानों पर। सव्वं=सब कुछ। अणुवीइ=सोच विचार कर। एवं=इस प्रकार। भासेज्ज=बोले।

भावार्थ—

व्रती साधक कभी भावावेग में यह नहीं कहे कि मैं यह प्रवचन सब ऐसा ही बोल दूंगा, यह सब ऐसा ही है, इस प्रकार नहीं कहे किन्तु बुद्धिमान-पहले तोले फिर बोले, इस उक्ति के अनुसार पहले सर्वत्र सब बात सोचकर फिर आगे बताई शैली से कहे।

▭

मूल—

सुक्कीयं वा सुविक्कीयं, अकेज्जं केज्जमेव वा।
इमं गेण्ह इमं मुंच, पणियं नो वियागरे ॥४५॥

हिन्दी पद्य—

अच्छी खरीद बिक्री अच्छी, यह क्रेय पण्य अक्रेय नहीं।
यह ले लो और दो इसे छोड़, मुनि बोले ऐसे वचन नहीं ॥

अन्वयार्थ—

सुक्कीयं=अच्छा खरीदा। वा=अथवा। सुविक्कीयं=अच्छा बेचा। अकेज्जं=यह खरीदने योग्य नहीं है। वा=अथवा। केज्जमेव=खरीदने लायक है। इमं=यह। गेण्ह=खरीद लो। इमं=यह। मुंच=छोड़ दो। पणियं=पण्य के विषय में। नो वियागरे=ऐसा नहीं कहे!

भावार्थ—

क्रय विक्रय के प्रसंग से किसी को रागवश साधु-यह अच्छा खरीदा, अथवा अच्छे में बेच दिया, यह खरीदने योग्य नहीं है, या यह खरीदने योग्य है, इसको खरीद लो, इसको मत खरीदो, इस प्रकार पण्य के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं है।

मूल—

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा।
पणियट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं वियागरे ॥४६॥

हिन्दी पद्य—

अल्प मूल्य या अधिक मूल्य, क्रय एवं विक्रय बारे में।
पण्य वस्तु को पास देख, अधिकार न मुनि के कहने में ॥

अन्वयार्थ—

अप्पग्घे=अल्पमूल्य के। वा=अथवा। महग्घे=अधिक मूल्य के। कए=खरीदने। वा=अथवा। विक्कए=बेचने के सम्बन्ध में। पणियट्ठे=काम का प्रसंग। समुप्पन्ने=उत्पन्न होने पर। अणवज्जं=निरवद्य वचन। वियागरे=बोले।

भावार्थ—

साधु आरम्भ परिग्रह का त्यागी है अतः उसे किसी को खरीद बिक्री के सम्बन्ध में चाहे वस्तु कम कीमत की हो या अधिक कीमती, प्रसंग पाकर ऐसी भाषा बालनी चाहिये जो निर्दोष हो। त्याग विराग की ओर प्रेरित करना ही साधु का काम है, और वह क्या खरीदे, क्या नहीं इस सम्बन्ध में साधु को तटस्थ रहकर अनीति से बचने का ही उपदेश करना चाहिये।

मूल—

तहेवासंजयं धीरो, आस एहि करेहि वा।
सय चिट्ठ वयाहित्ति, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥४७॥

हिन्दी पद्य—

गृहस्थ को ना धीर प्राज्ञ, मुनि बोले बैठो या आओ।
खड़ा रहो कुछ करो और, मन चाहे जहां चले जाओ ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=(खरीद विक्री के समान) वैसे ही। धीरो=धीर मुनि। असंजयं=असंयति-गृहस्थ को। आस=बैठो। एहि=आओ। वा=अथवा। करेहि=यह काम करो। सय=सो जाओ। चिट्ठ=खड़े रहो। वयाहित्ति=चले जाओ। एवं=इस प्रकार। पन्नवं=बुद्धिमान। न=नहीं। भासेज्ज=बोले।

भावार्थ—

संयमी साधु गृहस्थ को संसार की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में आओ, बैठो, यह काम करो, सो जाओ, खड़े रहो, चले जाओ, खालो, पीओ आदि नहीं कहे। असंयमी को आने, जाने आदि का कहना, असंयमी द्वारा होने वाले गमनागमन के आरम्भ में निमित्त बनता है, अतः साधु को खास आवश्यकता से कुछ कहना हो तो यहां ठहरने का अभी अवसर नहीं है, जाने के लिये अभी आप उधर अवसर देख ले या दया पाल लें, संतों को आहार करना है ऐसी निरवद्य भापा बोले।

▭

मूल—

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहुं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ॥४८॥

हिन्दी पद्य—

जग में बहुत असाधु वेष, धारण कर साधु कहाते हैं।
असाधु को ना साधु कहे, साधु ही साधु कहाते हैं ॥

अन्वयार्थ—

लोए=लोक में। इमे=ये। बहवे=बहुत से। असाहू=असाधु भी। साहुणो=साधु नाम से। वुच्चंति=कहे जाते है, किन्तु बुद्धिमान। असाहुं=

असाधु को। साहुत्ति=साधु ऐसा। न लवे=नहीं कहे। साहुं=गुणसम्पन्न साधु को ही। साहुत्ति=साधु नाम से। आलवे=कथन करे।

भावार्थ—

संसार में बहुत से वेषधारी असाधु होकर भी भक्तों के द्वारा राग-वश साधु कहे जाते हैं। इसलिये बुद्धिमान को चाहिये कि असाधु को साधु न कहे, साधु को ही साधु रूप से कथन करे।

मूल—

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे ॥४९॥

हिन्दी पद्य—

सम्पन्न ज्ञान दर्शन से जो, संयम और तप में लीन सदा।
इन गुण से युक्त तपस्वी को, उपयुक्त कथन है साधु सदा ॥

अन्वयार्थ—

नाण दंसण=जो सम्यक् ज्ञान और दर्शन से। संपन्नं=युक्त है। संजमे=संयम। य=तथा। तवे=तपस्या में। रयं=रमण करने वाले है। एवं=ऐसे। गुणसमाउत्तं=संयम गुणों से युक्त। संजयं=संयमी को ही। साहुमालवे=साधु रूप से कथन करें।

भावार्थ—

साधु वेष से नहीं गुणों से होता है। साधु का अर्थ साधना करने वाला है। सच्चे सोने की तरह उसमें कीट नहीं आता। जो सम्यग् ज्ञान, और श्रद्धा सम्पन्न, तथा १७ प्रकार के संयम और तप में रमण करने वाला है, ऐसे गुण युक्त संयति को ही साधु नाम से कथन करना चाहिये।

मूल—

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउत्ति नो वए ॥५०॥

हिन्दी पद्य—

देवों के और मनुष्यों के, या तिर्यंचों के विग्रह में।
जीत इसी की हो या ना, यह कहे न साधु कभी जग में ॥

अन्वयार्थ—

देवाणं मणुयाणं=देव, मनुष्य । च=और । तिरियाणं=तिर्यञ्चो के । वुग्गहे=विग्रह-युद्ध में । अमुयाणं=अमुकों का । जओ होउ=जय हों । वा=अथवा । मा=इनका नहीं । होउत्ति=हो, इस प्रकार । नो वए= नहीं बोले ।

भावार्थ—

भूत, प्रेत, आदि देव, मनुष्य और पशुओं की लड़ाई में साधु लड़ने वालों में अमुक की जय हो अथवा अमुक हार जावे, इनकी जीत नहीं होवे, इस प्रकार राग द्वेष वर्द्धक वचन नहीं बोले ।

मूल—

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा ।
कयाणु होज्ज एयाणि, मा वा होउत्ति नो वए ।।५१।।

हिन्दी पद्य—

वायु वृष्टि सर्दी गर्मी, शुभ धान्य और कल्याण कथन ।
कब होंगे अथवा ना होंगे, ऐसे ना बोले कभी श्रमण ।।

अन्वयार्थ—

वाओ=वायु । वुट्ठं=वृष्टि । च=और । सीउण्हं=शीत-उष्ण । खेमं=नीरोगता । धायं=सुभिक्ष । सिवंति=शिव-निरुपद्रवता । एयाणि= ये सब । कयाणु=कब होंगे । वा=अथवा । मा होउ=ये न होवें । त्ति= इस प्रकार । णो वए=नहीं कहें !

भावार्थ—

ऋतु परिवर्तन के विषय में साधु वायु, वृष्टि, शीत, उष्ण, क्षेम, सुभिक्ष और शिव-उपद्रव रहितता, ये सब कब होंगे, अथवा ये सब नहीं हों, ऐसा नहीं बोले ।

मूल—

तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देव देवत्ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए, वएज्ज वा वुट्ठ बलाहइत्ति ।।

हिन्दी पद्य—

वैसे नभ मेघ और मानव, को नहीं कभी देवेन्द्र कहे।
पुद्गल परिणमन और उन्नत, या बरसा हुआ पयोद कहे।।

अन्वयार्थ—

तहेव=इसी प्रकार। मेहं=मेघ। नहं=नभ। व=या। माणवं=मानव को। देव देवत्ति=देव-देव ऐसी। गिरं=भाषा। न वएज्जा=नहीं बोले। सम्मुच्छिए=पयोद-बादल उमड़ रहे। उन्नए=ऊपर उठ रहे अथवा। वा पओए=जल से भरे हुए अथवा। वुट्ठबलाहइ=मेघ बरस गया है। त्ति=ऐसा। वएज्ज=बोलें।

भावार्थ—

वात आदि के समान मेघ आदि के लिये प्रसंग आने पर मेघ, नभ, या मानव को देव-देव ऐसा नहीं बोले, मेघ अमड़ रहा, अथवा उन्नत हो झुक रहा है, अब तो मेघ बरस गया इस प्रकार निर्दोष भाषा बोले।

मूल—

अंतलिक्खे त्ति णं बूया, गुज्झाणुचरिय त्ति य।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतं त्ति आलवे ॥५३॥

हिन्दी पद्य—

नभ को अन्तरिक्ष बोले, या देव गमन का मार्ग कहे।
देख ऋद्धिवाले मानव को, ऋद्धिमान् यह वचन कहे ॥

अन्वयार्थ—

अंतलिक्खेत्तिणं=आकाश के लिये अन्तरिक्ष ऐसा। य=और। गुज्झाणु चरियत्ति=गुह्यक आदि देवों से अनुचरित है ऐसा। बूया=कहें। रिद्धिमंतं=ऋद्धिमान्। नरं=मनुष्य को। दिस्स=देखकर। रिद्धिमंतंत्ति=यह सम्पत्तिशाली है ऐसा। आलवे=कथन करे।

भावार्थ—

मेघ या नभ को देव कहने के बदले अन्तरीक्ष और गुह्यकादि देवों का गतागत मार्ग है ऐसा बोले, ऋद्धिमान् या ओजस्वी, तेजस्वी मनुष्य को देखकर यह ऋद्धिमान् व शक्तिमान है, इस प्रकार बोलें।

मूल—

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह-भयसा व माणवो,न हासमाणो वि गिरं वएज्जा।।

हिन्दी पद्य—

पापानुमोदिनी निश्चय की, पर घातक जो वाणी जग में।
क्रोध लोभ भय हास युक्त, नर ना बोले हंसकर भव में।।

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। सावज्जणुमोयणी=सावद्य-पाप के अनुमोदन करने वाली। य=और। ओहारिणी=अवधारिणी तथा। जा=जो। परोवघाइणी=अन्य जीवों को पीड़ा देने वाली है, ऐसी। गिरा=भाषा। कोह लोह भयसा=क्रोध लोभ या भय से। माणवो=मानव। हासमाणो=हंसता हुआ भी। गिरं=भाषा। ण वएज्जा=नहीं बोलें।

भावार्थ—

फिर संयमी साधु जो भाषा पाप का अनुमोदन करने वाली हो, जो निश्चयकारिणी और अन्य जीवों को पीड़ाकारी है वैसी भाषा, क्रोध के वश, लोभ के वश, या भय के वश मनुष्य हंसता हुआ भी ऐसा नहीं बोलें। क्रोधादि के आवेग में बोली हुई भाषा सत्य व्रत को मलिन करने वाली होती हैं।

मूल—

स वक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,सयाण मज्झे लहई पसंसणं।५५।

हिन्दी पद्य—

वाक्य शुद्धि को देख श्रमण, दे दुष्ट वचन को छोड़ सदा।
परिमित दोष रहित चिन्तन कर, वक्ता पाता सत्कीर्त्ति सदा।।

अन्वयार्थ—

स=वह। मुणी=मुनि। वक्क सुद्धिं=वाक्य शुद्धि का। समुपेहिया=अच्छी तरह विचार कर। सया=सदा। दुट्ठं=दुष्ट। गिरं=भाषा का।

परिवज्जए=वर्जन करे। मियं=और मित-नपे तुले शब्द वाली। अदुट्ठं=निर्दोष भाषा। अणुवीइ=सोचकर। भासए=बोलता है, वह। सयाण=सत्पुरुषों के। मज्झे=मध्य में। पसंसण=प्रशंसा को। लहइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

मुनि वाक्य शुद्धि की शिक्षा का सम्यक् विचार करके सदा दोषयुक्त वाणी का वर्जन करे, और जो भाषा नपी तुली दोष रहित भाषा को विचार कर बोलता है वह सज्जनों के समूह में प्रशंसा को प्राप्त करता है, उसका व्रत भी निर्दोष रहता है।

मूल—

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए, वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं॥

हिन्दी पद्य—

जान दोष गुण भाषा में, उसके दोषों को सदा तजे।
छः में संयत साधुता निरत, मुनि हितप्रद वाणी सतत भजे॥

अन्वयार्थ—

भासाए=भाषा के। दोसे=दोषों। य=और। गुणे=गुणों को। जाणिया=जानकर। तीसेय=उसके। दुट्ठे=दोषों का। सया=सदा। परिवज्जए=वर्जन करे। छसु संजए=छः काय जीवों पर संयम वाला। सामणिए बुद्धे=बुद्धिमान्। सयाजए=सदा यत्न करे। य=और। हियं=हितकारी तथा। अणुलोमियं=अनुकूल वचन। वएज्ज=कथन करें।

भावार्थ—

षट्कायिक जीवों पर संयम करने वाला मुनि भाषा के गुण और दोषों को जानकर उस भाषा के दोषों को सदा वर्जन करे तथा श्रमण धर्म में सदा यत्न करने वाला बुद्धिमान् हितकारी तथा सबके लिये अनुकूल हो, वैसी भाषा बोलें।

मूल—

परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धून्नमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं
त्ति बेमि ॥

हिन्दी पद्य—

बोले सोच जितेन्द्रिय मुनि, कर दूर कषाय हो द्रव्य रहित।
हटा पुराकृत कर्मबन्ध, करता इह परभव आराधित ॥

अन्वयार्थ—

परिक्खभासी=गुण दोष की परीक्षा करके बोलने वाला। सुसमाहिइंदिए=इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से बचाने-वश रखने वाला। चउक्कसायावगए=क्रोध आदि ४ कषायों से दूर। अणिस्सिए=संसार के प्रपंचों से मुक्त। स=वह साधु। पुरेकडं=पूर्वकृत। धुन्नमलं=ढीले किये कर्म मल को। निद्धुणे=दूर अलग कर दे। तहा=तथा। लोगमिणं=इस लोक और। परं=पर लोक को। आराहए=आराधना करता है।

भावार्थ—

लाभालाभ की परीक्षा पूर्वक बोलने वाला, शब्दादि विषयों से इन्द्रियों को वश रखने वाला, क्रोध आदि ४ कषायों से अलग और संसार के प्रपंच से मुक्त वह साधु पूर्वकृत कर्म मल को अलग करता है और इस लोक तथा परलोक की आराधना करता है अर्थात् दोनों लोक सुधार लेता हैं।

इति ब्रवीमि-ऐसा मैं कहता हूं।

॥ सप्तमाध्ययनं समाप्तम् ॥

आचार-प्रणिधि
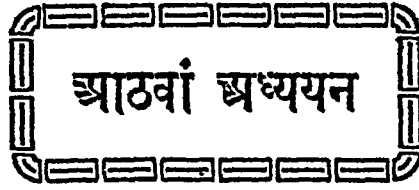
उपक्रम

वाक्यशुद्धि अध्ययन का कथन किया, अब आचार प्रणिधि नाम के अष्टम अध्ययन का वर्णन करते हैं। उसका सम्बन्ध इस प्रकार है—वाक्य-शुद्धि अध्ययन में वचन सम्बन्धी गुण दोष के जानकार साधु को निर्दोष वचन बोलना चाहिये ऐसा कहा। निर्दोष वचन आचार में स्थिर चित्तवाले को होता है, इसलिये यहां साधु को आचार में यत्नवान् होना चाहिये, यह बतलाते हैं क्योंकि—

सुप्पणिहिअजोगो पुण न लिप्पई पुव्वभणिअदोसेहिं।
निद्दहई अ कम्माइं सुक्कतणाइं जहा अग्गी ॥३०७॥

प्रणिधान रहित का निरवद्य भाषण भी सावद्य के समान होता है.... इस सम्बन्ध में अष्टम अध्ययन में आचार का कथन करते हैं। पहले, तीसरे और छठे अध्ययन में आचार कहा, वह आचार यहां पर भी वैसा ही निधि के रूप से कहा जाता है। आचार में मन, वाणी और काय की स्थिरता ही आचार प्रणिधि हैं। जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है—

तम्हा उ अप्पसत्थं, पणिहाणं उज्झिऊण समणेणं।
पणिहाणंमि पसत्थे भणिओ आयारपणिहित्ति ॥३०८॥

सुप्रणिहित योगवान् दोषों से लिप्त नहीं होता किन्तु सूखे तृणों को अग्नि की तरह जला देता है, इसलिये अप्रशस्त प्रणिधान को छोड़कर साधु को प्रशस्त प्रणिधान में मन को रमाना चाहिये।

मूल—

आयारप्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥१॥

हिन्दी पद्य—

आचार-प्रणिधि को पाकर के, मुनि का जो आवश्यक करना।
मैं क्रमिक कहूंगा तुम्हें उसे, जो सावधान होकर सुनना॥

अन्वयार्थ—

आयारप्पणिहिं=आचार सम्पदा को। लद्धुं=पाकर। भिक्खुणा=भिक्षु को। जहा कायव्व=जैसा, करना चाहिये। तं मे=वह मैं तुमको। उदाहरिस्सामि=कहूँगा। आणुपुव्विं=आनुपूर्वी-सिलसिले से वह। मे सुणेह=मेरे पास श्रवण करो।

भावार्थ—

सुधर्मा अपने शिष्यों को कहते हैं-आचार की बहुमूल्य निधि पाकर साधु को किस प्रकार करना चाहिये, वह मैं तुमसे कहूँगा, उसको तुम ध्यानपूर्वक सिलसिले से श्रवण करो। तीसरे अध्ययन में संयमी के निषिद्ध आचार का कथन किया और आचार कथा के रूप से १८ स्थानों का परिचय दिया। आठवें अध्ययन में आचार की इस जानकारी को पाकर क्या करना चाहिये, वह कहते हैं।

▭

मूल—

पुढविदग-अगणिमारुय, तणरुक्खा सबीयगा।
तसा य पाणा जीवत्ति, इइ वुत्तं महेसिणा॥२॥

हिन्दी पद्य—

पृथ्वी जल अग्नि वायु तथा, तृण तरु आदि के बीज सहित।
त्रस तथा गतिशील कहे प्राणी, हैं महर्षि जन से जीव कथित॥

अन्वयार्थ—

पुढविदगअगणिमारुय=पृथ्वीकाय, जल, अग्नि और वायुकाय। तणरुक्खा सबीयगा=तृण, वृक्ष आदि बीज पर्यन्त, वनस्पतिकाय। तसा य पाणा जीवत्ति=और बेइन्द्रियादि त्रस, ये जीव हैं। इइ महेसिणा=ऐसा महर्षि ने। वुत्तं=कहा है।

भावार्थ—

संसार में छः प्रकार के जीव हैं, जो षट्जीवनिका अध्ययन में बता चुके हैं, जैसे—१. पृथ्वीकाय, २. जलकाय, ३. अग्निकाय, ४. मारुत-वायुकाय, ५. तृण वृक्ष आदि बीज पर्यन्त वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय, ये प्राणी जीव है, ऐसा गौतमादि महर्षियों ने कहा है।

मूल—

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय-वक्केण, एवं भवइ संजए ॥३॥

हिन्दी पद्य—

उनकी हिंसा का नित्य त्याग, करके ही हम हिंसा त्यागी।
तन मन और वचन द्वारा, होता संयत संयम भागी ॥

अन्वयार्थ—

तेसिं=उनके साथ। मनसा काय वक्केण=मन, वचन और काय योग से। निच्चं=सदा। अच्छणजोएण=अहिंसक भाव से। होयव्वयं सिया=रहना चाहिये। एवं=इस प्रकार अहिंसक रहने वाला। संजए=संयमी-साधु। भवइ=होता है।

भावार्थ—

अहिंसक साधु को इन सब जीवों के प्रति मन, वचन और काय द्वारा सदा अहिंसक भाव से रहना हैं, छोटे से छोटे जीव की भी हिंसा नहीं करना, कष्ट नहीं देना, वह पूर्ण अहिंसक ही संयत होता है। साधु किसी भी प्रकार के जीव की उपयोग पूर्वक हिंसा नहीं करता।

मूल—

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

हिन्दी पद्य—

त्रिकरण तथा त्रियोगों से, पृथ्वी भित्तादि शिला पत्थर।
ढेले को भेदे लिखे नहीं, संयत शीलाराधन तत्पर ॥

अन्वयार्थ—

सुसमाहिए=उत्तम समाधि वाला। संजए=साधु। तिविहेण=तीन प्रकार। करण=करना, कराना, अनुमोदन और। जोएण=तीन योग-मन, वचन और काया से। पुढविं=पृथ्वी। भित्ति सिलं लेलुं=भित्ति-दरार, शिला, तथा ढेले को। नेव भिंदे=भेदन नहीं करे, और। न संलिहे=रेखा नहीं खीचें।

भावार्थ—

समाधिमान् साधु, करण, कारापण, अनुमोदन के करण और मन, वचन, काया के योग से पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेला, भुरड का कंकर, आदि विविध सचित्त पृथ्वी का भेदन नहीं करे, और उन पर रेखा नहीं खींचें, खोदने, तोड़ने आदि से पृथ्वी की विराधना नहीं करे।

▭

मूल—

सुद्धपुढवीए न निसिए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीएज्जा, जाइत्ता जस्स ओग्गहं ॥५॥

हिन्दी पद्य—

न बैठे शुद्ध धरा ऊपर, ना रजयुत आसन के ऊपर।
परिमार्जन कर बैठे उस पर, गाथापति की अनुमति लेकर ॥

अन्वयार्थ—

सुद्धपुढवीए=शुद्ध पृथ्वी-जो सचित्त है, उस पर। य=और। ससरक्खम्मि=सचित्त रज से संस्पृष्ट। आसणे=पाट आदि आसन पर। न निसिए=नहीं बैठे। पमज्जित्तु=अचित्त पृथ्वी पर बैठना हो तो प्रमार्जन करके। जस्स=जिसके निश्राय में हो उसकी। ओग्गहं=अनुमति। जाइत्ता=लेकर। निसीएज्जा=बैठे।

भावार्थ—

अपने शरीर की गर्मी से पृथ्वी के जीवों की विराधना न हो, इसलिये मुनि शुद्ध-सचित्त पृथ्वी पर नहीं बैठे। फिर सचित्त रज से भरे-पाट आदि आसन पर भी नहीं बैठे, अचित्त भूमि पर बैठना हो तो वहां भी प्रमार्जन कर जिसके स्वामित्व में हो उसकी अनुमति प्राप्त करके यतना से बैठे।

▭

मूल—

सीओदगं न सेवेज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहेज्ज संजए ॥६॥

हिन्दी पद्य—

शीतल जल सेवन करे नहीं, ओले वर्षा जल या हिम को।
उष्ण-तप्त-प्रासुक जल जो हो, संयत ग्रहण करे उनको ॥

अन्वयार्थ—

सीओदगं=सचित्त ठण्डे जल का। न सेवेज्जा=सेवन नहीं करे। य=और। सिलावुट्ठं=शिला-ओले, वर्षा। हिमाणि=हिम को नहीं लेवे। उसिणोदगं=उष्ण जल। तत्तफासुयं=जो तपकर प्रासुक हो चुका है। संजए=संयमी गवेषणा कर। पडिगाहेज्ज=उसको ग्रहण करे।

भावार्थ—

जल के सम्बन्ध में संयमी साधु-सचित शीतल जल और ओले, वर्षा, तथा हिम के पानी का सेवन नहीं करे। पानी जीवों का पिंड है इसलिये संयम प्रेमी मुनि तृषा का परीषह सहन करके भी सचित्त जल का ग्रहण नहीं करे। उष्ण जल और अग्नि पर तप के जो निर्जीव हो चुका है, वैसा पानी और अध्ययन ५ में जो धोवन का वर्णन किया है, वैसा अचित्त जल मुनि ग्रहण करें।

मूल—

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
सम्मुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी ॥७॥

हिन्दी पद्य—

जल गीले अपने तन को, मुनि ना पोंछें मले नहीं।
निज आर्द्र-देह को देख श्रमण, छूए भी उसको कभी नहीं॥

अन्वयार्थ—

उदउल्लं=सचित्त जल से गीले। अप्पणो कायं=अपने शरीर को। न पुंछे=पोंछे नहीं। न संलिहे=रेखा खींचे या मले नहीं। तहाभूयं=तथा भूत-गीले शरीर व वस्त्रादि को। सम्मुप्पेह=देखकर। मुणी=मुनि। नो णं संघट्टए=उनका संघट्टन भी नहीं करे।

भावार्थ—

वर्षा काल में कभी कारण से गमनागमन करते हुए मुनि का शरीर सचित्त पानी से गीला हो जाय तो उस गीले शरीर आदि को पोंछना नहीं तथा हाथ से मलना भी नहीं, तथाभूत-सचित्त जल से गीले शरीर आदि का संघट्टन नहीं करते हुए यतना से चले।

मूल—

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं ।
न उंजेज्जा न घट्टेज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

हिन्दी पद्य—

अंगार अग्नि या अर्चि तथा, अधजला दारु जो अग्नि सहित ।
ना दीप्त और संस्पर्श करे, या उन्हें बनाये अग्नि रहित ॥

अन्वयार्थ—

इंगालं=अंगार-जलते कोयले । अगणिं=अग्नि । अच्चिं=अग्नि की ज्वाला । वा=अथवा । सजोइयं=अग्नि सहित । अलायं=तृण या लकड़ी के अग्रभाग पर जलती आग को । न उंजेज्जा=जलावे नहीं । न घट्टेज्जा=घर्षण करे नहीं । मुणी णं=मुनि, उस अग्नि को । न निव्वावए=बुझावे भी नहीं ।

भावार्थ—

मुनि अग्निकाय की रक्षा के लिये, जलते हुए कोयले, अग्नि, अग्नि की ज्वाला, अग्नि सहित लकड़ी या तृणाग्रवर्ती आग को जलावे नहीं, घर्षण करे नहीं और बुझावे भी नहीं । अग्नि का जलाना जैसे हिंसा जनक है, वैसे बुझाना भी हिंसा का कारण है । भगवती सूत्र में अग्नि के जलाने में महा आरम्भ और बुझाने में अपेक्षाकृत अल्प आरम्भ बतलाया है ।

मूल—

तालियंटेण पत्तेण, साहाए विहुयणेण वा ।
न वीएज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पोग्गलं ॥९॥

हिन्दी पद्य—

तालवृन्त या कमल पत्र से, शाखा के कम्पन से तन को ।
ना हवा करे अपने तन को, या किसी बाहरी पुद्गल को ॥

अन्वयार्थ—

तालियंटेण=ताल का वींजना । पत्तेण=कदली आदि का पत्ता । वा=अथवा । साहाए विहुयणेण=शाखा और पंखे से या शाखा को धुजा करके । अप्पणो कायं=अपने शरीर को । वा=अथवा । बाहिरं=बाहर गर्म भोजन आदि । पोग्गलं=किसी पुद्गल को । न वीएज्ज=हवा करे नहीं ।

भावार्थ—

तेजस्काय के समान वायुकाय की हिंसा से बचने के लिये कहा गया है कि साधु तालवृन्त, कदली आदि का पत्र, शाखा और पंखा झलाके अपने शरीर, गर्म दूध, भोजन आदि बाह्य पदार्थ को हवा नहीं करें। इस प्रकार की हवा से वायुकाय के असंख्य जीवों के अतिरिक्त, सूक्ष्म त्रस जीव की भी हिंसा होना सम्भव है। बिजली के पंखे से तो कई बार आदमी के हाथ आदि कटने की घटना हो चुकी है। अतः संयमी पंखे से हवा नहीं करें।

६

मूल—

तण-रुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं व कस्सइ।
आमगं विविहं बीअं, मणसा वि न पत्थए ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

ना काटे तृण और तरुओं को, अथवा उनके फल मूलों को।
हैं कच्चे विविध बीज जग में; मुनि मन से ना चाहे उनको॥

अन्वयार्थ—

तण रुक्खं=तृण और वृक्ष का। न छिंदिज्जा=छेदन नहीं करे। फलं=किसी वृक्ष के फल अथवा। कस्पद मूलं=मूल को नहीं काटे। विविहं=विवध प्रकार के। आमगं=कच्चे-सचित्त। बीअं=बीज को। मणसा वि=मन से भी। न पत्थए=नहीं चाहें।

भावार्थ—

साधु वनस्पति की रक्षा के लिये-किसी तृण और वृक्ष का छेदन नहीं करे, तथा किसी वृक्ष के फल एवं मूल-फूल आदि को भी नहीं काटे। अनेक प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा नहीं करे। लोक से भी वीज का भोजन निषिद्ध माना गया है, क्योंकि वह एक वीज हजारों की वृद्धि का निमित्त होता है, बीज का नाश हजारों के नाश का कारण समझा जाता हैं।

०

मूल—

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिग पणगेसु वा ॥११॥

हिन्दी पद्य—

कानन कुंजों या बीजों पर, अथवा हरित काय ऊपर।
मुनि बैसे नित्य वनस्पति पर, ना ठहरे लोलन फूलन पर॥

अन्वयार्थ—

गहणेसु=वन कुंजों में। वा=अथवा। बीएसु=बीजों। हरिएसु=हरित तथा। उदगम्मि=उदक नामक अनन्तकाय वनस्पति। उत्तिंग=सर्पछत्र और। पनगेसु=लोलन-फूलन-काई पर। णिच्चं=साधु कभी। न चिट्ठिज्जा=नहीं बैठे, सोवे।

भावार्थ—

वृक्ष-समूह के बीच अथवा बीज और दूब आदि हरित पर खड़ा नहीं रहे। उदक नाम की अनन्तकाय वनस्पति विशेप, सर्पछत्र तथा काई-फूलन पर कभी न बैठे, न सोवे या गमनागमन नहीं करे।

▭

मूल—

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासिज्ज विविहं जगं॥१२॥

हिन्दी पद्य—

वाणी या काय योग से भी, त्रस प्राणी का वध न करे।
सब जीव घात से उपरत हो, इस विविध जगत् का ध्यान धरे॥

अन्वयार्थ—

वाया=वचन। अदुव=अथवा। कम्मुणा=काय योग व मन से। तसे पाणे=त्रस प्राणों की। न हिंसिज्जा=हिंसा नहीं करे। सव्वभूएसु=सब प्राणिमात्र पर। उवरओ=हिंसा से उपरत हो। विविहं=नर नारकादि विविध। जगं=जगत् को। पासिज्ज=ज्ञान दृष्टि से आत्मवत् देखे।

भावार्थ—

पृथ्वी आदि ५ स्थावरों के पश्चात् सूत्रकार कहते हैं कि वचन, काय और मन से त्रस जीवों की हिंसा नहीं करे। मुनि संसार के जीव मात्र पर हिंसा भाव से उपरत होकर नर-नारकादि चतुर्गतिक जगत् को ज्ञान दृष्टि से आत्मवत् देखे, उनके दुःख को अपने समान समझे।

मूल—

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

देख आठ इन सूक्ष्मों को, जिनको प्रज्ञा से जाने जो संजम।
सोए बैठे या खड़ा रहे, सब भूतों में वह सदय हृदय ॥

अन्वयार्थ—

अट्ठ=आठ। सुहुमाइं=सूक्ष्म शरीर वाले जीव हैं। जाइं=जिनको। पेहाए=बुद्धि से। जाणित्तु=जानकर। संजए=संयमी साधु। भूएसु= प्राणि मात्र पर। दयाहिगारी=दया का अधिकारी होकर। आस=बैठे। चिट्ठ=खड़ा रहे। वा=अथवा। सएहि=शयन करे।

भावार्थ—

सम्पूर्ण प्राणि जगत की दया पालने के लिए मनुष्य और पशुओं के समान सूक्ष्म शरीरी जीव को भी जानना आवश्यक है। अतः शास्त्रकारों ने बतलाया कि आठ प्रकार के सूक्ष्म शरीरी जीव हैं जिनको बुद्धि पूर्वक जान-कर ही साधु प्राणि मात्र की दया का अधिकारी होता है। जो लोक व्यवहार में देखे जाने वाले स्थूल चेतना के जीवों के अतिरिक्त सूक्ष्म जीव और अप्रगट चेतना वाले स्थावर काय के जीवों में जीव तत्त्व नहीं मानते, वे उनकी रक्षा कैसे करेंगे ?

मूल—

कयराइं अट्ठसुहुमाइं, जाइं पुच्छिज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी, आयक्खिज्ज विअक्खणो ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

हैं कौन-कौन वे आठ सूक्ष्म, पूछे मुनि उनको गुरुजन से।
मेधावी और कुशल गुरू, हैं ये सब साफ़ कहे उनसे ॥

अन्वयार्थ—

संजए=संयमवान् शिष्य ने। पुच्छिज्ज=पूछा कि। अट्ठसुहुमाइं= आठ सूक्ष्म वे। कयराइं=कौन से हैं। जाइं=जिनको जानकर साधु दया

का अधिकारी होता है। विअक्खणो=विचक्षण। मेहावी=मेधावी गुरु। आयक्खिज्ज=उत्तर में कहते है। इमाइं ताइं=वे आठ सूक्ष्म ये हैं-

भावार्थ—

शिष्य के यह पूछने पर कि वे आठ सूक्ष्म कौन से है, जिनको जानकर साधक अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाला होता है, मेधावी विचक्षण गुरु ने कहा ये आगे कहे जाने वाले वे आठ सूक्ष्म जीव हैं। जिनका जीवदया के लिये ज्ञान करना परम आवश्यक है।

मूल—

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य।
पणगं बीअ हरिअं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१५॥

हिन्दी पद्य—

स्नेह सूक्ष्म और पुष्प सूक्ष्म, या प्राणि उत्तिंग सूक्ष्म होते।
पनक बीज और हरित सूक्ष्म, आठवें अण्ड सूक्ष्म होते॥

अन्वयार्थ—

सिणेहं=स्नेह सूक्ष्म। पुप्फसुहुमं=पुष्प सूक्ष्म। च=और। पाण=प्राण सूक्ष्म। उत्तिगं=तथा उत्तिग सूक्ष्म और। पणगं=पनक सूक्ष्म। बीअ=बीज सूक्ष्म। हरिअं=हरित सूक्ष्म और। अट्ठमं=आठवां। अडं सुहुमं=अंड सूक्ष्म। तहेव=कहा गया हैं।

भावार्थ—

दृष्टिगोचर होने वाले त्रस जीवों के समान सूक्ष्म शरीर धारी जीवों की रक्षा का उपदेश देते हुए आठ प्रकार के सूक्ष्म बताये गये हैं। इनमें स्नेह सूक्ष्म १, पुष्प सूक्ष्म २, प्राण सूक्ष्म ३, उत्तिग सूक्ष्म ४, पनक सूक्ष्म ५, बीज सूक्ष्म ६, हरित सूक्ष्म ७, और अंड सूक्ष्म ८। प्राण और अंड दो त्रस और ६ स्थावर काय सूक्ष्म कहे गये हैं। चूर्णिकार ने आठ सूक्ष्म की व्याख्या में इस प्रकार लिखा है-१. स्नेह सूक्ष्म पांच प्रकार का है-ओस १, हिम २, महिका ३, करक ४, और हरतणु ५।*

२. पुष्प सूक्ष्म में-बड १, उंबर २, आदि के फूल, तथा ऐसे वर्ण वाले कठिनाई से देखे जाने वाले फूल।

* स्थानांग ८ वां स्थान

३. प्राण सूक्ष्म—अनुद्धरी-कुंथु राशि जो चलने पर दिखती हैं, स्थिर अवस्था में ज्ञात नहीं होती।

४. उत्तिग सूक्ष्म—कीटि का नगर, अथवा जहां जो प्राणी कठिनाई से दृष्टि-गोचर हों!

५. पनक सूक्ष्म—कांई! यह पांच वर्ण की होती हैं, खास कर वर्षा काल में-उपकरण के समान रंग वाली होती हैं।

६. बीज सूक्ष्म—सरसों और शालि आदि के मुखमूल पर होने वाली कणिका बीज सूक्ष्म है।

७. हरित सूक्ष्म—तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला अंकुर, यह भी दृष्टिगम्य सहज नहीं होता।

८. अंड सूक्ष्म—मधुमक्खी १, कीड़ी २, मकड़ी ३, ब्राह्मणी ४, और गिरगट के अंडे ५।

मूल—

एवमेआणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअसमाहिए ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

सर्वभाव से संयत मुनि, ऐसे ही इन्हें जान करके।
अप्रमत्त हो करें यत्न, सर्वदा स्व-इन्द्रिय वश करके॥

अन्वयार्थ—

एवमेआणि=इस प्रकार इन आठ प्रकार के सूक्ष्मों को। सव्वभावेण=सब प्रकार से। जाणित्ता=जानकर। सव्विंदिअ=सब इन्द्रियों के। समाहिए=संयमवाला। संजए=संयति-साधु। निच्चं=सदा। अप्पमत्तो=अप्रमत्त-प्रमाद रहित होकर। जए=जीव रक्षा में-यत्न करे।

भावार्थ—

संयमशील साधु इस प्रकार इन आठों सूक्ष्म जीवों को लिंग, जाति, स्वभाव आदि सब प्रकार से जानकर इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से विरक्त-प्रमाद रहित होकर जीवों की यतना में सदा प्रयत्नशील-सावधान रहें।

मूल—

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

निश्चय पात्र और कम्बल, योग सहित प्रतिलेखन कर।
उच्चार भूमि शय्या आसन, या संस्तारक शुचिता मन धर॥

अन्वयार्थ—

पायकंवलं=पात्र, वस्त्र और कम्वल। सिज्जं=शय्या-उपाश्रय। उच्चारभूमि=मल मूत्रादि त्यागने की भूमि। च=और। संथारं=संस्तारक भूमि-वैठने का स्थान। अदुव=अथवा। आसणं=आसन। धुवं=नित्य-यथासमय। जोगसा=प्रमाणोपेत। पडिलेहिज्जा=प्रतिलेखन करे, देखें।

भावार्थ—

जीव रक्षा के लिये साधु अपने पास की वस्तुओं का नित्य अवलोकन करता है, जो इस प्रकार हैं-तीन प्रकार के-काष्ठ, तुम्ब और मृणमय (मिट्टी) पात्रों को, वस्त्र-कम्वल, उपाश्रय-रहने का स्थान, मल मूत्रादि त्यागने के स्थान, संथारपाट आदि, आसन को प्रतिदिन दोनों समय प्रमाणोपेत-हीनाधिकता रहित विधिपूर्वक देखे तथा प्रमार्जन करे! प्रतिलेखन की विस्तृत विधि उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में वताई गई हैं।

मूल—

उच्चारं पासवणं खेलं, सिंघाण जल्लिअं।
फासुअं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

मल मूत्र नाक के मल अथवा, कफ का संयत मुनि त्याग करें।
प्रासुक प्रदेश को देख-देख, परिष्ठापन का ध्यान धरें॥

अन्वयार्थ—

फासुअं=जीव रहित अचित्त भूमि। पडिलेहित्ता=देखकर। संजए=संयमी साधु। उच्चारं=उच्चार-मल। पासवणं=लघुनीति। खेलं=कफ। सिंघाण=सिंघान-नाक का मल। जल्लिअं=शरीर का मल-मेल आदि को। परिट्ठाविज्ज=भूमि देखकर विधिपूर्वक परठे-उत्सर्ग करे।

भावार्थ—

शरीर के मल को एक ओर गिराने के लिये संयमी साधु उनको जहां तहां नहीं गिराता, उसके लिये उत्तराध्ययन के २४ वें अध्ययन में विस्तार से कहा है। खासकर जन्तु रहित भूमि जहां उत्सर्ग करने में किसी को पीड़ा न हो वैसे स्थान पर मलादि उत्सर्ग का कथन किया है। मल, मूत्र, कफ, नासिका का मल, शरीर का मल, नख-केश आदि जो भी त्यागने योग्य पदार्थ हैं, उनको निर्जीव भूमि देखकर साधु यत्न से परिष्ठापन करे।

मूल—

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा।
जयं चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मणं करे ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

पान और भोजन कारण, करके प्रवेश संयत पर-घर।
यतना से रुके अल्प बोले, मन दे न किसी वस्तु ऊपर ॥

अन्वयार्थ—

पाणट्ठा=पानी। वा=अथवा। भोअणस्स=आहार के लिये। परागारं=गृहस्थ के घर में। पविसित्तु=प्रवेश करके साधु। जयं चिट्ठे=यतना से खड़ा रहें। मिअं भासे=परिमित बोले। रूवेसु=घर में रहे नाना प्रकार की वस्तुओं के रूप पर। मणंकरे=कभी मन। न य=नहीं करें।

भावार्थ—

भिक्षा जीवी होने से साधु को आवश्यक वस्तु के लिये गृहस्थ के घर जाना पड़ता है। उसके लिये शास्त्र कहता है कि–आहार अथवा पानी आदि के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके साधु वहां–घर में यतना से खड़ा रहे, आवश्यकतानुसार परिमित भाषण करे, इधर-उधर को बात नहीं करे। घर के विविध सामान और शृंगार साधन तथा स्त्री आदि के सचित्त अचित्त रूपों पर कभी ध्यान नहीं देवे। उन पर मन नहीं करे।

मूल—

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

कानों से सुनते बहुत बात, आंखों से बहुत देखते हैं।
देखा और सुना सब कुछ, मुनि कथन नहीं कर सकते हैं॥

अन्वयार्थ—

कण्णेहिं=कानों से साधु । बहुं=बहुत । सुणेइ=सुनता है । अच्छीहिं=आंखों से । बहुं=बहुत । पिच्छइ=देखता है, किन्तु । भिक्खू=साधु के लिये । सव्वं=सब कुछ । दिट्ठं=देखा । सुअं=सुना । अक्खाउमरिहइ=कथना करना योग्य । न=नहीं-उचित नहीं होता ।

भावार्थ—

साधु छोटे बड़े अनेक घरों में भिक्षार्थ जाता है। वह बहुत देखता और सुनता है, किन्तु उसकी मर्यादा है कि वह जो कुछ आंख से देखता और कानों से सुनता है उन सब देखी, सुनी बात को बाहर किसी को कहता नहीं। उसकी इस गम्भीरता और प्रामाणिकता से ही वह लोक में विश्वास पात्र माना जाता है।

मुनि मेतार्य के लिये कहा जाता है कि एक दिन वे भिक्षा लेने किसी सुवर्णकार के घर पहुंचे। सुवर्णकार संतों का भक्त था अतः मुनि को देखकर वह अपना काम छोड़कर भिक्षा देने मुनि के साथ भीतर गया। बाहर सुवर्णमय जो के दाने थाल में पड़े थे-अचानक एक मुर्गा आया। वह सुवर्ण के दानों को चुग गया। मुनि को भिक्षा देकर जब स्वर्णकार अपने स्थान पर आया तो सुवर्ण के दाने नहीं दिखें। उसने इधर, उधर देखा और कहीं दाने नहीं मिले तो उसने महाराज को आवाज देकर पूछा-महाराज! अभी आप आये तब मेरी दरी पर सुवर्णमय जौ थे, मैं आपको भिक्षा देकर तुरन्त ही आकर देखता हूँ तो सुवर्ण के जौ नहीं, आपने किसी को लेते देखे हों तो बताओ? मुनि ने मुर्गे का उदर से निकलते देखकर भी इसलिये नहीं कहा कि इस मूक प्राणी को कष्ट होगा! सुवर्णकार के २-३ बार पूछने पर भी मुनि कुछ नहीं बोले, तब सुवर्णकार ने उन्हीं को अपराधी मानकर, सिर पर गीला चमड़ा बांधकर बाडे में धूप वाले स्थान पर खड़ा कर दिया, ज्यों-ज्यों चमड़ा सूखता गया मुनि का कष्ट बढ़ने लगा-फिर भी उन्होंने मुर्गे को नहीं बताया! सहसा इसी बीच एक लकड़ी बेचने वाला आया। सुनार ने भारी खरीद ली। जब भील ने गठड़ गिराया तो तेज आवाज से मुर्गे ने बींट कर दी, सुवर्णमय जौ ज्यों के त्यों निकल आयें। सुवर्णकार जो चिन्तित

था, उन जौ को देखकर घबराया, पश्चाताप करने लगा-अहो ! मैंने एक निरपराध मुनि को कठोर पीड़ा देकर बड़ा भारी अपराध किया है, उसने भगा-भगा जाकर मुनि के सिर से चमड़ा हटया तब तक तो मुनि का काम हो चुका था। मुनि ने प्राण देकर भी देखी हुई घटना मुर्गे की दया के लिये नहीं बतायी।

▭

मूल—

सुअं वा जइ वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं ।
न य केण उवाएण, गिहिजोगं समाअरे ॥२१॥

हिन्दी पद्य—

सुनी हुई अथवा देखी, पर-पीड़क जो बात कहीं ।
ना कहे किसी युक्तिबल से भी, आचरण गृहस्थ सम करे नहीं ॥

अन्वयार्थ—

सुअं वा=सुनी हुई अथवा। जइवा दिट्ठं=देखी हुई। ओवघाइअं=जो पीड़ाकारी हो। न लविज्ज=वैसी भाषा साधु नहीं बोले। केण उवाएण=किसी भी उपाय से। गिहिजोगं=गृहस्थ योग कर्म का। समाअरे=आचरण। न य=नहीं करें।

भावार्थ—

साधु गृहस्थ के यहां देखी और सुनी घटनाओं में से जो पर पीड़ा कारक हो वैसा वचन नहीं कहे, किसी भी उपाय से, शादी-विवाह-व्यापार जैसा गृहस्थोचित कर्म का आचरण नहीं करे।

▭

मूल—

निट्ठाणं रसणिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

शोभन सरस विरस अथवा, भिक्षान्न अरुचिकर हों जैसे ।
पूछे तथा बिना पूछे, ना कहे अलाभ लाभ वैसे ॥

अन्वयार्थ—

निट्ठाणं=चटनी मसाला युक्त और मिष्टान भोजन। रसणिज्जूढं= जिनसे रस निकल गया हो वैसा भोजन । भद्दगं वा=अच्छा अथवा। पावगं=बुरा। पुट्ठो=पूछने पर अथवा। अपुट्ठो=विना पूछे। लाभालाभं= लाभ-अच्छा मिला अथवा कुछ नहीं मिला। न निद्दिसे=इस प्रकार कथन नहीं करे।

भावार्थ—

भिक्षार्थ गया हुआ साधु भिक्षा में सरस मिले अथवा नीरस, अच्छा हो या बुरा, किन्तु साधु पूछने पर अथवा विना पूछे लाभ हुआ या नहीं हुआ, इस प्रकार गृहस्थ की हल्की लगे वैसी बात नहीं कहे ! क्योंकि संयमी मुनि-लाभालाभ में सन्तुष्ट होता है।

मूल—

न य भोअणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुअं न भुंजिज्जा, कीअमुद्देसिआहडं ॥२३॥

हिन्दी पद्य—

ना हो भोजन गिद्ध चले, बिन बोले सामूहिक लायें।
औद्देशिक क्रीत तथा आहृत, अप्रासुक भोजन ना खायें ॥

अन्वयार्थ—

भोअणम्मि=भोजन में। गिद्धो=गृद्ध होकर। उंछं न य=उच्चकुलों में नहीं। चरे=जावे। अयंपिरो=दाता की श्लाघा वा निन्दा नहीं करता सामूहिक भिक्षा हेतु जावे। अफासुयं=अप्रासुक-सचित्त। कीअं=खरीद कर लाया हुआ। उद्देसियं=साधु के उद्देश्य से बनाया गया। आहडं=और सामने लाया हुआ, भूल से आ भी जाय तो। न भुंजिज्जा=सेवन नहीं करें।

भावार्थ—

भोजन में गृद्ध होकर साधु साधारण घरों को छोड़कर सम्पन्न-ऊंचे कुलों में नहीं जावे ! किन्तु बिना कुछ बोले थोड़ा-२ अनेक घरों से भिक्षा की गवेषणा करे। अप्रासुक-सचित्तादि और साधु के लिये खरीद कर लाया हुआ, औद्देशिक-साधु के निमित्त बना, सामने लाया ग्रहण नहीं करे, कभी अज्ञात दशा में आ जाय तो उसका उपभोग नहीं करे। विधि पूर्वक परठ दे।

मूल—

सन्निहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायंपि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे, हवेज्ज जगनिस्सिए ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

अणु भर भी संनिधि करे नहीं, संयत इस धरती पर आकर।
निर्लिप्त सकल प्राणी पालक, या रहे मुधाजीवी बनकर ॥

अन्वयार्थ—

संजए=संयमी साधु। अणुमायंपि=अणुमात्र भी। सन्निहिं=घी, तेल, गुड़ आदि संग्रह-रातवासी। न कुव्विज्जा=नहीं करें! क्योंकि वह। मुहाजीवी=विना वदले या मूल्य के जीने वाला। असंबद्धे=आहार या किसी घर में अलिप्त। जग=सामान्य रूप से जन साधारण के। निस्सिए=निश्रित। हवेज्ज=होता है।

भावार्थ—

भविष्य काल की चिन्ता से मुनि अणुमात्र अर्थात् अल्प मात्र भी संग्रह नहीं करे, रात को वासी नहीं रखे! साधु सेवा-विद्या आदि विना किसी बदले के जीने वाले घर तथा आहार में अलिप्त, जन साधारण के निश्रित होते हैं। स्थानाग सूत्र के अनुसार साधु के लिये-१. छः काय, २. गण, ३. राजा, ४, गृहपति और ५. शरीर इनकी निश्रा में संयम की साधना होती है!

मूल—

लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चा णं जिणसासणं ॥२५॥

हिन्दी पद्य—

नीरस खाकर जीने वाला, संतुष्ट सुतृप्त अल्पकामी।
जिनशासन की महिमा सुन, ना करे क्रोध मुनि सुज्ञानी ॥

अन्वयार्थ—

लूहवित्ती=साधु रूक्ष द्रव्यों से जीविका चलाने वाला। सुसंतुट्ठे=प्राप्त निर्दोष आहार में संतुष्ट। अप्पिच्छे=अल्प इच्छावाला जो। सुहरे=

सरलता से तृप्त होता–जिनको तृप्त करना कठिन नहीं होता। जिण-सासणं=जिन शासन को । सुच्चा णं=सुनकर । आसुरत्तं=क्रोध। न गच्छिज्जा=नहीं करता है।

भावार्थ—

अच्छा साधु–रूक्ष द्रव्यों से जीवन चलाने वाला, यथा लाभ संतुष्ट, अल्प इच्छा वाला होने से उसको तृप्त करना सरल होता है! वह प्रतिकूल प्रसंग में भी जिनशासन के उपशम प्रधान वचनों को सुनकर क्रोध भाव को प्राप्त नहीं करता। जिनशासन में क्रोध को नारकीय कर्म बन्ध का प्रमुख कारण कहा है! क्रोध का निमित्त पाकर भी क्रोध नहीं करना, इसके लिये ज्ञान का आलम्बन लेना चाहिये। जैसे कहा है–

अक्कोसहणणमारण–धम्मब्भंसाण बालसुलभाण।
लाभं मन्नति धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि॥

अज्ञानियों के लिये क्रोध में गाली देना, मारना-पीटना, और धर्म-भ्रष्ट करना सुलभ है, साधु को कोई गाली दे तो सोचे कि यह गाली ही देता है पीटता तो नहीं, यदि कोई पीटे तो साधु सोचे कि चलो पीटा ही है मारा तो नहीं है, मारने पर सोचे कि चलो इसने मेरा धर्म तो नहीं लूटा, इस प्रकार ज्ञान भाव से क्रोध का शमन करे! विशेष उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में आक्रोश–वध परीषह पर देखें।

▭

मूल—

कण्णसुक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए॥२६॥

हिन्दी पद्य—

कानों के सुखकर शब्दों में, मुनि राग नहीं उत्पन्न करें।
दारुण कठोर-प्रतिकूल स्पर्श, निज तन से मुनिजन सहन करें॥

अन्वयार्थ—

कण्ण सुक्खेहिं=कर्ण प्रिय-मधुर मनोहर। सद्देहिं=शब्दों से, योग्य मुनि। पेम्मं=रागभाव। नाभिनिवेसए=प्राप्त नहीं करे, ऐसे ही। दारूणं=भयंकर। कक्कसं=कठोर। फासं=स्पर्श का। काएण=काया से। अहिआ-सए=राग, द्वेष रहित होकर सहन करे।

भावार्थ—

योग्य मुनि शब्दादि विषयों से विरक्त होता है, सुख दुःख का कारण राग है, इसलिये संयमी के लिये कहा गया है कि वह कर्णप्रिय-मृदु मनोहर शब्दों में राग कर रंगावे नहीं! वैसे ही दारूण-पीड़ाकारी कठोर स्पर्श को भी हर्षित मन शरीर से सहन कर ले! उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्ययन में कहा है कि-

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेणं।
न लिप्पई भवमज्झे विसोओ, जलेण वा पुक्खरिणी पलासं॥

शब्द में राग रहित रहने वाला मनुष्य शोक मुक्त होकर इस दुःख परम्परा से लिप्त नहीं होता! ऐसे ही अन्य विषय के लिये भी!

▭

मूल—

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सीउण्हं अरइं भयं।
अहिआसे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं॥२७॥

हिन्दी पद्य—

भूख प्यास और दुश्शय्या, शीतोष्ण अरति एवं भय को।
उद्वेग रहित हो सहन करे, देता तन का दुःख शुभ फल को॥

अन्वयार्थ—

खुहं=क्षुधा-भूख। पिवासं=पिपासा। दुस्सिज्जं=विषम शय्या। सीउण्हं=शीत गर्मी। अरइं=अरति और। भयं=सिंह सर्प आदिक भय को। अव्वहिओ=बिना व्यथा के साधु। अहिआसे=सहन करे-दीनता नहीं लावे। देहदुक्खं=क्योंकि शरीर के कष्ट को सहन करना। महाफलं=महाफल का कारण है, इससे सहिष्णुता बढ़ती हैं।

भावार्थ—

साधु को सहिष्णुता की शिक्षा देते हुए कहा-भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, विषम शय्या, ओर अरति तथा सप्त विध भयों को मुनि बिना व्यथा के सहन करे, क्योंकि शरीर के दुःख को सहन करना महालाभ का कारण है! वास्तव में साधु-पुढवीसमे मुणी हविज्जा-पृथ्वी के समान सुख दुःख सहने वाला होता हैं।

मूल—

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइअं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ।।२८।।

हिन्दी पद्य—

सूर्य डूबने के पीछे, या उदयकाल से पूर्व कहीं।
आहार आदि सब कुछ मन से, लेने की इच्छा करें नहीं ।।

अन्वयार्थ—

आइच्चे=सूर्य के। अत्थंगयम्मि=अस्त हो जाने पर। य=और। पुरत्था=पूर्व दिशा से। अणुग्गए=उदित नहीं होने तक में। आहारमाइअं=अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य आदि। सव्वं=सब प्रकार का आहार साधु। मणसा=मन से। वि न=भी नहीं। पत्थए=चाहें।

भावार्थ—

साधु दिन के अन्त में सूर्य अस्त होने पर और प्रातः काल तक पूर्व दिशा में सूर्य का उदय न हो जाय तब तक अशन पान आदि सब प्रकार का आहार सेवन करना तो दूर की बात है किन्तु मन से ग्रहण करने की भी इच्छा नहीं करे!

मूल—

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिसए ।।२९।।

हिन्दी पद्य—

अतितिण अचपल मितभाषी, अल्पाशी जो यहां श्रमण।
जो उदर दमन करने वाले, पा थोड़ा क्रोध न लाये मन ।।

अन्वयार्थ—

अतिंतिणे='तितिन' आदि प्रलापन नहीं करना। अचवले=चंचलता रहित। अप्पभासी=अल्प भाषी और। मिआसणे=मितभोजी। उअरे=आहार की इच्छा का। दंते=दमन करने वाला। हविज्ज=होता है। थोवं=थोड़ा। लद्धुं=प्राप्त कर। न खिसए=गृहस्थ की निंदा नहीं करता!

भावार्थ—

भिक्षार्थ गृहस्थ के घर गया हुआ साधु, इष्ट आहार नहीं मिलने या अल्प मिलने से प्रलाप नहीं करता ! चपलता रहित, आवश्यकतानुसार अल्पभाषी, परिमित भोजी और उदर के सम्बन्ध में यथा लाभ सन्तुष्ट होता है। थोड़ा पाकर भी गृहस्थ की निंदा नहीं करता ! तवोत्ति अहियासए' इस शास्त्र वचन के अनुसार तप समझकर शान्त मन से सहन करे।

▭

मूल—

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए॥३०॥

हिन्दी पद्य—

मुनि करे न पर का तिरस्कार, और आत्म प्रशंसा करे नहीं।
श्रुतलाभ जाति से या तप से, अथवा मति से मद करे नहीं॥

अन्वयार्थ—

बाहिरं=अपने से भिन्न दूसरे का। परिभवे=अनादर। न=नहीं करे। अत्ताणं=अपना। समुक्कसे=उत्कर्ष-ऊंचापन। न=नहीं दिखावे। सुअ=श्रुतज्ञान। लाभे जच्चा तवस्सि बुद्धिए=लाभ-उच्चजाति, तपस्या और बुद्धि के कारण। न मज्जिज्जा=मद नहीं करे।

भावार्थ -

दूसरों का तिरस्कार अनादर नहीं करे, अपनी बड़ाई नहीं करे, श्रुत बल पाकर मेरे समान शास्त्रज्ञ कौन है ऐसा मान नहीं करे, इसी प्रकार मेरे समान लब्धिमान्, उच्चजातिमान्, तपस्या और बुद्धि में मेरे समान कौन है ऐसा गर्व नहीं करे। गर्व करने से नीच गौत्र कर्म का बन्ध होता है। अतः साधु को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिये।

▭

मूल—

से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समाअरे॥३१॥

हिन्दी पद्य —

जाने या अनजाने में, यदि धर्म हीन मुनि कर्म करे।
ले उससे निज को शीघ्र हटा, ना दुहरा कर वह कर्म करे॥

अन्वयार्थ—

से=वह साधु। जाणं=जानते। वा अजाणं=अथवा अजानपन से। आहम्मियं=कोई धर्म विरुद्ध। पयं=कार्य। कट्टु=हो जाय तो वैसा करके खिप्पं=शीघ्र ही। अप्पाणं=आत्मा को पाप से। संवरे=दूर करे। तं=वैसे दोष का। बीअं=दूसरी वार। न समाअरे=आचरण नहीं करे।

भावार्थ—

साधु शुद्धि-प्रिय होता है। वह दोषों से सदा दूर रहना चाहता है, इसलिये कभी जानते हुए या अनजान स्थिति में कोई धर्म विरुद्ध कार्य हो जाय तो वह तत्काल अपने आपको दोष से दूर कर लेता है और दूसरी वार वैसे दोष का आचरण नहीं करता है। शुद्धि करने का प्रकार बतलाते हैं—

मूल—

अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया विअडभावे, असंसत्तो जिइंदिए॥३२॥

हिन्दी पद्य—

अनाचार का सेवन कर, न गोपन अस्वीकार करे।
निर्मल सरल राग विरहित, मुनि दान्तगुणी होकर विहरे॥

अन्वयार्थ—

अणायारं=अनाचार-धर्म विरूद्ध कार्य का। परक्कम्म=कभी सेवन हो जाय तो। न एव गूहे=उसे गुरू के पास अधूरा कहकर छिपावे नहीं। न निण्हवे=असली वात को अस्वीकार नहीं करे। सया=किन्तु सदा। सुई=निर्मल मति वाला। जिइंदिए=जितेन्द्रिय मुनि। विअड भावे=शुद्ध हृदय से गुरू के समक्ष प्रकट कर दे। असंसत्तो=दोष का संसर्ग नहीं रखे।

भावार्थ—

नहीं चाहते हुए भी कभी साधु से धर्म विरुद्ध अनाचार का सेवन हो जाय तो उसे ऊंचा नोचा कहकर छिपाने की चेष्टा नहीं करे और चूक को अस्वीकार भी नहीं करे, किन्तु जैसा हो वैसा गुरू के समक्ष वालक की तरह सरल भाव से दोष की आलोचना कर गुरुदत्त प्रायश्चित से आत्मा को शुद्ध करले। क्योंकि सरल मन से दोष की आलोचना करने वाला ही आराधक होता है।

मूल—

असोहं वयणं कुज्जा, आयरिअस्स महप्पणो ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववाअए ॥३३॥

हिन्दी पद्य—

पूजनीय आचार्य वचन को, सफल बनाये शिष्य सदा ।
वचन से कर ग्रहण उसे, कर्मों से पालन करे सदा ॥

अन्वयार्थ—

आयरिअस्स=आचार्य । महप्पणो=महाराज के । वयणं=वचन को असोहं=व्यर्थ । कुज्जा=नहीं करे, अर्थात् आज्ञा का पालन करे । तं= उस आज्ञा को । परिगिज्झ=वचन से तहत्ति । वायाए=बोलकर स्वीकार करे । कम्मुणा=क्रियात्मक रूप से । उववाअए=पालन-आचरण करे ।

भावार्थ—

विनीत शिष्य संयमनिष्ठ आचार्य महाराज की आज्ञा को व्यर्थ नहीं जाने दे, आज्ञा को 'तथास्तु' इस आदर सूचक वचन से स्वीकार कर जैसा करने को कहा है, उस प्रकार क्रिया में उतारे-वैसा ही आचरण करे। गुरु वचनों के यथार्थ पालन से आचार में तेजस्विता आती है ।

▭

मूल—

अधुवं जीविअं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिआ ।
विणिअट्टिज्ज भोएसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥३४॥

हिन्दी पद्य—

जान विनश्वर जीवन मुनि, और मोक्ष मार्ग का निश्चय कर ।
परिमित आयु समझ अपनी, जीए मुनि भोग विरत बन कर ॥

अन्वयार्थ—

जीविअं=जीवन को । अधुवं=नश्वर-अस्थायी । नच्चा=जानकर अप्पणो=अपने । आउं=आयुकाल को । परिमिअं=परिमित । विणिअ= समझकर । सिद्धिमग्गं=ज्ञान-क्रियात्मक मोक्ष मार्ग का । वियाणिआ= सम्यक् परिज्ञान करके । भोएसु=मुमुक्षु भोगों से । विणिअट्टिज्ज=निवृत्ति करे ।

भावार्थ—

मुमुक्षु साधक जीवन को क्षण भंगुर एवं विनश्वर जानकर, अपने आयु काल को परिमित और रोग-शोक से आक्रान्त देखकर, अविनश्वर मोक्ष के रत्नत्रयात्मक मार्ग का ज्ञान करके शब्दादि काम सुखों से निवृत्ति प्राप्त करे।

मूल—

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खित्तं कालं च विण्णाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥३५॥

हिन्दी पद्य—

देख स्वयं तन मन बल को, जग में श्रद्धा और स्वास्थ्य श्रमण।
जान क्षेत्र कालादिक अपने, करले आत्मा का नियमन ॥

अन्वयार्थ—

बलं=शरीर का बल। थामं=पराक्रम, मनोबल और। अप्पणो= अपने। सद्धां=श्रद्धा। आरोग्गं=आरोग्य को। पेहाए=देखकर। खित्तं= क्षेत्र। कालं=काल। तह=और अपनी परिस्थिति को। विण्णाय=जानकर साधक। अप्पाणं=आत्मा को। निजुंजए=नियुक्त करे।

भावार्थ—

मुमुक्षु को प्रेरणा देते हुए महर्षि कहते हैं– बल, हिम्मत, पराक्रम और अपनी दृढ़ता एवं आरोग्य को जानकर और क्षेत्र तथा काल की अनुकूलता-प्रतिकूलता देखकर मुमुक्षु साधक अपने आपको साधना में नियोजित करे।

उचित शक्ति पाकर कार्य नहीं करने वाला पश्चात्ताप का भागी होता है। किसी ने बल पाकर सेवा और तपस्या नहीं की, बुद्धि पाकर शास्त्र का अभ्यास नहीं किया और धन पाकर उचित क्षेत्र में दान नहीं दिया तो उसे पछताना पड़ता है। वैसे शक्ति के उपरान्त केवल देखा-देखी एक को तप करते देखा तो दूसरों ने भी चालू कर दिया यह भी लाभकारी नहीं होता। विवेकी पुरुष को चाहिये कि योग्य साधनों को पाकर विवेक पूर्वक उनका सदुपयोग करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मूल—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समाअरे ॥३६॥

हिन्दी पद्य—

जब तक न बुढ़ापा पीड़ा दे, और रोग नहीं बढ़ता तन में ।
जब तक क्षीण न इन्द्रिय बल, तब तक हो धर्म भाव मन में ॥

अन्वयार्थ—

जाव=जब तक । जरा=वृद्धावस्था । न पीलेइ=शरीर को पीड़ा नहीं देती-जीर्ण नहीं करती । वाही=व्याधि । जाव=जब तक । न वड्ढइ= तन में नहीं फैलती । जाविंदिआ=श्रोत-चक्षु आदि इन्द्रियां जब तक । न हायंति=क्षीण नहीं होती । ताव=तब तक । धम्मं=श्रुत-चारित्र रूप धर्म का । समाअरे=आचरण कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—

जब तक वृद्धावस्था शरीर को बलहीन नहीं कर देती, और विविध प्रकार की व्याधियां तन में दबी पड़ी हैं, वे जब तक फैल नहीं पाती और श्रोत आदि इन्द्रियां जब तक क्षीण नहीं होती, तब तक धर्म की आराधना हो सकती है, जब शरीर शिथिल हो गया और इन्द्रियां काम करने में सक्षम नहीं रहेगी तब इच्छा होते हुए भी सेवा-भक्ति और व्रत नहीं कर सकोगे !

मूल—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥३७॥

हिन्दी पद्य—

क्रोध मान माया एवं है लोभ पापवर्द्धक जग में ।
जो चाहते अपने हित को, ये चार दोष तजदे भव में ॥

अन्वयार्थ—

अप्पणो=अपने । हिअं=हित । इच्छंतो=चाहने वाले को । पाववड्ढणं=पाप की वृद्धि करने वाले । कोहं=क्रोध । माणं च=मान और । मायं च=माया व । लोभं=लोभ । चत्तारि दोसे उ=इन चार दोषों का अवश्य । वमे=त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ—

जिसको अपना हित साधन करना है-उसको आवश्यक है कि सब पापों के मूल क्रोध, मान-अहंकार, कपट और लोभ-लालच इन चार दोष-जिनको कषाय कहते है, परित्याग कर दे, कषाय जन्म-मरण को बढ़ाने वाले तथा मन-मस्तक को तपाने वाले हैं! अनशन आदि बाह्य तपस्या के साथ क्रोध आदि कषायों का उपशम किया जाय तो महालाभ का कारण हो सकता है।

मूल—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि णासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३८

हिन्दी पद्य—

क्रोध प्रीति का नाशक है, और मान विनय का है नाशक।
है माया मित्र नाश करती, और लोभ सभी का है नाशक ॥

अन्वयार्थ—

कोहो=क्रोध। पीइं पणासेइ=प्रीति को नष्ट करता है। माणो=मान। विणयणासणो=विनय गुण को नष्ट करने वाला है। माया=माया-कपट। मित्ताणि=मित्रता को। णासेइ=समाप्त करती और। लोभो=लोभ। सव्व=सब सद्गुणों का। विणासणो=नाश करने वाला है।

भावार्थ—

संसार के विविध विषों में क्रोध सबसे बढ़कर है, उससे प्रीति नष्ट होती है, ज्ञानादि गुण बिना आग के ही भस्म हो जाते हैं! मान-जहां घमण्ड है वहां पूज्य पुरुषों का विनय नहीं टिकता! वर्षों शिष्यभाव से सेवा में रहने वाला जमालि, इस अहंकार के कारण ही गुरु द्रोही-कुशिष्य हो गया। माया मैत्री भाव को नष्ट करती और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश करने वाला है।

मूल—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥३९॥

हिन्दी पद्य—

उपशम से क्रोध भाव जीते, मृदुता से जीते मान सदा।
ऋजुता से माया को जीतें, संतोष भाव से लोभ सदा॥

अन्वयार्थ—

कोहं=क्रोध को। उवसमेण=उपशम-क्षमा भाव से। हणे=नष्ट करें। मद्दवया=मार्दव भाव से। माणं जिणे=मान-गर्व पर विजय करें। अज्जवभावेण=सरल भाव स। मायं=कपट पर विजय पावे। लोभं=लोभ को। संतोसओ=संतोष से। जिणे=विजय करें।

भावार्थ—

प्रेम या उपशम भाव से क्रोध को हटाया जाता है, मार्दव भाव से मान को जीता जाता है और आर्जव-सरल भाव से माया को और सन्तोष से लोभ पर विजय पाई जाती है। उदाहरण रूप सुदर्शन कुमार के उपशम भाव के सम्मुख-अर्जुन के शरीर का यक्ष शान्त हो गया, दशार्णभद्र के मार्दव भाव ने इन्द्र के मान को खण्डित कर दिया, महावीर की सरलता के सम्मुख-पण्डित सौमिल की माया चूर-२ हो गयी! कपिल के मन की लालसा को सन्तोष भाव ने हवा मे उड़ा दिया।

▭

मूल—

कोहो अ माणो अ अणिग्गहिआ, माया य लोहो अ पवड्ढमाणा
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥४०

हिन्दी पद्य—

हैं क्रोध मान अविजित जिसके, और माया लोभ बढ़े जिसके।
चारों कषाय ये सींच रहे, जगती में मूल पुनर्भव के॥

अन्वयार्थ—

अणिग्गहिआ=उपशम और विनय भाव से अनिगृहीत। कोहोअ-माणो=क्रोध और मान तथा। पवड्ढमाणा=निरंकुशता से बढ़ते हुए। माया य लोहो=माया और लोभ भाव। ए=ये। कसिणा=आत्मा को मलिन करने वाले। चत्तारि=चार। कसाया=कषाय। पुणब्भवस्स=पुनर्भव रूप संसार के। मूलाइं सिचंति=मूल का सिचन करते है।

भावार्थ—

क्रोध आदि कषाय संसार वृक्ष को बढ़ाने वाले हैं। अतः कहा है कि उपशम और विनय से अनिगृहीत क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ के कलुषित भाव ये चारों मलिन कषाय जन्म-मरण रूप संसार वृक्ष के मूल का सिंचन करने वाले हैं। मुमुक्षु को सदा सावधान मन से इन पर निग्रह करना चाहिये।

▭

मूल—

रायणिएसु विणयं पउंजे, धुवसीलयं सययं न हावइज्जा।
कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो, परक्कमिज्जा तवसंजमम्मि।४१

हिन्दी पद्य—

रत्नाधिक में विनय करे, अष्टादश सहस्र शील पाले।
कच्छपवत् अंग छिपा रक्खे, तप संयम में मन को डाले॥

अन्वयार्थ —

रायणिएसु=रत्नाधिक-चारित्र वृद्ध साधुओं में। विणयं=वन्दन का पउंजे=प्रयोग करें। धुवसीलयं=ध्रुवशीलता को अर्थात् अठारह हजार शीलांग की रक्षा का। सययं=कभी। न हावइज्जा=कम नहीं होने दे। कुम्मुव्व=कछुए के समान। अल्लीणपलीणगुत्तो=इन्द्रियों को वश में रखने वाला। तव संजम्मि = तप-संयम में। परक्कमिज्जा = अपना पराक्रम लगावें।

भावार्थ—

जिन शासन की मर्यादा में वय, वैभव और उच्चकुल की अपेक्षा भी चारित्र की महिमा मानी गई है। व्रतियों में छोटे बड़े का क्रम भी चारित्र पर्याय से ही माना जाता है। इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा- दीक्षा वृद्ध साधुओं में वन्दन-नियम का प्रयोग करो, ध्रुवशीलता को कभी कम मत होने दो। कच्छप के समान अपने अंग और इन्द्रियों को वश में रखकर, तप-संयम में पराक्रम लगाते रहो।

▭

मूल—

निद्दं च न बहुमण्णिज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया॥४२॥

हिन्दी पद्य—

न साधु अधिक ले नींद कभी, और अतिप्रहास का त्याग करें।
आसक्त न लोक कथा में हो, स्वाध्याय आदि में ध्यान धरें ॥

अन्वयार्थ—

निद्दं=निद्रा को। बहुमण्णिज्जा=कोमल शय्या आदि से अधिक आदर। न=नहीं दें। सप्पहासं=अट्टहास का। विवज्जए=वर्जन करें। मिहो कहाहिं=आत्मार्थी साधक परस्पर विकथाओं के सुनने, कहने में। न रमे=रमण नहीं करें, किन्तु। सया=सदा। सज्झायम्मि=स्वाध्याय में रओ=सावधान रहे।

भावार्थ—

साधु कोमल शय्या आदि से निद्रा को आदर नहीं दे, प्रतिक्रमण में प्रतिदिन 'पगाम सिज्जाए, निगाम सिज्जाए' पाठ से इसकी आलोचना की जाती है। हंसी मजाक या अट्टहास नहीं करे। परस्पर इधर उधर की कथा वार्ता में समय नहीं गमाते हुए, वाचना, पृच्छा आदि स्वाध्याय में सदा रमण करें। नीतिकारों ने बुद्धिमान् की पहचान में यही कहा है कि—"काव्य-शास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।" विद्वानों का समय काव्य-शास्त्र के विनोद में जाता है। वैसे धर्मानुरागी श्रमणों को स्वाध्याय के अनुशीलन और चिन्तन में ही सदा तत्पर रहना चाहिए।

▭

मूल—

जोगं च समणधम्मम्मि, जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥४३॥

हिन्दी पद्य—

आलस्य शून्य होकर निश्चय, दश श्रमण धर्म में लीन रहे।
सर्वोत्तम फल वह प्राप्त करे, जो श्रमण धर्म में लगा रहे ॥

अन्वयार्थ—

अणलसो=साधु आलस्य रहित होकर। समणधम्मम्मि=श्रमण धर्म में। जोगं=मन, वाणी और काय योग को। धुवं=अखण्डित। जुंजे=जोड़े समणधम्मम्मि=क्षान्ति आदि श्रमण धर्म में। जुत्तो=जुड़ा हुआ मुनि। अणुत्तरं=मुक्ति रूप सर्वश्रेष्ठ। अट्ठं=अर्थ को। लहइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

मुमुक्षु श्रमण आलस्य रहित होकर क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य वास, रूप श्रमण धर्म में निरन्तर मन वाणी एवं काय योग को जोड़े रहे। जो श्रमण धर्म में संलग्न होता है वह सर्वश्रेष्ठ मोक्ष रूप अर्थ को प्राप्त करता है। दशविध धर्म की साधना से संचित कर्मों का क्षय और आने वाले कर्म का पूर्ण निरोध होता है।

मूल—

इहलोग पारत्तहियं, जेणं गच्छइ सुग्गइं।
बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थ विणिच्छयं ॥४४

हिन्दी पद्य—

जो उभयलोक का हितकर है, जिससे है सुगति प्राप्त होती।
उस निश्चयार्थ के बारे में, गुरु सेवा आवश्यक होती ॥

अन्वयार्थ—

जेणं=जिस ज्ञान से। इहलोग=इस लोक और। पारत्तहियं=परलोक में हित होता और साधक। सुग्गइं=सुगति। गच्छइ=प्राप्त करता है। जेणं=उसके लिये। बहुस्सुअं=बहुश्रुत की। पज्जुवासिज्जा=पर्युपासना करे और उनसे। विणिच्छयत्थ=तत्त्वार्थ का निश्चय। पुच्छिज्ज=पूछ कर ज्ञात करें।

भावार्थ—

जो शास्त्रार्थ के गम्भीर ज्ञाता है, उनकी पर्युपासना से ही अनुत्तर अर्थ को प्राप्ति होती है। तीर्थङ्करों के समय में जब किसी को दीक्षित किया जाता तब उसे ज्ञान प्राप्ति के लिये स्थविरों के पास रखा जाता था। "थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइ एकारस अंगाइं अहिज्जइ।" इस पाठ से ज्ञान प्राप्ति के लिये बहुश्रुत-स्थविरों की उपासना प्राचीन काल से प्रमाणित होती है। ज्ञानार्थी को उभयलोक में हितकारी और जिससे सुगति की प्राप्ति होती है, उस तात्पर्य के लिये जिज्ञासु को बहुश्रुत की उपासना करनी चाहिये।

मूल—

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसीए, सगासे गुरूणो मुणी ॥४५॥

हिन्दी पद्य—

हाथ पैर और काया को, मुनि संयम में जोड़े रखकर।
गुरू के समीप में जा बैठे, मन वचन काय का रक्षण कर ॥

अन्वयार्थ—

हत्थं=हाथ। पायं च=पैर और। कायं=शरीर को। पणिहाय=संयम में रखकर। जिइंदिए=जितेन्द्रिय मुनि। अल्लीण=गुरु चरणों में मर्यादा से बैठने वाला। गुत्तो=गुरु आज्ञा में दत्तचित्त-गुप्त हो। मुणी=मुनि। गुरूणो सगासे=गुरु के समीप। निसीए=बैठे।

भावार्थ—

गुरु के पास कैसे बैठना इसकी विधि बतलाते हुए कहा है कि-विनीत शिष्य हाथ, पैर और शरीर, के अंगोपाङ्गों को संयम में रखकर जितेन्द्रिय गुरुचरणों की मर्यादा में बैठने वाला-गुरु आज्ञा में दत्तचित्त हो, वचन गुप्ति से गुरु के समीप विधि पूर्वक बैठे!

मूल—

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासिज्जा, चिट्ठिज्जा गुरूणंतिए ।४६॥

हिन्दी पद्य –

न अगल बगल या आगे में, ना उन्हें पीठ पीछे में कर।
गुरू के समीप में बैठे मुनि, ना जंघा पर जंघा रखकर ॥

अन्वयार्थ—

पक्खओ=गुरु के पार्श्व भाग-बराबर में। न=नहीं बैठे। पुरओ न=आगे भी नहीं बैठे। किच्चाण=आचार्यों के। पिट्ठओ=पीछे भी-सटकर। नेव=नहीं बैठे। न य=और न। ऊरुं=ऊरु से ऊरु। समासिज्जा=लगाकर अर्थात् जंघा अड़ा कर। गुरूणंतिए=गुरू के समीप। चिट्ठिज्जा=बैठे।

भावार्थ—

गुरु के समीप बैठते हुए शिष्य को यह ध्यान रखना चाहिये कि गुरु के बराबर नहीं बैठे, जिससे उनको चिन्तन में बाधा न हो! आगे इसलिये न बैठे कि आगे बैठने से वंदना करने वालों को व्यवधान होगा! पीछे भी,

अधिक निकट बैठने से अविनय होगा, जंघा से जंघा अड़ाकर बैठने पर भी आशतना का सम्भव है अतः विनीत शिष्य को विवेक पूर्वक शिष्टता से बैठना चाहिये, जिससे गुरुदेव के इंगिताकार को देख सके, और किसी को व्यवधान भी नहीं हो ! विशेष उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन आदि में देखना चाहिये।

मूल—

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए॥४७॥

हिन्दी पद्य—

ना बोले कभी बिना पूछे, या भाषण बीच नहीं बोले।
पीछे में निन्दा करे नहीं, मायामय झूठ नहीं बोले॥

अन्वयार्थ—

अपुच्छिओ=विना पूछे गुरु के समक्ष। न भासिज्जा=नहीं बोले। भासमाणस्स=गुरुदेव किसी से बात करते हों तब। अंतरा=बीच में नहीं बोले। पिट्ठिमंसं=पृष्ठ मांस-चुगली तथा निन्दा। न खाइज्जा=नहीं करे। माया मोसं=माया-मृषा-कपट पूर्ण झूठ का। विवज्जए=वर्जन करे।

भावार्थ—

शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए शास्त्र ने कहा-बिना पूछे गुरु के समक्ष मत बोलो और गुरु किसी के साथ बात करते हों तब भी बीच में नहीं बोले ! पृष्ट-मांस किसी के पीठ पीछे बुराई नहीं करे और सदा कपट पूर्ण मृषावाद का वर्जन करे। यह शिष्टजनों का सर्वजनानुमोदित आचार है।

मूल—

अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणीं॥४८॥

हिन्दी पद्य—

जिससे होता हो अविश्वास, या अन्य कुपित हो जाता हो।
मुनि कभी नहीं बोले पर से, अपकार-करी जो भाषा हो॥

अन्वयार्थ—

जेण=जिस वचन से। अप्पत्तिअं=अप्रीति। सिआ=उत्पन्न हो। वा=अथवा। परो=अन्य व्यक्ति-सुनने वाला। आसु=जिससे शीघ्र। कुप्पिज्ज=कुपित हो। तं=वैसा वचन। सव्वसो=सर्वथा तथा। अहिअ-गामिणीं भासं=अहितकारी भाषा। न=नहीं। भासिज्जा=बोले।

भावार्थ—

भाषा सम्बन्धी विवेक में सूत्रकार आगे कहते हैं कि—जिस प्रकार के वचन से सुनने वालों में अप्रीति उत्पन्न हो, तथा सुनने वाला जिससे शीघ्र कुपित हो, परस्पर में उत्तेजना फैले, वैसा वचन और किसी का अहित हो ऐसी भाषा सर्वथा नहीं बोले! भाषा का इस प्रकार विवेक रखने से परिवार में सदा शांति और प्रसन्नता बनी रहती है।

मूल—

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुण्णं विअं जिअं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥४९॥

हिन्दी पद्य—

मुनि सहज अर्थमित निःसंशय, परिपुष्ट व्यक्त और वशवाली।
उद्वेग रहित और ऊंचनीच, बोले भाषा निजगुण वाली॥

अन्वयार्थ—

अत्तवं=आत्मवान्-ज्ञानादि गुणवान्। दिट्ठं=दृष्ट विषय को। मिअं=परिमित शब्द को। असंदिद्धं=सन्देह रहित। पडिपुण्णं=प्रतिपूर्ण। विअं=व्यक्त। जिअं=अत्यन्त जमी हुई। अयंपिरं=चपलता और। अणुव्विग्गं=उद्वेग रहित। भासं निसिर=ऐसी भाषा बोले।

भावार्थ—

ज्ञानादि गुणों में रमण करने वाला आत्मवान् साधु बोलने के प्रसंग पर आंखों देखी या जो प्रामाणिक हो वैसी ही बात कहें, इधर उधर से सुनी हुई बात को बढ़ा चढ़ाकर नहीं कहे! सन्देह वाली द्वयर्थक भाषा नहीं बोले, किन्तु श्रोता बराबर समझ सके, ऐसे व्यक्त, और परिचित शब्द वाली भाषा बिना चपलता के उद्वेग रहित बोले। चंचलता या घबराहट की बात सुनने वाला चिन्ता में पड़ सकता है अतः ऐसी भाषा कभी नहीं बोले।

मूल—

आयारपण्णत्तिधरं, दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वायविक्खलिअं नच्चा, तं उवहसे मुणी ॥५०॥

हिन्दी पद्य—

मुनि अंग उपांगो के धारक, और दृष्टिवाद पढ़ने वाले।
न कभी हंसे ऐसे मुनि पर, जो स्खलित वचन भी कह डाले॥

अन्वयार्थ—

आयारपण्णत्तिधरं=आचार-भाषा के नियमों का जानकार। दिट्ठिवायमहिज्जगं=दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाले। वायविक्खलिअं=बोलते समय उच्चारण में चूक जाए। नच्चा=ऐसा जानकर। तं=उसका। मुणी=मुनि। न उवहसे=उपहास नहीं करे।

भावार्थ—

बोलने की स्खलना से मुनि उपहास नहीं करे। इस ओर ध्यान दिलाते हुए कहा है कि साधु भाषा के नियम और लिंग आदि के ज्ञाता तथा काल, कारक, प्रकृति, प्रत्यय आदि पढ़ने वाला भी बोलते समय कभी चूक जाय तो उसकी स्खलना जानकर मुनि उसका उपहास नहीं करे। टीकाकार ने आचार का अर्थ- लोच, अस्नान आदि व्यवहार, प्रज्ञप्ति का अर्थ समझाना और दृष्टिवाद का अर्थ श्रोताओं की अपेक्षा जीवादि सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन किया है। यहां पर व्यवहार भाष्य का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

एक क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति कुशल थे। एक दिन भुरूण्ड राज ने उनसे पूछा- भगवन्! देवता गत काल को कैसे नहीं जानते, इसको स्पष्ट समझाइये? राजा के प्रश्न पर आचार्य एकदम खड़े हो गये। आचार्य को खड़ा देख राजा भी तत्काल खड़ा हो गया। आचार्य क्षीराश्रव लब्धिवान् थे, उन्होंने उपदेश प्रारम्भ किया। उनकी वाणी में दूध की मिठास टपक रही थी। एक प्रहर बीत गया! आचार्य ने पूछा- राजन्! तुझे खड़े कितना समय हुआ है? राजा ने उत्तर दिया- भगवन्! अभी-अभी खड़ा हूँ। आचार्य ने कहा-एक प्रहर बीत चुका है, तू उपदेश की वाणी में आनन्द मग्न होकर जैसे गतकाल को नहीं जान सका वैसे ही देवता भी गीत और वाद्य में आनन्द-विभोर होकर गतकाल को नहीं जानते। राजा निरुत्तर था।
व्यव० भा० ४।३।

मूल—

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंतभेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ॥५१॥

हिन्दी पद्य—

नक्षत्र स्वप्न फल और योग, एवं निमित्त विद्या औषध।
मुनि कहे गृहस्थों को न इन्हें, कारण ये जीव विनाशक पद ॥

अन्वयार्थ—

नक्खत्तं=ग्रह-नक्षत्र। सुमिणं=शुभाशुभ-स्वप्न। जोगं=वशीकरणादि योग। णिमित्तं = भूमि कंप आदि अष्टांग निमित्त। मंत=मन्त्र और। भेसजं=अतिसार आदि की औषधि। तं=ये सब। भूआहिगरणं=प्राणि-हिसा के। पयं=स्थान को मुनि। गिहिणो=गृहस्थों को। न आइक्खे= कथन नहीं करे।

भावार्थ—

साधु संसार के आरम्भ परिग्रह का त्यागी होने से वह त्याग विराग का उपदेश करता है। गृहस्थ के घरेलू प्रपंचों से दूर रहने के कारण वह गृहस्थ से मन्त्र, तन्त्र और ज्योतिष आदि की बात नहीं करता। आकाश के ग्रह गोचर, शुभाशुभ स्वप्न के फल, वशीकरणादि योग, भूत-भविष्य के निमित्त, मन्त्र विद्या और ओषध-भेषज्य की बात नहीं करें, इनको जानकर गृहस्थ आरम्भ करेगा जो त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का कारण होता है। अतः साधु के लिये ये निषिद्ध कहे गये हैं।

▭

मूल—

अण्णट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चार-भूमि संपण्णं, इत्थी पसु विवज्जिअं ॥५२॥

हिन्दी पद्य—

उच्चार-भूमि से युक्त तथा, पशु महिला वा क्लीब रहित।
स्वीकार करे मुनि शयनासन, यदि स्थानक निर्मित हों परकृत ॥

अन्वयार्थ—

लयणं=जो मकान। अण्णट्ठं=गृहस्थ के अन्यार्थ अपने लिये। पगडं= बनाया हो। उच्चारभूमि संपण्णं=उच्चार-मल मूत्रादि परठने की भूमि युक्त

इत्थी पसु विवज्जिअं=और स्त्री, पशु-पंडक रहित हो उसको तथा वैसे। सयणासणं=शयन-आसन-पाट-पाटिया। भइज्ज=सेवन करे।

भावार्थ—

सम्पूर्ण हिंसा का त्यागी साधु कैसे मकान में ठहरे जिससे कि वे हिंसा दोष से बच सके। शास्त्रकार कहते हैं– साधु गृहस्थ के लिये लयन-मकान जो मल-मूत्रादि उत्सर्ग भूमि से युक्त और स्त्री पशु एवं नपुंसक रहित हो स्त्रियों की दृष्टि नहीं पड़े वैसे स्थान तथा अन्यार्थ कृत पाट-पाटिया का उपयोग करें। साधु के उद्देश्य से कृत उपाश्रय एवं आधाकर्म आदि दोष युक्त होने से अग्राह्य होता है।

मूल—

विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं॥५३॥

हिन्दी पद्य—

एकान्त उपाश्रय हो मुनि का, वह नारी से न कथा करे।
ना करे गृहस्थों से परिचय, मुनियों से परिचय सदा करे॥

अन्वयार्थ—

सिज्जा=संयमी के ठहरने का स्थान। विवित्ता य=एकान्त और दोष रहित। भवे=हो। नारीणं=केवल नारियों के मध्य में। कहं=कथा न लवे=नहीं करें। गिहि संथवं=गृहिजनों का संसर्ग-अति परिचय। न कुज्जा=नहीं करें। साहुहिं=साधुओं के साथ। कुज्जा=परिचय करें।

भावार्थ—

साधु की संयम साधना निर्दोष और उनमें राग की मात्रा नहीं बढ़े इस दृष्टि से कहा है कि– ५२ वीं गाथा में कहे अनुसार स्त्री-पशु आदि रहित स्थान में ठहरे, एकान्त स्थान हो वहां स्त्रियों को कथा नहीं कहें। केवल स्त्रियों के बीच कथा नहीं करें। जैसाकि प्रश्न व्याकरण के चतुर्थ संवर द्वार में कहा है कि–'नारिजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा।' स्त्री समुदाय में हास्य रस की कथा करने से मोहभाव की जागृति होती है जो स्वपर दोनों के लिये अहितकर है। नारियों के अतिरिक्त गृहिजनों से अति परिचय भी प्रमाद-वृद्धि का कारण होने से वर्जित कहा गया है। साधु-साध्वी को ज्ञान-

दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिये साधु पुरुषों के साथ संसर्ग करना ही हितकर कहा गया है।

▭

मूल—

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी-विग्गहओ भयं ॥५४॥

हिन्दी पद्य—

जैसे मुर्गे के शावक को, रहता बिडाल का हरदम भय।
वैसे ही ही ब्रह्म व्रती मुनि को, नारी शरीर से प्रतिक्षण भय॥

अन्वयार्थ—

जहा=जैसे। कुक्कुड पोअस्स=मुर्गे के नन्हे बच्चे को। निच्चं=सदा। कुललओ भयं=बिडाल का भय रहता है। एवं खु=इसी तरह। बंभयारिस्स=ब्रह्मचारी को। इत्थीविग्गहओ=स्त्री के शरीर से। भयं=भय होना चाहिये।

भावार्थ—

मुर्गे या कबूतर के बच्चे को बिडाल-बिल्ली से सदा भय रहता है। वे बिल्ली के पास नहीं जाते क्योंकि पक्षी के बच्चे को बिल्ली से मृत्यु का खतरा होता है, वैसे ही ब्रह्मचारी स्त्री के सुन्दर तन से डरता रहे। इसका अर्थ है कि साधु स्त्री के अंगोपाङ्ग को राग से नहीं देखेगा-कभी नजर चली गई तो संयमभाव की हानि के डर से तत्काल दृष्टि हटा लेगा। उसका ब्रह्मव्रत निर्मल रहेगा-वह कामना का शिकार नहीं होगा!

▭

मूल—

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकिअं।
भक्खरंपिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥५५॥

हिन्दी पद्य—

भित्ति-चित्र भी ना देखे, या आभूषण भूषित नारी को।
देख आंखले मींच यथा, मींचता देख करधारी को॥

अन्वयार्थ—

चित्तभित्तिं=स्त्री के चित्रवाली भींत को। वा=अथवा। सुअलंकिअं=वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत। नारिं=नारी को भी। न निज्झाए=

टकटकी लगाये, नहीं देखे, कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो। पिव=जैसे। भक्खरं=मध्याह्न के सूर्य को। दट्ठूणं=देखकर। दिट्ठिं=तत्काल दृष्टि को। पडिसमाहारे=खींच लिया जाता है, वैसे साधु अपनी दृष्टि खींच लें !

भावार्थ—

अनादि काल से आत्मा के पीछे मोहकर्म लगा है जो नाम मात्र का निमित्त पाकर ही प्रगट हो जाता है। वैराग्य जगाने के लिये जैसे कई बार उपदेश सुनाने की आवश्यकता होती है, राग उत्पन्न करने के लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं, वह अनायास उत्पन्न होता है, चित्र में स्त्री रूप को अथवा अलंकार युक्त नारी को देखकर कामराग जगने की सम्भावना देखकर, शास्त्र ने कहा कि मध्यान्ह के सूर्य को देखकर जैसे दृष्टि हटा ली जाती है, वैसे स्त्री पर दृष्टि पड़ते ही तत्काल दृष्टि खींच लो।

मूल—

हत्थ-पाय-पडिछिन्नं, कण्ण-नास-विकप्पियं।
अवि वाससइं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥५६॥

हिन्दी पद्य—

छिन्न हाथ पावों वाली, और कटी कान नाकों वाली।
संग तजे उस नारी का मुनि, चाहे हो सौ वर्षों वाली॥

अन्वयार्थ—

हत्थपाय पडिछिन्नं=जिसके हाथ-पैर कटे हो। कण्ण नास विगप्पियं=नाक कान काट लिये गये हो वैसी। वास सइं=सौ वर्ष की आयु वाली। अवि=भी। नारिं=वृद्धा-नारी को। बंभयारी विवज्जए=ब्रह्मचारी वर्जन करे-दूर रहे।

भावार्थ—

साधु को ब्रह्मभाव की दृढ़ता के लिये पूर्ण सतर्क रहने की शिक्षा देते हुए कहा है कि-जिसके हाथ पैर कटे हों-नाक कान आदि अंगोपांग भी काट लिये हो वैसी शतायु-वृद्धा नारी का भी ब्रह्मचारी सहवास नहीं करे-यद्यपि ऐसी वृद्धा को देखकर कामना जागृत नहीं होती तथापि तरूणी से दूर रहने की भावना को बिना अपवाद के क्रियात्मक रूप देने को कहा गया है।

मूल—

बिभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीय रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥५७॥

हिन्दी पद्य—

तन-मंडन संगति नारी का, करना घृतादि रस का सेवन ।
विष ताल पुट की तरह इन्हें, जाने आत्मा-अन्वेषी जन ॥

अन्वयार्थ—

अत्तगवेसिस्स=आत्मा को अहित से बचाने वाले । **नरस्स**=मनुष्य साधु को । **बिभूसा**=वस्त्र-विलेपनादि से शरीर की शोभा । **इत्थिसंसग्गो**=स्त्रीजनों का विशेष परिचय । **पणीयरसभोयणं**=बलवर्द्धक सरस भोजन का सेवन । **तालउडं**=कल्याणार्थी के लिये, तालपुट । **विसं**=विष के । **जहा**=समान हैं ।

भावार्थ—

जीवन को सुरक्षित रखने के लिये जैसे विषैले भोजन से बचना आवश्यक होता है वैसे आत्म-कल्याणार्थी के लिये कहा गया है कि संयमी साधु अपने व्रत की सुरक्षा के लिये शरीर की शोभा, विभूषा-सजावट, महिलाओं का अधिक संसर्ग और बलवर्द्धक-सरस भोजन को तालपुट विष के समान घातक समझकर इनसे पूर्ण सावधान रहे । विष तो खाने पर ही प्राण हरण करता है पर स्त्री-संसर्ग तो दर्शन और स्मरण से आत्मगुणों की हानि कर बैठता है, अतः कल्याणार्थी को लोकेषणा के चक्र में पड़कर विभूषा आदि से बचने का ध्यान रखना चाहिये ।

▭

मूल—

अंग-पच्चंग-संठाणं, चारूल्लविय पेहियं ।
इत्थीणं त न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥५८॥

हिन्दी पद्य—

नारी के अंग-उपांगों को, भ्रूक्षेप मनोहर भाषण को ।
अनुराग सहित ना देखे मुनि, ये सारे काम बढ़ाने को ॥

अन्वयार्थ—

इत्थीणं=स्त्रियों के। अंगपच्चगं=अंग उपांग को। संठाणं=आकार, प्रकार। चारूल्लविय=मृदु मनोहर संभाषण। पेहियं=कटाक्ष पूर्वक देखना। कामरागविवड्ढणं=कामराग बढ़ाने वाले है। तं=उनको टकटकी लगाए। न निज्झाए=रागभाव से नहीं देखें।

भावार्थ—

रागी हो या विरागी संसार के दृश्य पदार्थ दोनों के दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु दोनों के देखने में अन्तर है, संयमी साधु के लिये कहा है कि वह स्त्रियों के अंग उपांग और उनको आकृति को मृदु मनोहर सम्भाषण तथा उनके कटाक्ष को काम राग बढ़ाने वाला जानकर रागदृष्टि से नहीं देखें! शरीर की बदलती हुई पर्यायों का ध्यान कर यह सोचे कि तन की सुन्दरता सदा एकसो रहने वाली नहीं है। यह तो अनित्य, अशुचि और मलभृत पात्र की तरह अस्पृश्य है।

मूल—

विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाण उ ॥५९॥

हिन्दी पद्य—

शब्दादि विषय के पुद्गल का, परिणाम बदलना मन धर के।
वैसे मनोज्ञ विषयों में मुनि, ना करे प्रेम निश्चय करके॥

अन्वयार्थ—

तेसिं=उन-शब्द-रूपादि। पोग्गलाण उ=पुद्गलों के। अणिच्चं=क्षण-क्षण बदलने वाले। परिणामं=परिणमन को। विन्नाय=जानकर संयमो। मणुन्नेसु=मनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध आदि। विसएसु=विषयों में। पेमं नाभिनिवेसए=राग नहीं करें! मनोज्ञ में राग की तरह अमनोज्ञ में द्वेष भी नहीं करें!

भावार्थ—

पौद्गलिक वस्तुओं का यह स्वभाव है कि अभी जो सुन्दर और शुभ दृष्टिगोचर होती है, वह क्षणान्तर में अशुभ एवं असुन्दर प्रतीत होने

लगती है। २-४ दिन के ज्वर में भरा-सुडोल चेहरा, ढीला पड़ जाता, आंखें भीतर धस जाती और तन की कांति फीकी पड़ जाती है फिर उस पर राग कैसा ? अतः शास्त्रकार कहते हैं कि पुद्गलों के बदलते हुए परिणमन को जानकर मुनि मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करे !

▭

मूल—

पोग्गलाण परीणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥६०॥

हिन्दी पद्य—

इष्ट अनिष्ट जैसा तैसा, परिणाम जान उन पुद्गल का।
शीतल आत्मा के संग श्रमण, विहरे कर वर्जन कामों का ॥

अन्वयार्थ—

तेसिं=उन। पोग्गलाण=पुद्गलों के। परीणामं=वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि परिणाम को। जहा तहा=जैसा है वैसा। नच्चा=जानकर मुनि। विणीयतण्हो= तृष्णा- इच्छा रहित होकर। सीईभूएण=शीतलीभूत। अप्पणा=आत्मा से। बिहरे=विचरण करें!

भावार्थ—

मनुष्य शुभाशुभ पुद्गल पर्यायों पर मोहित तभी तक होता है जब तक कि वह पुद्गल के परिणमन शील स्वभाव को नहीं जानता, ज्यों ही उनकी असलियत जान लेता है, तब मनोज्ञ पदार्थ को पाकर राग और अमनोज्ञ को देख, घृणाद्वेष से लिप्त नहीं होता ! सुबुद्धि प्रधान ने महाराज जितशत्रु के साथ सर्व गुण सम्पन्न राजस भोजन किया; पर पुद्गल के परिवर्तनशील स्वभाव को जानकर उसने राग नहीं किया। उसने राजा को यह विश्वास करा दिया कि दृश्य जगत् के पदार्थ शुभ के अशुभ और अशुभ के शुभ होते रहते हैं। इन पर राग करना वस्तु तत्व की अनभिज्ञता है।

▭

मूल—

जाए सद्धाए निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालेज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥६१॥

हिन्दी पद्य—

जिस श्रद्धा से घर को छोड़ा, उत्तम दीक्षा पद प्राप्त किया।
अनुपालन करे उसी का हम, जिन सम्मत सब जग मान लिया॥

अन्वयार्थ—

जाए=जिस। सद्धाए=श्रद्धा एवं भावना से। उत्तमं=उत्तम। परियायट्ठाणं=संयम पर्याय के स्थान की ओर। निक्खंतो=निकले हैं। तमेव=उसी श्रद्धा और। आयरिए सम्मए=आचार्य सम्मत। गुणे=गुणों का। अणुपालेज्जा=विधि पूर्वक पालन करना चाहिये।

भावार्थ—

मानव मन की गति बड़ी विचित्र है, वह संसार के विविध लुभावने भावों को देखकर इधर उधर भटक जाता है–वह क्षण में रागी तो क्षण में विरागी, जिसके लिये कहा है कि "कबहू मन दोड़त भोगन पै, कबहू मन योग की रीति संभारा" पुरुषोत्तम रथनेमि जैसे विचलित हो गये तब अन्य की बात ही क्या है? मन, की इस दुर्बलता से बचने के लिये कहते हैं कि–जिस श्रद्धा से उत्तम संयम धर्म की ओर आगे बढ़े हो उसी श्रद्धा एवं आचार्य सम्मत सद्गुणों का हम दृढ़ता से पालन करते रहें!

मूल—

तवं चिमं संजम जोगयं च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरेव सेणाए समत्तमाउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं॥६२॥

हिन्दी पद्य—

यह तप संयम योग नित्य, स्वाध्याय योग का आचारी।
सैन्यास्त्र युक्त हो शूर सदृश, स्व-पर का होता हितकारी॥

अन्वयार्थ—

व=जिस प्रकार। समत्तमाउहे=समस्त अस्त्र, शस्त्रों से युक्त। सूरे=शूर। सेणाए=चतुरंगिणी सेना के बीच। अलं=रक्षा में समर्थ होता है, वैसे। इमं च=इस बारह प्रकार का तप। संजमजोगं=संयम-वृत्तियों का निग्रह। च=और जो। सया=सदा। सज्झाय जोगं=वाचना-पृच्छा आदि स्वाध्याय योग में। अहिट्ठए=अधिष्ठित रहता है, वह। अप्पणो=अपने और। परेंसि=दूसरों की रक्षा में। अलं=समर्थ। होइ=होता है।

भावार्थ—

अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित शूर जैसे चतुरंग सेना के बीच स्व पर की रक्षा में समर्थ होता है, वैसे साधक तप, संयम और स्वाध्याय के शस्त्रों से युक्त काम क्रोधादि अंतर रिपुओं की सेना से अपनी और दूसरों की रक्षा में पूर्ण समर्थ होता है ! काम क्रोधादि रिपुओं पर विजय पाने को तप, संयम तथा स्वाध्याय से अधिक कोई कारगर साधन नहीं हो सकता ! स्वाध्याय को सर्वोत्कृष्ट तप बतलाया गया है, ज्ञानियों ने कहा है कि बाह्य, आभ्यन्तर बारह प्रकार की तपस्या में स्वाध्याय के बराबर कोई तप नहीं है ! और नहीं होगा ? "देखो कल्प भाष्य गाथा ११६९ में !"

▭

मूल—

सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे-रयस्स।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं, समीरियं रूप्पमलं व जोइणा।

हिन्दी पद्य—

स्वाध्याय ध्यान रत त्रायी का, गत पाप तपस्या रत मुनि का।
मिट जाता पाप पुराकृत सब जैसे पावक से सोने का।।

अन्वयार्थ—

व=जिस प्रकार। जोइणा=अग्नि से। समीरियं=तपाया गया। रूप्पमलं=चांदी का मल शुद्ध होता है। सज्झाए=स्वाध्याय और। सज्झाणरयस्स=धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में रमण करने वाले। ताइणो=षट्काय जीव के रक्षक। अपावभावस्स=निर्दोष भाव वाले। तवे रयस्स=शारीरिक, मानसिक, तप में लीन मुनि का। पुरेकडं=पूर्वकृत। मलं विसुज्झई=कर्ममल शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ

जिस प्रकार कर्म द्वारा आत्मा को स्वयं मलिन करता है, वैसे ही जैन शास्त्रानुसार आत्मा को निर्मल भी साधक स्वयं करता है। उसकी अनुभवपूर्ण युक्ति यह है कि जैसे अग्नि से तपाया गया चांदी सोने का मल शुद्ध होता है, वैसे स्वाध्याय ध्यान की आग में, तपस्या की तेजी पाकर विशुद्ध भाव वाले दयालु साधु की आत्मा शुद्ध होती है।

▭

मूल—

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे। विरायई कम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमे ।त्तिबेमि ॥६४॥

हिन्दी पद्य—

वैसा वह दान्त कष्ट भोगी, श्रुतयुत निर्मम सब द्रव्य रहित।
होने पर क्षीण कर्म घन के, शशि सम शोभित हो मेघ रहित ॥

अन्वयार्थ—

से=वह। तारिसे=पूर्वोक्त गुणवाला। दुक्खसहे=सुख दुःख में सम रहने वाला। जिइंदिए=जितेन्द्रिय। सुएण जुत्ते=श्रुत ज्ञान से युक्त होकर। अममे=ममता रहित। अकिंचणे=अपरिग्रही साधक। कम्मघणम्मि=अष्ट विध कर्मघन से दूर होने पर वैसे। विरायई=शोभित होता है। कसिणब्भ-पुडावगमे=जैसे सम्पूर्ण अभ्रपटल के अलग हो जाने पर। चंदिमे=चन्द्र। विरायई=शोभित होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—

कर्म मुक्त आत्मा की शुद्ध स्थिति कैसे होती है, इसको समझाते हुए कहा कि– जिस प्रकार अभ्र पटल के सर्वथा दूर होने पर गगन मंडल में चन्द्र शोभित होता है वैसे सुख-दुख में सम रहने वाला जितेन्द्रिय, श्रुतयुक्त ममता रहित और अपरिग्रही साधक सम्पूर्ण कर्मघन के दूर होने पर स्व-स्वरूप में शोभित होता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ अष्टमाध्ययनं समाप्तम् ॥

(विणय–समाही)
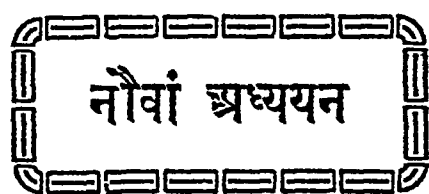
उपक्रम

आठवें अध्ययन में आचार-प्रणिधि का कथन किया गया है। आचार की निधि को पाने के लिए विनय सम्पन्नता आवश्यक है। अतएव नौवें अध्ययन में 'विनय समाधि' का वर्णन किया जाता है।

धर्म का मूल विनय है और उसका फल मोक्ष है। जैसा कि इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक की दूसरी गाथा में कहा गया है–

'एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो।'

'विनय से तात्पर्य केवल नम्रता से ही नहीं है अपितु आचार की विविध धाराओं से है। फिर भी विनय की दो धाराएँ अनुशासन और नम्रता अधिक स्फुट हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में आचार्य के प्रति शिष्य के विनय गुण का प्रतिपादन करते हुए अनेक उपमाओं द्वारा आचार्य की आशातना करने का दुष्परिणाम बताया गया है। द्वितीय उद्देशक में विनय और अविनय का भेद दिखलाया गया है। अविनीत को विपदा और विनीत को सम्पदा मिलती है। तीसरे उद्देशक में 'पूज्य के लक्षणों का निरूपण है और चौथे उद्देशक में विनय, श्रुत, तप और आचार रूप चार समाधियों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इस अध्ययन में विनय की सर्वाङ्गीण व्याख्या की गई है। नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु से इस अध्ययन का निर्यूहण (उद्धार) हुआ है।

मूल—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरूस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥1

हिन्दी पद्य—

जो गर्व क्रोध माया प्रमाद वश, सीखे न विनय निज गुरुजन से।
हो उसका नष्ट ज्ञान वैभव, जैसे कीचक फल लगने से।।

अन्वयार्थ—

थंभा व कोहा=अहं भाव तथा क्रोध। व मयप्पमाया=अथवा 'मद' प्रमाद के कारण। गुरुस्सगासे=गुरु के समीप। विणयं=कल्याण मार्ग को। न सिक्खे=शिक्षा प्राप्त नहीं करता। सो चेव उ=और वे दुर्गुण। तस्स=उस शिष्य के। अभूइभावो=अवनति-हानि का कारण होता है। व=जैसे। कीयस्स=बांस का। फलं वहाय=फल उसके विनाश का हेतु। होइ=होता है।

भावार्थ—

अहंभाव, क्रोध, तथा माया-कपट एवं प्रमाद के कारण शिष्य गुरु की सेवा में विनय धर्म अर्थात् कल्याण की शिक्षा प्राप्त नहीं करता, अहं-भाव से गुरु के अनुशासन को अपमान समझ कर दूर रहना चाहेगा, कभी आक्रोश की भाषा में कुछ कहा हो तो क्रोध करेगा, इस प्रकार वह शिक्षा नहीं ले सकेगा! ये दुर्गुण शिष्य के लिये वैसे ही विनाशकारी होंगे जैसे बांस के फल बांस को नष्ट करने वाले होते हैं।

मूल—

जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुएत्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं।।२।।

हिन्दी पद्य—

जो निज गुरू को मंद बाल, एवं अल्पश्रुत जान उसे।
आशातना और अपमान करें, भव हेतु मिले मिथ्यात्व उसे।।

अन्वयार्थ—

जे आवि=जो भी शिष्य। गुरुं=गुरु को। मंदित्ति=मंद बुद्धिवाला है ऐसा। विइत्ता=जानकर। इमे=ये अभी। डहरे=बालक है तथा। अप्पसुअत्ति=शास्त्र के अधिक जानकार नहीं है यह। नच्चा=जानकर। हीलंति=हीलना करते है, वे। मिच्छं पडिवज्जमाणा=मिथ्यादर्शन को प्राप्त करते हुए। गुरूणं आसायण करंति=गुरुजनों की आशातना करते हैं।

भावार्थ—

शिष्य का कर्त्तव्य है कि गुरु छोटे हो या बड़े उनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति करे। इसके विपरीत जो भी शिष्य गुरु को मंदबुद्धि वाले जानकर ये अभी लघुवयस्क है, शास्त्र के पूर्ण जानकार नहीं है ऐसा मानकर उनकी हीलना करते हैं –लघुता करते हैं, उनके प्रति मिथ्यात्व-भाव प्राप्त करते हुए वे गुरुजनों की आशातना करते हैं। अपने ज्ञानादि भाव की कमी करते हैं।

मूल—

पगईइ मंदा वि भवंति एगे, डहरा विअ जे सुअबुद्धोववेआ।
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिआ सिहिरिव भासकुज्जा॥

हिन्दी पद्य—

होते हैं प्रकृति मंद कोई, श्रुत बुद्ध कई बालक होते।
आचार निष्ठ गुण-दृढ़ हीलन, पा अग्नि समान भस्म करते॥

अन्वयार्थ—

एगे=कई एक वयोवृद्ध होकर। वि=भी। पगईइ=स्वभाव से। मंदा=मंदबुद्धि वाले। भवंति=होते है। डहरा जे=कुछ लघुवय वाले भी जो। सुअबुद्धोववेआ=शास्त्रज्ञ और बुद्धि सम्पन्न होते हैं। आयारमंता=आचारवान्। गुणसुट्ठिअप्पा=तथा संयम गुणों में अच्छी तरह स्थित आत्मा वाले होते है, उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जे हीलिआ=जो गुरु तिरस्कार प्राप्त होकर। सिहिरिव=अग्नि की तरह। भासकुज्जा=शिष्य के ज्ञानादि गुणों को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—

सब व्यक्तियों के कर्मो का क्षयोपशम एकसा नहीं होता-कई एक गुरु वयोवृद्ध होकर भी स्वभाव से मंद बुद्धि होते–उनकी बुद्धि का विस्तार नहीं होता, दूसरे अल्प वयस्क होकर भी शास्त्रज्ञान और तेज बुद्धि वाले होते हैं, वे आचारवान् संयमादि गुणों में स्थिर आत्मा वाले है। उनका अनादर नहीं करना चाहिये, जो गुरु अनादर पाकर अग्नि के समान हीलना करने वाले शिष्य के ज्ञानादि गुणों को भस्म कर देते है, अर्थात् गुरु की हीलना से शिष्य के श्रद्धा और संयम में कमी आकर अशुभ कर्म के कारण उनके ज्ञान गुण में भी क्षीणता आ जाती है।

मूल—

जे आवि नागं डहरं ति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो, निअच्छइ जाइपहं खु मंदे ॥४॥

हिन्दी पद्य—

जो जान नाग का शिशु है यह, करता अपमान अहित होता।
ऐसे गुरु के अपमान किये, नर मन्द विविध दुःख को पाता ॥

अन्वयार्थ—

जे आवि=जो भी कोई-अज्ञ। नागं=विषधर नाग को। डहरं=छोटा है ऐसा। नच्चा=जानकर। आसायए=कंकर मार कर पीड़ा देता। से=उसके लिये वह सर्प। अहिआय=अहित का कारण। होइ=होता है। एवं=इस प्रकार। आयरियं=आचार्य की भी। मंदे=जो मंदमति। हीलयंतो=हीलना करता है। खु=निश्चय वह। जाइपहं=विविध जातियों में। णिअच्छइ=जन्म-मरण प्राप्त करता है।

भावार्थ—

दृष्टान्त द्वारा विषय को सरल करते हुए कहते हैं कि-जो भी अनजान किसी सर्प को छोटा है, यह जानकर लकड़ी आदि से सताता है, उसके लिये वह सर्प अहित का कारण होता है। इसी प्रकार कोई मंदमति आचार्य का भी अनादर करता है तो निश्चय वह विविध योनियों में जन्म-मरण प्राप्त करता है, आत्महित की प्राप्ति नहीं कर सकता।

▭

मूल—

आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा।
आयरिअपाया पुण अप्पसण्णा, अबोहि-आसायण णत्थि मुक्खो

हिन्दी पद्य—

हो परमक्रुद्ध अहि जीवन का, करता विनाश कुछ और नहीं।
पर रुष्ट गुरु के होने पर, आशातना अबोधि से मोक्ष नहीं॥

अन्वयार्थ—

आसीविसो=दृष्टि विष सर्प। परं=अतिशय। सुरुट्ठो=कुपित होकर भी। जीवनासाउ=प्राण हानि से। परं=अधिक। किं=और क्या। नु कुज्जा=कर सकता है किन्तु। आयरिअपाया=आचार्य-गुरुदेव। अप्पसण्णा=अप्रसन्न हुए तो। अबोहि=अबोधि-प्राप्त होती हैं। आसायण=आशातना

से उसको। णत्थि मुक्खो=मोक्ष प्राप्त नहीं होता ! आशातना भव भव में जन्म मरण कराती है।

भावार्थ—

सर्प और आशातना की तुलना कर समझाते हैं, सर्प का काटा हुआ एक बार दुःख पाता है, उग्रविष वाला भी सर्प रुष्ट होकर एक बार प्राण लेता है परन्तु आचार्य के चरण अप्रसन्न हुए तो सम्यग् दर्शन आदि आत्म गुणों की प्राप्ति नहीं होने और आशातना के कारण आशातना करने वाला भव-भव में कष्ट पाता है और उसकी सहज मुक्ति नहीं होती हैं।

▭

मूल—

जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वा वि हु कोवइज्जा।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमासायणया गुरूणं ॥६॥

हिन्दी पद्य—

जो अग्नि ज्वाल पर पांव धरे, या नागनाथ को क्रुद्ध करे।
जो जीने के हित विष खाये, यह उपमा गुरु अपमान धरे ॥

अन्वयार्थ—

जो=जो कोई अहंकारी। जलिअं=जलती हुई। पावगं=आग को। अवक्कमिज्जा=पैरों से कुचलता। वा=अथवा। आसीविषं=दृष्टि विष सर्प को कोई। कोवइज्जा=क्रुद्ध करता। वा जो=अथवा जो। जीविअट्ठी=जीने की इच्छा से। विसं खायइ=विष का भक्षण करता है। गुरूणं=गुरु-जनों की। आसायणया=आशातना के लिये। एसोवमा=यह उपमा समझनी चाहिये।

भावार्थ—

आशातना कैसी भयंकर है, इसको दृष्टान्त से समझाते हैं, यदि कोई जलती अग्नि पैरों से कुचलकर कुशल चाहे, दृष्टि विष सर्प को कुपित करे और जीवनाभिलाषी कालकूट विष का भक्षण करे तो उसकी खैर नहीं, यह उपमा गुरुओं की आशातना के लिये दी जा सकती है।

▭

मूल—

सिया हु से पावय णो डहिज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे
सिआ विसं हालहलं न मारे, न या वि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥

हिन्दी पद्य—

चाहे न जलाये पावक भी, या होकर क्रुद्ध न अहि खाये।
अथवा न हलाहल विष मारे, पर मोक्ष न गुरु निन्दा गाये॥

अन्वयार्थ—

सिया हु=कदाचित्। से=उस-पैरों से अग्नि कुचलने वाले को। पावय=अग्नि। णो डहिज्जा=नहीं जलावें। वा=अथवा। आसीविसो=दृष्टि विष-सर्प। कुविओ न भक्खे=कुपित होकर भक्षण नहीं करे। सिआ=कदाचित्। विसं हालहलं=हलाहल विष भी। न मारे=नहीं मारे, यह हो सकता है किन्तु। गुरुहीलणाए=गुरू की हीलना से। यावि=कभी। न मुक्खो=मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ—

आशातना की अग्नि आदि से तुलना की जाती है-हो सकता है कभी जड़ी, बूटी एवं मन्त्रादि प्रयोग से अग्नि नहीं जलावे। मन्त्र बल से कुपित सर्प भी भक्षण नहीं करे। और हलाहल विष भी खाया हुआ नहीं मारे किन्तु गुरु की हीलना करने वाले को मोक्ष कभी भी नहीं होता। आशातना यह महाविष है-यह भव भव में दुःख देने वाला है।

मूल—

जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे, सुत्तं च सिहं पडिबोहइज्जा।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमासायणया गुरूणं॥

हिन्दी पद्य—

जो सिर से गिरि भेदन चाहे, अथवा दे सिंह जगा सोए।
या भाले के आगे चोट करे, यह उपमा गुरु अपमान किए॥

अन्वयार्थ—

जो=जो। सिरसा=सिर की टक्कर से। पव्वयं=पर्वत को। भित्तुमिच्छे=तोड़ना चाहे। च=और। सुत्तं सीहं=सोये सिंह को। पडिबोहइज्जा=जगावे। वा=अथवा। सत्ति अग्गे पहारं दए=भाले की तीखी नोंक पर प्रहार मारे। गुरूणं=गुरुजनों की। आसायणया=आशातना। *एसोवमा=इसके समान कही गई है।*

गुरुजनों की आशातना कैसी भय जनक है, इसको समझाने के लिए अग्नि-आशीविष और विष की उपमा दी गई, अब पर्वत भेदन, सोये

सिंह को जगाना और भाले के अग्रभाग पर प्रहार करने की तीन उपमाए फिर बताई गई है। जैसे सिर से पर्वत को टक्कर मारना, सोये सिंह को जगाना और भाले के अग्रभाग पर हाथ का प्रहार मारना सुखकर नहीं होता। ऐसे गुरुजनों की आशातना से कोई लाभ नहीं पर ज्ञानादि गुणों की निश्चित हानि होती है।

मूल—

सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे, सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं, न या वि मुक्खो गुरुहीलणाए

हिन्दी पद्य—

संभव है सिर से नग फूटे, क्रुद्ध सिंह भी ना खाये।
कुंतल नोक नहीं भेदे, पर मोक्ष न गुरु निंदा गाये॥

अन्वयार्थ—

सिआहु=कदाचित् कोई। सीसेण=सिर की टक्कर से। गिरिं पि-भिंदे=पर्वत का भेदन करदे। सिआ=कदाचित्। कुविओ सीहो=क्रुद्ध सिंह भी। न भक्खे=भक्षण न करे। सिआ=कदाचित्। सत्तिअग्ग=भाले का अग्रभाग। न भिंदिज्ज=प्रहार से भेदन नहीं करे। याविं=फिर भी। गुरूहीलणाए=गुरु की हीलना से कभी। न मुक्खो=मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ—

पर्वत भेदन, सिंह जागरण आदि जो दुःखकर है कदाचित् विद्याबल आदि से इनका भेदन हो जाय, इनसे होने वाला कष्ट टल जाये परन्तु गुरु-जनों की आशातना से होने वाला भव भ्रमण का दुःख नहीं टल सकता। अर्थात् गुरु की आशातना से होने वाला दुःख किसी तरह नहीं टल सकता।

मूल—

आयरियपाया पुण अप्पसण्णा, अबोहि आसायण णत्थि मुक्खो
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा॥

हिन्दी पद्य—

आचार्य चरण हों अप्रसन्न, अपमान अबोधि वश मोक्ष नहीं।
अतएव मोक्ष सुख अभिलाषी, गुरु कृपा प्राप्त कर रमे सही॥

अन्वयार्थ—

आयरिय पाया पुण=आचार्य चरण के। अप्पसण्णा=अप्रसन्न होने से। अबोहि=बोधि लाभ नहीं होता क्योंकि। आसायण=आशातना से। मुक्खो=मोक्ष। णत्थि=नहीं होता है। अणावाह=निराबाध। सुहाभिकंखी=सुख की अभिलाषा वाला। गुरुप्पसायाभिमुहो=गुरुदेव की कृपा से अनुकूल। रमेज्जा=रमण करे - विचरे।

भावार्थ—

क्योंकि आचार्य देव के चरण अप्रसन्न होकर अबोधि जनक होते है, अत: शास्त्र कहता है कि आशातना से मोक्ष नहीं होता। इसलिये आशातना को हानिप्रद जानकर निराबाध सुख की इच्छा वाला मुनि सदा गुरुजनों की कृपा के अनुरूप विचरण करे, अर्थात् सदा उसमें तत्पर रहे।

▭

मूल—

जहा हि अग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं।
एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा, अणंतणाणोवगओ वि संतो॥

हिन्दी पद्य—

मंत्र सुसंस्कृत नाना हुतिसे, अनल विप्र ज्यों नमन करे।
शिष्य अनंत ज्ञानयुत ज्योंही, गुरू सेवा में चित्त धरे॥

अन्वयार्थ—

जहा=जैसे। आहिअग्गी=अग्नि पूजक ब्राह्मण। नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं=नानाविध घृतादि की आहुति और मंत्रपदों से अभिषिक्त। जलणं=अग्निदेव को। नमंसे=नमस्कार करता है। एव=इस प्रकार शिष्य। अणंतणाणोवगओ=अनन्त ज्ञान युक्त। वि संतो=होकर भी। आयरिअं=आचार्य की। उवचिट्ठइज्जा=सेवा में उपस्थित हो अर्थात् विनयपूर्वक सेवा करे।

भावार्थ—

शिष्य को चाहिये कि वह गुरु को देवतुल्य समझे, जैसे आहिताग्नि देवपूजक विप्र अनेक प्रकार की घी, मधु आदि की आहुति और वेद मन्त्रों से अभिषिक्त अग्नि को देव भाव से नमस्कार करता है, वैसे योग्य शिष्य अनन्तज्ञान से युक्त हो जाने पर भी आचार्य महाराज की सेवा में तत्परता से उपस्थित रहें।

मूल—

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भोमणसा य निच्चं ॥

हिन्दी पद्य—

जिसके पास धर्म पद सीखे, उससे सविनय व्यवहार करे।
तन मन वचनों से सन्तत, कर युत सिर से सत्कार करे॥

अन्वयार्थ—

जस्संतिए=जिसके पास। धम्म पयाइं=धर्म पदों को। सिक्खे तस्संतिए=सीखे, उनके समीप में। वेणइयं=विनय का। पउंजे=प्रयोग करे। सक्कारए=सत्कार दे। सिरसा पंजलीओ=सिर झुकाकर, दोनों हाथ जोड़े-बहुमान दे। कायग्गिरा भो मणसा=काया, वचन, और मन से। निच्चं=सदा भक्ति करे।

भावार्थ—

शिष्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि जिस मुनि के पास धर्म पदों को सीखे, उनके पास उचित विनय की प्रवृत्ति कर दोनों हाथ जोड़े हुए सिर झुकाकर नमन करे, और तन, मन एवं वाणी से सदा सत्कार करे, गुण-कीर्त्तन करते गुरुदेवों का बहुमान करे! विनय से गुण दीपते और दर्शकों के मन में गुरु के प्रति भक्ति जागृत होती एवं धर्म की प्रभावना होती है।

मूल—

लज्जा दया संजम बंभचेरं, कल्लाण भागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरूसययमणुसासयंति, तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

लज्जा दया ब्रह्मव्रत संयम, कल्याण भाग के शुचितम पद।
सतत सिखायें मुझको जो गुरू, नित्य करूं पूजन वह पद॥

अन्वयार्थ—

लज्जा=पाप करते लजाना-भय करना। दया=जीव दया। संजम=संयम और। बंभचेरं=ब्रह्मचर्य, ये चार गुण। कल्लाण=कल्याणार्थी साधक के लिये। विसोहिट्ठाणं=विशुद्धि के स्थान है, इसलिये शिष्य को सोचना चाहिये कि। जे=जो। गुरू=गुरुदेव। सययं=निरन्तर। मे=

मुझे। अणुसासयंति=शिक्षा देते है। ते=उन। गुरू सययं=गुरूओं की सदा। पूअयामि=विनय भक्ति करता हूँ।

भावार्थ—

साधक की साधना में चार शुद्धि के स्थान हैं, जैसे-लज्जा, पाप करते समय शरमाना, दया-करुणा भाव, संयम और ब्रह्मचर्य, ये चार विशुद्धि के स्थान हैं, उपकारी के प्रति बहुमान की भावना से शिष्य सोचा करता है कि जो गुरु सदा मुझे हित की शिक्षा देते हैं, उनकी मैं सतत-सेवा भक्ति करता हूँ। क्योंकि संसार में गुरु से बढ़कर कोई भव-भव का उपकारी नहीं होता ! नीति में एक अक्षर सिखाने वाले का भी बहुमान करना कहा है, तो जिसने जीवन सुधार की शिक्षा दी उसके उपकार का कहना ही क्या ?

मूल—

जहा णिसंते तवणच्चिमाली, पभासइ केवलं भारहं तु।
एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए, विरायइ सुरमज्झेव इंदो ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

रात्रि गए ज्यों किरण माल रवि, भरत क्षेत्र द्योतित करता।
त्यों श्रुतशील बुद्धि से गुरु, मुनि मध्य सुरेन्द्र बना रहता ॥

अन्वयार्थ—

णिसंते=रात्रि के अन्त में। जहा=जैसे। तवणच्चिमाली=तेज से देदीप्यमान सूर्य। केवलं=पूरे। भारहं तु=भारतवर्ष को। पभासइ=प्रकाशित करता है। एवं=इस प्रकार। आयरिओ=आचार्य महाराज। सुअसोल बुद्धिए=श्रुत-ज्ञान चारित्र और बुद्धि से। सुरमज्झे=देवों में। इंदो=इन्द्र के समान। विरायइ=शोभा देते है ! स्वपर के हृदय को आलोकित करते है।

भावार्थ—

गुरु अज्ञान को मिटाने वाले हैं, उनके लिये कहा गया है कि जैसे-रात्रि के अवसान में प्रातः काल अपनी किरणों से देदीप्यमान सूर्य सम्पूर्ण भारत को प्रकाशित करता है, ऐसे हो धर्माचार्य, श्रुत, निर्मलशील और विमल बुद्धि द्वारा जन-जन के हृदय को प्रकाशित करते हुए ऐसे शोभित होते हैं जैसे सुरगणों में इन्द्र शोभित होता है। इसलिये जन श्रुति प्रसिद्ध है कि "गुरु, दीपक गुरु चांदना, गुरु बिन घोर अंधार"।

मूल—

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो, नक्खत्त-तारागण परिवुडप्पा।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के, एवं गणी-सोहइ भिक्खुमज्झे।।

हिन्दी पद्य—

जैसे चन्द्र चन्द्रिका संयुत, तारा नक्षत्रों से घिरे हुए।
अभ्र रहित नभ में शोभित हों, त्यों गणी भिक्षु से घिरे हुऐ।।

अन्वयार्थ—

जहा=जैसे। कोमुइजोगजुत्तो=शरत् काल की पूर्णिमा के योग वाला। ससी=चन्द्र। नक्खत्त=गृह नक्षत्र एवम्। तारागण=तारा समूह से परिवुडप्पा=घिरा हुआ। अब्भमुक्के=अभ्रमुक्त। विमले=निर्मल। खे=आकाश में। सोहइ=शोभा पाता है। एवं=ऐसे। भिक्खुमज्झे=भिक्षु मंडल में। गणी=आचार्य। सोहइ=शोभित होते हैं।

भावार्थ—

निर्मल और बादलों से मुक्त स्वच्छ गगन में जैसे कार्तिक पूर्णिमा का चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रों से घिरा हुआ शोभा पाता है, वैसे ही साधु समूह में आचार्य अपनी ज्ञान ज्योत्सना से सुशोभित होते हैं। दूसरे शब्दों में आचार्य को दीपक के समान स्वपर को प्रकाशित करने वाला कहा है। जैसे-'दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवंति।' अतः धर्म गुरू ज्योतिर्धर हैं।

▭

मूल—

महागरा आयरिआ महेसी, समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं, आराहए तोसए धम्मकामी।१६।

हिन्दी पद्य—

उत्कृष्ट ज्ञान लाभ इच्छुक, धर्मी दे तोष प्रसन्न करे।
श्रुत शील बुद्धि से ध्यान बीच, मोक्षेच्छुक गुरु का मान करे।।

अन्वयार्थ—

अणुत्तराइं=सर्व श्रेष्ठ गुणों को। संपाविउकामे=प्राप्त करने की इच्छा वाले। धम्मकामी=धर्मकामी को चाहिए कि। समाहिजोगे=समाधि योग और। सुअशीलबुद्धिए=श्रुत शील एवं बुद्धि के। महागरा=महान आकर। आयरिया=आचार्य महाराज की। आराहए=आराधना करे तथा। तोसए=उन्हें प्रसन्न करें।

भावार्थ—

आचार्य श्रेष्ठ गुण, जैसे- समाधियोग, श्रुतशील और बुद्धि आदि के महान् आकर हैं। ज्ञान क्रिया के कोई गुण उनमें अवशिष्ट नहीं रहते। अतः सर्वश्रेष्ठ गुणों को पाने की इच्छा वाला, धर्मकामी मुनि उनको प्रसन्न करे और सर्वतोभावेन उनकी आराधना करे।

मूल—

सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं,सुस्सूसए आयरियऽप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे,सो पावई सिद्धिमणुत्तरं।। त्तिबेमि।।

हिन्दी पद्य—

मेधावी सुन ये सुघड़ वचन, हो अप्रमत्त गुरु का सेवन।
करके अनेक गुण आराधन, पा लेता मोक्ष परम पावन ।।

अन्वयार्थ—

मेहावि=मेधावी मुनि। सुभासियाइं=पूर्वकथित सुभाषितों को। सुच्चाण=सुनकर। अप्पमत्तो=अप्रमत्त भाव से। आयरिए=आचार्य की। सुस्सूसए=सेवा करें। से अणेगे=गुरु चरणों में ज्ञानादि अनेक। गुणे=गुणों की। आराहइत्ताण=आराधना करके। अणुत्तरं=वह सर्वश्रेष्ठ। सिद्धि=सिद्धि पद को। पावई=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

आशातना से आत्म गुणों की हानि और गुरु सेवा का लाभ बताकर अब उपसंहार की भाषा में कहते हैं कि बुद्धिमान साधु उपरोक्त सुभाषितों को सुनकर आचार्य देव की अप्रमत्त भाव से सेवा करे, गुरु चरणों में विविध गुणों को आराधना करने वाला सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ऐसा मैं कहता हूँ!

।। प्रथम उद्देशकं सम्पूर्णम् ।।

नौवां अध्ययन
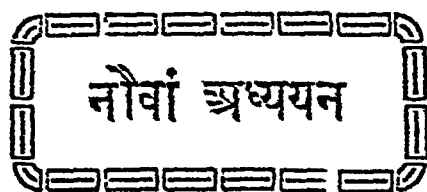
द्वितीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में विनय की महिमा बताकर शिक्षा देते हैं—

मूल—

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुविंति साहा।
साहाप्पसाहा विरूहंति पत्ता, तओ सि पुप्फं च फलं रसो य।1।

हिन्दी पद्य—

होता स्कन्ध विटप जड़ से, फिर शाखा और प्रशाखा भी।
पत्र फूल और फल होते, भर जाता उसमें है रस भी॥

अन्वयार्थ—

दुमस्स=वृक्ष के। मूलाओ=मूल से। खंधप्पभवो=खंध की उत्पत्ति होती। खंधाओ=खंध से। पच्छा=पीछे। समुविंति साहा=शाखा प्रकट होती है। साहाप्पसाहा=शाखा से प्रशाखाएं। पत्ता=प्रशाखा से पत्र। विरूहंति=प्रगट होते। तओ=पत्ते के पश्चात्। सि=उस वृक्ष के। पुप्फं च फलं=फूल और फल। रसो य=तथा रस उत्पन्न होता है।

भावार्थ—

जिस प्रकार वृक्ष के मूल से खंध प्रगट होता और खंध से शाखाएं निकलती है, शाखा से प्रशाखाएं फूटती है, प्रशाखा से पत्ते और फिर उस वृक्ष के फूल, फल और रस को उत्पत्ति होती है! मूल यदि हरा भरा है तो वृक्ष के सभी अंग-कंद, खंध, शाखा-प्रशाखा आदि समृद्ध रहते हैं।

मूल—

एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मुक्खो।
जेण कित्ति सुअं सिग्घं, णिस्सेसं चाभिगच्छइ॥2॥

हिन्दी पद्य—

ऐसे ही विनय धर्म की जड़, उसका उत्कृष्ट मोक्ष है फल।
जिससे कीर्ति शीघ्र शास्त्रों की, प्राप्ति रूप मिलता है फल॥

अन्वयार्थ—

एवं धम्मस्स=ऐसे धर्मवृक्ष का। मूलं=मूल। विणओ=विनय है। से=उसका। परमो=परम-फल। मुक्खो=मोक्ष है। जेण किर्त्ति=जिस विनय से कीर्त्ति। सुअं सिग्घं=श्लाघनीय श्रुत और। णिस्सेसं=मोक्षं को। अभिगच्छइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

वृक्ष की तरह धर्म का मूल विनय है, धन, वैभव, स्वर्ग फल है, मोक्ष धर्म का उत्कृष्ट फल है, विनय के द्वारा यश-कीर्त्ति, श्लाघ्य-श्रुत और साधक निःश्रेयस के फल को प्राप्त करता हैं। विनय का मूल दृढ़ होने से साधक श्रुत धर्म, चारित्र धर्म और तप-संयम की विधिवत् आराधना कर सुलभ सिद्धि प्राप्त करेगा।

▭

मूल—

जे अ चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई निअड़ी सढ़े।
वुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा॥३॥

हिन्दी पद्य—

जो क्रोधी दर्पी मृग तुल्य भीरु, दुर्वादी शठ कपटी होता।
अविनीत हृदय वह दारु तुल्य, जल धारा में खाता गोता॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। चंडे=चंड-क्रोधी। मिए=मृगवत्-अज्ञानी। थद्धे=अहंकारी। दुव्वाई=दुर्वादी-कदाग्रही। निअड़ी=कपटी। सढे=शठ-संयम से अंग चुराने वाला हैं। से=वह। अविणीअप्पा=अविनीत आत्मा। सोअगयं=सरिता के प्रवाह में। जहा=जैसे। कट्ठे=काष्ठ। वुज्झई=प्रवाहित होता है, वैसे संसार के प्रवाह में प्रवाहित होता है।

भावार्थ-

विनय धर्म से प्रतिकूल चलने का परिणाम बताते है–जो क्रोधी, मृगसम अज्ञानी, अहंकारी, अप्रिय भाषी, कपटी और धूर्त है, वह अविनीत–आत्मा सरिता के जल–प्रवाह में गिरे हुए काष्ठ को तरह चतुर्गतिक संसार मे भटका करता है, कहीं भी शान्ति से स्थिर नहीं रह सकता!

मूल—

विणयम्मि जो उवाएण, चोइओ कुप्पइ नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं, दंडेण पडिसेहए ॥४॥

हिन्दी पद्य—

सुनकर शिक्षा विनय धर्म की, कुपित हृदय जो हो जाता।
वह आती हुई दिव्यलक्ष्मी को, डंडा मार भगा देता ॥

अन्वयार्थ—

जो=जो । नरो=मनुष्य । विणयम्मि=विनय मे । उवाएण=मधुर वचन के उपदेश से । चोइओ=प्रेरणा पाकर । कुप्पइ=कुपित होता है । सो=वह । इज्जंति=आती हुई । दिव्वं सिरिं=दिव्य लक्ष्मी को । दंडेण=दंड से । पडिसेहए=बाहर निकालता है, अर्थात् आती लक्ष्मी को ठोकर देता है !

भावार्थ—

जो मंदबुद्धि मनुष्य विनय के सम्बन्ध में उचित शिक्षा से प्रेरणा पाकर भी क्रोध करता है, तो समझना चाहिये कि वह मूढ घर में आती हुई दिव्य लक्ष्मी को दंडे मारकर पीछे निकाल रहा है ! ऐसे मनुष्य को यश, कीर्ति, सम्पदा और सम्मान से सदा वंचित रहना पड़ेगा !

मूल—

तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिया ॥५॥

हिन्दी पद्य—

अविनीत अश्व गज ज्यों जग में, केवल दुःख भार उठाते हैं।
प्रत्यक्ष बात वैसे ही ये, अविनीत श्रमण दुःख पाते हैं ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=दिव्य लक्ष्मी को निकालने के समान । उववज्झा=सवारी में काम आने वाले । अविणीअप्पा=अविनीत स्वभाव के । हया गया=घोड़े, हाथी । आभिओगं=भार ढोने में । उवट्ठिया=लगाये गये । दुहमेहंता=दुःख भोगते हुए । दीसंति=देखे जाते हैं ।

भावार्थ—

अविनीत को कैसे दु:ख भोगने पड़ते हैं इसको दृष्टान्त से बताते हैं- शिक्षा से कुपित होने वाले अज्ञ मानव के समान सवारी में काम आने वाले घोड़े और हाथी जो अविनीत स्वभाव के होते हैं उनको भार ढोने के काम में लगकर दु:ख भोगते देखा जाता हैं ! उनको बराबर चारा, पानी भी नहीं मिलता-और प्रकार के आराम की तो बात ही कहां ?

मूल—

तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढि पत्ता महायसा ।।६।।

हिन्दी पद्य—

जैसे विनम्र हाथी-घोड़े, भोजन भूषण सुख पाते हैं।
वैसे ही ये नम्र शिष्य, यश ऋद्धि और सुख पाते हैं ।।

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। उववज्झा=सवारी में लगे। हया गया=जो घोड़े हाथी। सुविणीअप्पा=विनीत-स्वभाव वाले-संकेत से चलने वाले होते है। इड्ढि पत्ता=आभूषण आदि ऋद्धि प्राप्त। महायसा=यशस्वी होकर। सुहमेहंता=सुख भोगते। दीसंति=देखे जाते हैं।

भावार्थ—

वैसे अविनीत के समान सवारी में काम आने वाले जो घोड़े, हाथी सुविनीत होते है, संकेत मात्र से कदम बढ़ाते है, वे यशस्वी आभूषण आदि की ऋद्धि प्राप्त कर सुख एवं सम्मान भोगते देखे जाते है, अच्छे हाथी घोड़ों के लिये आज भी सेवकों द्वारा मालिश की जाती और पोषक भोजन दिया जाता है।

मूल—

तहेव अविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति दुहमेहंता, छाया ते विगलिंदिया ।।७।।

हिन्दी पद्य—

कितने अविनीत पुरुष नारी, क्षत तन या विकलेन्द्रिय बनकर।
दु:ख पाते देखे जाते हैं, वैसे अविनीत साधु भू पर ।।

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे घोड़ों की तरह। लोगंसि=संसार में। अविणीअप्पा=अविनीत स्वभाव के। नर-नारिओ=जो स्त्री-पुरुष होते हैं। ते=वे। छाया=भूखे-कृश। विगलिंदिया=विकल इन्द्रिय वाले। दुहमेहंता=दुःख भोगते हुए। दीसंति=देखे जाते हैं।

भावार्थ—

संसार में जो स्त्री-पुरुष अविनीत स्वभाव वाले-अहंकारी होते हैं, वे भूखे प्यासे, शरीर से कृश और नाक, कान आदि इन्द्रियों से विकल, शारीरिक एवं मानसिक अनेक प्रकार के दुःख भोगते देखे जाते हैं। अविनयशील स्वभाव के कारण उसके घर और परिवार में प्रसन्नता के स्थान पर प्रायः सुस्ती का वातावरण रहता है।

मूल—

दण्ड—सत्थ—परिजुण्णा, असब्भवयणेहि अ।
कलुणा विवण्णछंदा, खुप्पिवासाइ परिगया ॥८॥

हिन्दी पद्य—

दण्ड शस्त्र से जर्जर तन, और पीड़ाकारी वचनों से।
आती दया देखकर पीड़ित, भूख प्यास के कष्टों से ॥

अन्वयार्थ—

दण्डसत्थ=दण्ड और शस्त्र प्रहार से। परिजुण्णा=जर्जरित। असब्भवयणेहि=और असभ्य वचनों से तिरस्कृत। कलुणा=दया पात्र। विवण्णछंदा=पराधीन। खुप्पिवासाइ=भूख और प्यास से। परिगया=पीड़ित-घिरे हुए देखे जाते हैं।

भावार्थ—

अविनीत की कैसी स्थिति होती है, इसका परिचय देते हुए कहा है-अविनीत दण्ड और शस्त्र प्रहारों से जजरित, और असभ्य वचनों से तिरस्कृत होते हैं, उनकी दशा करुणाजनक, परतन्त्र एवम् भूख प्यास, सर्दी गर्मी से घिरे हुए सदा कष्ट भोगते रहते हैं।

मूल—

तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिपत्ता महाजसा ॥९॥

हिन्दी पद्य—

वैसे विनीत नर-नारी भी, जग में वैभव बहु यश पाते।
सुख प्राप्त दिखाई देते हैं, वैसे विनीत जग में छाते ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। लोगंसि=संसार में नर-नारीओ=जो स्त्री-पुरुष। सुविणीअप्पा=विनयशील स्वभाव के हैं, वे। महाजसा=महान यशस्वी। इड्ढिपत्ता=लोक परलोक की ऋद्धि प्राप्त कर। सुहमेहंता=सुख भोगते हुए दीसंति=देखे जाते हैं।

भावार्थ—

अविनीत जैसे नानाविध कष्टों का अनुभव करते हैं वैसे ही संसार में जो विनयशील स्त्री पुरुष हैं, वे जन-जन के प्रेम पात्र होते हैं। नम्र स्वभाव से सर्वत्र कीर्ति वाले विनीत लोग घर-घर में सत्कार और ऋद्धि प्राप्त कर सुख भोगते हुए देखे जाते हैं।

मूल—

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओगमुवट्ठिआ ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

वैसे अविनीत हृदय वाले, सुर यक्ष और गुह्यक सारे।
बन दास दूसरे देवों के, देखे जाते दुःख के मारे ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे मनुष्यों की तरह। अविणीअप्पा=अविनीत स्वभाव वाले देवाजक्खा=देव, यक्ष। य=और। गुज्झगा=गुह्यक जाति के देव। आभिओगमुवट्ठिआ=अहंकार वश मन्त्रादि का प्रयोग करके आज्ञाकारी देव रूप से उत्पन्न होते। आचार्य-उपाध्याय की निन्दा करते किल्विषी-हीन जाति के देव रूप से उत्पन्न होते हैं वहां। दुहमेहंता दीसंति=दुःख भोगते हुए देखे जाते हैं।

भावार्थ—

मनुष्य के समान देव गति के देव भी अविनय के कारण स्वर्ग में उत्पन्न होकर भी वे देव, यक्ष और गुह्यक-सेवक के रूप से अभियोग कर्म में

लगकर अनेक प्रकार के दुःख भोगते हुए चिन्तित देखे जाते हैं। कारण-पराधीनता भी विश्व में दुःख है।

मूल—

तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढि पत्ता महाजसा ॥११॥

हिन्दी पद्य—

वैसे सुविनीत हृदय वाले, सुर यक्ष तथा गुह्यक सारे।
ऋद्धिमन्त और महायशो, दिखते हैं हृष्ट सुखी सारे ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=ऐसे ही। सुविणीअप्पा=सुविनीत स्वभाव वाले। देवा जक्खा=देव, यक्ष। य गुज्झगा=और गुह्यक जाति के देव। महाजसा=बड़े यशस्वी इड्ढिपत्ता=ऋद्धि प्राप्त करके। सुहमेहंता=स्वर्ग में सुख भोगते हुए। दीसंति=देखे जाते हैं।

भावार्थ—

मानव अपने अनुकूल-प्रतिकूल स्वभाव से नरलोक को भी स्वर्ग सा बना लेते हैं। त्रायत्रिंशक देव पूर्व जन्म में ऐसी ही ज्ञान-क्रिया संयुक्त क्रिया करके ३३ धर्म बन्धु एक साथ, जीवन लीला समाप्त कर स्वर्ग में बड़े ऋद्धि के धनी हुए। इन्द्र भी उनको गुरु स्थानापन्न मानकर आदर करता है यह ज्ञानादि विनय का ही सुन्दर फल है।

मूल—

जे आयरिअ उवज्झायाणं, सुस्सूसा वयणं करा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥१२॥

हिन्दी पद्य—

आचार्य और उपाध्यायों के, सेवक आज्ञा पालक बनते।
शिक्षा उनको अतिशय बढ़ती जैसे जल सिंचित तरु बढ़ते ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो शिष्य। आयरिय=आचार्य। उवज्झायाणं=और उपाध्यायों के। सुस्सूसा=सेवा करने। वयणं करा=और आज्ञा का पालन करने वाले हैं।

तेसिं=उनकी। सिक्खा=शिक्षा। जलसित्ता=जल से सींचे गये। पायवा इव =वृक्षों के समान। पवड्ढंति=वढ़ती रहती है।

भावार्थ—

गुरु सेवा का तात्कालिक फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो शिष्य धर्म गुरु आचार्य और ज्ञान दाता उपाध्यायों की तन-मन से सेवा करते और आज्ञा का पालन करते हैं, उनकी शिक्षा वैसे ही वढ़ती है जैसे जल से सींचे गये वृक्ष फल-फूल से वृद्धि पाते हैं। ज्ञान वृद्धि में अपना ज्ञानवरणीय का क्षयोपशम लगन से किया श्रम ही पर्याप्त नहीं होता। इन सबके साथ विनय की भी पूरी आवश्यकता है।

मूल—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा णेउणिआणि अ।
गिहिणो उवभोगट्ठा, इहलोगस्स कारणा ॥१३॥

हिन्दी पद्य—

अपने या परहित कोई जो, व्यवहार शिल्प शिक्षा पाता।
वह गृहस्थ सुख भोग हेतु, देखो क्या क्या नहीं कर पाता ॥

अन्वयार्थ—

गिहिणो=गृहस्थ। इहलोगस्स=इस लोक के भौतिक सुखों की प्राप्ति के। कारणा=कारण। उवभोगट्ठा=तथा भोगोपभोग की सुलभ प्राप्ति के लिए। अप्पणट्ठा=अपने लिये। वा परट्ठा=अथवा परिजनों के लिये। सिप्पा=नाना प्रकार के शिल्प। णेउणि आणि य=और व्यवहार की कुशलता सीखते हैं।

भावार्थ—

गृहस्थ लोग लौकिक सुख सामग्री के उपार्जन और अपने अथवा परिजनों के लिये भोग सामग्री उपलब्धि हेतु, अनेक प्रकार शिल्प उद्योग और रंगाई, छपाई, सिलाई, लेखन, भाषण आदि कुशलता सीखते हैं। शिक्षण काल में उनको शिक्षक आचार्यों का कैसे आदर रखना और आदेश पालन करना पड़ता है।

मूल—

जेणं बंधं वधं घोरं, परिआवं च दारुणं ।
सिक्खमाणा निअच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ।।१४।।

हिन्दी पद्य—

जिससे कठिन मार और बन्धन, दारुण परिताप प्राप्त होता।
कला सीखने वाले कोमल, तन को सब सहना होता ।।

अन्वयार्थ—

ते=वे । ललिइंदिआ=रमणीय इन्द्रियों वाले । जेण=जिस शिक्षण के साथ । जुत्ता=लगे हुए । सिक्खमाणा=शिक्षण पाते हुए । बंधं=बंधन वधं घोरं=घोर प्रहार और । दारुणं=भयंकर । परिआवं=परिताप-पीड़ा निअच्छंति=प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—

प्राचीन काल की शिक्षा पद्धति में कलाचार्य द्वारा छात्रों को मारने, पीटने, कभी शृङ्खला आदि से बांध देना, खाने-पीने को नहीं देना आदि दारुण कष्ट दिये जाते । राजकुमार हो या श्रेष्ठिपुत्र, ब्रह्मपुत्र वहां सबके लिये समानता से शिक्षण दिया जाता था । कलाचार्य पूरे स्वतन्त्र थे । आज के वेतन भोगी शिक्षकों की तरह उनकी पराधीनता नहीं थी । शिक्षणकाल में पूरे समय छात्र आचार्य के निर्देश में ही सब कुछ करता था, बिना अनुमति कोई काम नहीं होता था ।

मूल—

तेवि तं गुरुं पूअंति, तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ।।१५।।

हिन्दी पद्य—

वे भी शिल्प सीखने को, उस गुरु की पूजा करते हैं ।
आज्ञा में सन्तुष्ट हृदय, सत्कार वन्दना करते हैं ।।

अन्वयार्थ—

तेऽवि=वे राजकुमार । तस्स=उस । सिप्पस्स=शिल्प-कुंभकार, चित्रकार आदि कारीगरी के । कारणा=कारण । तं गुरुं=उस-कलाचार्य

गुरू की। पूअंति=पूजा करते हैं। सक्कारंति=सत्कार देते। नमंसंति=नमस्कार करते। तुट्ठा=संतुष्ट होकर। निद्देसवत्तिणो=आज्ञा का पालन करते हैं।

भावार्थ—

पीछे जाकर भी वे राजकुमार, उस शिल्प कला के अभ्यास हेतु उन आचार्य-गुरु की पूजा करते हैं, उनका सत्कार करते, नमस्कार करते और संतुष्ट मन से उनकी आज्ञा का पालन करते हैं।

मूल—

किं पुण जे सुअग्गाही, अणंतहिअकामए।
आयरिआ जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाइवत्तए॥१६॥

हिन्दी पद्य—

क्या फिर ? जो है श्रुतग्राही, एवं अनन्त हित के कामी।
जो बोले गुरु उससे न कभी, होवें श्रमण बहिर्गामी॥

अन्वयार्थ—

जब संसार की शिक्षा के लिये राजकुमार जैसे भी इतना गुरु का आदर करते तब-

पुण=फिर। जे=जो मुनि। सुअग्गाही=शास्त्र ज्ञान का अभ्यासी अणंतहिअ=तथा मोक्ष रूप-अनन्त हित का। कामए=कामी है, वह विनय करे तो। किं=क्या बात है। तम्हा आयरिआ=इसलिये आचार्य महाराज जं वए=जो आज्ञा करे। तं=उसका। भिक्खू नाइवत्तए=मुनि, अतिक्रमण नहीं करे!

भावार्थ—

जब संसार की कला के लिए राजकुमार आदि भी शिक्षा गुरु का पूर्ण विनय करते हैं, तब कल्याणार्थी साधु जो शास्त्र ज्ञान का अर्थी और अनंत हित की इच्छा वाला है, वह आचार्य का विनय करे तो आश्चर्य ही क्या है ? इसलिए भिक्षु को चाहिए कि धर्माचार्य जो आज्ञा फरमावें उसका थोड़ा भी अतिक्रमण नहीं करे। अर्थात् अच्छी तरह आज्ञा का मनोयोग से पालन करे।

मूल—

नीअं सिज्जं गइं ठाणं, नीअं च आसणाणि अ ।
नीअं च पाए वंदिज्जा, नीअं कुज्जा य अंजलिं ॥१७॥

हिन्दी पद्य—

गुरु से हो शय्या नीची, गति स्थान और हो निम्नासन ।
अंजलि को नीची करे तथा, सिर झुका करे पद का वन्दन ॥

अन्वयार्थ –

सिज्जं=विनीत शिष्य, शय्या । गइं ठाणं=गति, स्थान । नीअं=गुरू से नीचा करें । आसणाणि अ=और आसन । नीअं=नीचा लगावें । च=और । नीअं=नीचे होकर । पाए=चरणों में । वंदिज्जा=वन्दन करें । नीअं=और नीचा झुककर । अंजलिं=अंजलि । कुज्जा य=करें, अर्थात् नमस्कार करें ।

भावार्थ—

विनयशील शिष्य गुरु के प्रति श्रद्धाभाव के कारण अपनी शय्या और स्थान गुरू की अपेक्षा नीचे रखे । चलते समय गुरु से जरा पीछे चले, नीचा होकर गुरु चरणों में वन्दन करें और नीचा झुककर ही अंजलि करे - अर्थात् करबद्ध प्रणाम करे । शय्या आसन नीचे होने से दर्शनार्थी को यह जानना कठिन नहीं होता कि इनमें गुरू-शिष्य कौन है ।

८

मूल—

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणत्ति अ ॥१८॥

हिन्दी पद्य—

गुरु का शरीर और उपधि अगर, भूले भी तन से छू जायें ।
अपराध क्षमा हो बोले मुनि, फिर ऐसा कभी न हो पायें ॥

अन्वयार्थ—

काएण=अपने शरीर । तहा=तथा । उवहिणामवि=वस्त्र आदि उपकरणों से भी । संघट्टइत्ता=संघट्ट - स्पर्श करके कहे कि भगवन् । मे=मेरा । अवराहं=अपराध । खमेह=क्षमा करें । न पुणत्ति=फिर ऐसा मैं नहीं करूंगा । वइज्ज=ऐसा बोलें ।

भावार्थ—

जिनशासन विनय प्रधान है, इसमें गुरु को देवतुल्य मानकर उनका बड़ा आदर किया जाता है ! बैठने, उठने में उनके शरीर या आसन आदि को पैर नहीं लगे ! इसकी पूरी सर्तकता रखी जाती है, ध्यान रखते हुए भी कभी अपने शरीर या ओघे आदि उपकरण से आचार्य का संघट्टा हो जाय तो अपने अपराध की क्षमा मांगे और बोले कि भगवन् ! फिर से ऐसी गलती नहीं करूंगा !

▭

मूल—

दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहइ रहं ।
एवं दुब्बुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वइ ॥१९॥

हिन्दी पद्य—

रथ खींचे जैसे मंद बैल, हो प्रेरित तथा पोटने पर ।
वैसे ही अविनीत शिष्य, गुरु कार्य करे बहु कहने पर ॥

अन्वयार्थ—

वा=जैसे । दुग्गओ=दुष्ट वैल । पओएणं=लकडी आदि से । चोइओ=प्रेरित होकर । रहं वहइ=रथ का वहन करता है । एवं=इसी प्रकार । दुब्बुद्धि=दुर्बुद्धि शिष्य । वुत्तो वुत्तो=आचार्य के वारवार कहने से । पकुव्वइ=कार्य करता है ।

भावार्थ –

जातिमान् वैल विना चाबुक के वरावर चलता है, किन्तु दुष्ट वैल चाबुक की मार खाकर ही रथ का वहन करता है, ऐसे दुर्बुद्धि शिष्य का स्वभाव ऐसा होता है कि वह आचार्य के वारवार कहने पर ही कोई काम करता है । अच्छे शिष्य को संकेत मात्र से ही काम में लग जाना चाहिये । इससे आचार्य और शिष्य दोनों को सन्तुष्ठि हो सकती है !

▭

मूल—

आलवंते लवंते वा, न निसेज्जाए पडिस्सुणे ।
मोत्तूणं आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥२०॥

हिन्दी पद्य—

गुरु कहें एक या बार-बार, सुन उसे न बैठे आसन पर।
अति विनय भाव से सुने उसे, मुनि धीर शीघ्र आसन तज कर॥

अन्वयार्थ—

आलवंते=गुरुदेव के एक बार बुलाने। वा=अथवा। लवंते=बार-बार बुलाने पर। धीरो=धीर शिष्य। निसेज्जाए=निषद्या-आसन पर बैठे। न पडिस्सुणे=उत्तर नहीं दे, किन्तु। आसणं=आसन को। मोत्तूणं=छोड़-कर। सुस्सूसाए=विनय पूर्वक सुने और। पडिस्सुणे=फिर उत्तर दे!

भावार्थ—

विनीत शिष्य से काम कराने में आचार्य को कष्टानुभव नहीं करना पड़े, इसलिये शिष्य को ध्यान दिलाया गया है कि वह एक बार या बारबार बुलाने पर अपने आसन से ही उत्तर नहीं दे, किन्तु बुद्धिमान भिक्षु आसन छोड़कर विनय भाव से उत्तर प्रदान करे! यह जिनशासन का आदर्श है, जो बड़े-बड़े पंडितों को चकित कर देता है! घटना इस प्रकार है-

एक समय की बात है आचार्य से विनय का उपरोक्त वर्णन सुनकर एक पंडित ने कहा-महाराज इस प्रकार के विनय का पालन करने वाले चौथे आरक में होते होंगे! आज तो दुर्लभ है! आचार्य ने कहा-नहीं ऐसी बात तो नहीं है, ऐसा कहकर आचार्य ने अपने शिष्य को पुकारा-आवाज सुनते ही शिष्य उपस्थित हो गया किन्तु देखा कि गुरु कायोत्सर्ग में है, वह लौट गया! क्षण भर के पश्चात् गुरु ने फिर पुकारा-शिष्य अविलम्ब उप-स्थित हुआ, परन्तु अब भी देखता है कि गुरु ध्यानस्थ हैं, यों सात बार गुरु ने पुकारा और शिष्य बेचूक उपस्थित होता रहा, उसने जरा सा भी नाक में सल नहीं डाला-पंडित को यह कहना पड़ा, गुरुदेव! मैंने आपने जैसा सुनाया वैसा विनय इस शिष्य में देख लिया, धन्य हैं आप जैसे गुरु और ये विनयशील शिष्य! संसार में ऐसा अन्य उदाहरण मिलना कठिन हैं!

(नोट-यह गाथा (२०) किसी-किसी प्रति में नहीं भी मिलती।)

▭

मूल—

कालं छंदोवयारं च, पडिलेहित्ताण हेऊहिं।
तेण तेण उवाएण, तं तं संपडिवायए॥ २१॥

हिन्दी पद्य—

ऋतु के अनुसार समझ आशय, गुरु हित प्रिय वस्तु मांग लावे।
कर्त्तव्य शिष्य का सदा यही, जैसे हो गुरु को हर्षावे ॥

अन्वयार्थ—

कालं=द्रव्य, क्षेत्र, काल और। छंदोवयारं=गुरु का अभिप्राय। हेऊहिं=हेतुओं से - तर्क पूर्वक। पडिलेहित्ताण=जानकर। तेण तेण=उस-उस। उवाएण=उपायों से। तं तं=उस-उस कार्य को। संपडिवायए=संपादित अर्थात् पूर्ण करे।

भावार्थ—

विनीत शिष्य देश कालानुसार कहां कौनसा द्रव्य अनुकूल होगा, इसको और गुरू के मनोगत भाव को अपनी तर्कणा से यथोचित समझकर उस-उस उपाय से उनकी आवश्यकता को पूर्ण करे। शीतकाल में उष्ण पदार्थ अनुकूल होते किन्तु आचार्य की रुचि और प्रकृति को वे अधिक लाभकारी नहीं होते, इस बात को तर्क से समझकर उसके अनुकूल आहार आदि की व्यवस्था करे।

मूल—

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य।
जस्सेअं दुहओ णायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२२॥

हिन्दी पद्य—

पाता अविनीत सदा विपदा, सम्पदा विनम्र को मिलती है।
जिसने ये दोनों जान लिए, सत् शिक्षा उसको मिलती है ॥

अन्वयार्थ—

अविणीअस्स=अविनीत व्यक्ति के लिये। विवत्ती=कार्य नाश, गुण हानि। य=और। विणीअस्स=विनीत को। संपत्ती=गुण की प्राप्ति एवं सम्पदा प्राप्त होती है। जस्सेअं=जिसको ये। दुहओणां यं=दोनों बातें ज्ञात होती है। से सिक्खं=वह शिक्षा को। अभिगच्छइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

कैसा शिष्य शिक्षा पाने योग्य होता है, इस सम्बन्ध में कहा है कि जिसने अविनीत को विपत्ति तथा विनीत को गुण - संप्राप्ति और सम्पदा

प्राप्त होती है, इन दोनों बातों को अच्छी तरह जान लिया है, वह लाभालाभ का जानकार ही धर्म शिक्षा को प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

मूल—

जे यावि चंडे मइ-इड्ढ-गारवे, पिसुणे णरे साहस-हीण-पेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी ण हु तस्स मुक्खो॥

हिन्दी पद्य—

जो क्रोधी बुद्धि ऋद्धि दर्पी, अविवेकी निन्दक गुरु बाहर।
अनभिज्ञ विनय जिन वचन दूर, ना मोक्ष मिले समता बाहर॥

अन्वयार्थ—

जे यावि=जो भी शिष्य। चंडे=क्रोधी। मइइड्ढिगारवे=बुद्धि द्वारा ऋद्धि या जाति का गर्व करता है। पिसुणे=चुगल। साहस=बिना सोचे काम करने वाला। हीणपेसणे=यथा समय आज्ञा का पालन नहीं करने वाला। अदिट्ठधम्मे=धर्माचरण से हीन। विणये अकोविए=विनय में अकुशल। असंविभागी=स्वधर्मियों में आहार आदि का संविभाग नहीं करता। तस्स मुक्खो=उसको मोक्ष प्राप्त। ण हु=नहीं होता।

भावार्थ—

जो भी शिष्य स्वभाव का क्रोधी, कुल जाति और ऋद्धि का गर्व करने वाला और चुगलखोर हैं जो मनुष्य बिना विचारे काम करने वाला और आज्ञा का पूर्ण पालन नहीं करता। वह अदृष्ट धर्मा तथा विनयहीन, मूर्ख प्राप्त आहार आदि का धर्म बन्धुओं मे संविभाग नहीं करता, उसको मुक्ति लाभ नहीं होता है

मूल—

णिद्देसवित्ती पुण जे गुरूणं, सुयत्थ धम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया
-त्तिबेमि- ॥२४॥

हिन्दी पद्य—

जो है गुरु के आज्ञाकारी, गीतार्थ विनय में बने कुशल।
दुस्तर भवाब्धि तर कर्मकाट, उत्तम गति को पाये मुनिवर॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। गुरूणं=गुरुजनों के। णिद्देसवित्ती=निर्देश का यथावत् पालन करने वाला। पुण=और। सुयत्थधम्मा=श्रुत अर्थ का जानकार। विणयम्मि=विनय धर्म के पालने में। कोविया=कुशल है। ते=वे। इणं=इस। दुरुत्तरं ओघं=दुःख से तैरने योग्य संसार प्रवाह को। तरित्तु=तिर कर। कम्मं=कर्मों का। खवित्तु=क्षय करके। उत्तमं=उत्तम सिद्ध। गइं= गति को। गया=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—

अविनय का परित्याग करके जो शिष्य गुरुजनों की आज्ञा का पालन करते हैं, श्रुत अर्थ के जानकार तथा विनय धर्म के पालन में कुशल वैसे शिष्य इस दुस्तर संसार-सागर को तिरकर, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके उत्तम सिद्धि गति को प्राप्त कर लेते हैं।

॥ द्वितीय उद्देशकं सम्पूर्णम् ॥

नौवां अध्ययन
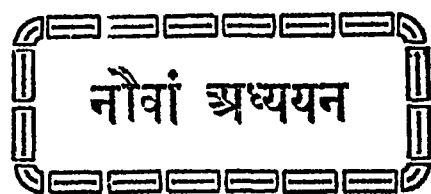
तृतीय उद्देशक

तीसरे उद्देशक में विनयशील पूज्य होता है, यह बतलाते हैं-

मूल—

आयरिअमग्गिमिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा।
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा, जो छंदमाराहयइ स पुज्जो।1।

हिन्दी पद्य—

अनल उपासक सम जो साधक, रहता गुरु सेवा में जागृत।
गुरु आशय दृष्टि तथा इंगित, जो पाले वह है पूज्य कथित॥

अन्वयार्थ—

अग्गिमिवाहिअग्गी=अग्निपूजक ब्राह्मण, जैसे अग्नि की सेवा में सावधान रहता है, वैसे। जो=जो शिष्य। आयरिअं=आचार्य की। सुस्सूसमाणो=सेवा-शुश्रूषा में। पडिजागरिज्जा=जागृत रहता है। आलोइयं=गुरु की दृष्टि। इंगिअमेव=इंगिताकार को। नच्चा=जानकर। छंदं=आचार्य की इच्छा का। आराहयइ=आराधन करता है। स पुज्जो=वह पूज्य होता है।

भावार्थ—

लोक में देखा जाता है-अग्नि पूजक ब्राह्मण अग्नि की सेवा में सावधान रहता है, वैसे जो विनयशील शिष्य आचार्य देव की सेवा में सतत जागृत रहता है, उनकी दृष्टि और इंगिताकार-चेष्टा को जानकर उनकी इच्छा का पूर्ण आराधन करता है वह लोक पूज्य है! आचार्य की सेवा में रहने वाला दोषों से बचा रहता और श्रुत चारित्र की आराधना में अग्रगामी रहकर संसार में पूजनीय होता है!

मूल—

आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरूं तु नासाययइ स पुज्जो ।२।

हिन्दी पद्य—

जो विनय योग आचार हेतु, करत सेवा गुरु मान वचन ।
उपदेशाकांक्षी गुरु निन्दा, जो करे नहीं वह पूज्य श्रमण ।।

अन्वयार्थ—

आयारमट्ठा=जो आचार-धर्म के लिये । विणयं=विनय भक्ति । पउंजे=करता है । सुस्सूमाणो=सेवा करता हुआ । वक्कं=गुरू के वचनों को । परिगिज्झ=ग्रहण करके । जहोवइट्ठं=उनकी इच्छा के अनुकूल । अभिकंखमाणो=कार्य करने की रुचि रखता है । गुरूं आसाययइ=गुरु की आशातना । न तु=नहीं करता । स पुज्जो=वह पूज्य है ।

भावार्थ—

जो सत्य शील आदि आचार धर्म की शुद्ध पालना के लिये गुरु का विनय करता और सेवा में रहता हुआ गुरुदेव के वचन को अंगीकार करता एवं उपदेश के अनुसार काम करने की आकांक्षा रखता है, तथा गुरु की आशातना-विचार वा आचार से नहीं करता वह संसार में पूज्य होता है ।

मूल—

रायणिएसु विणयं पउंजे, डहरा वि अ जे परिआयजिट्ठा ।
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई, उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ।।३।।

हिन्दी पद्य—

शिशु होकर भी पर्याय ज्येष्ठ, उस रत्नाधिक में विनय करे ।
निम्नासन वाला सत्य व्रती, है पूज्य, वन्द्य का वचन करे ।।

अन्वयार्थ—

जे=जो । डहरा वि अ=अवस्था से बालक होकर भी । परिआय=दीक्षा पर्याय से । जिट्ठा=ज्येष्ठ-बड़े हैं, उन । रायणिएसु=रत्नाधिकों को । विणयं पउंजे=विनय करता है । नीअत्तणे वट्टइ=नम्र भाव से रहता है । सच्चवाई=सत्य बोलने वाला । उवायवं=गुरु के समीप रहता । वक्ककरे=और आज्ञा का पालन करता है । स=वह । पुज्जो=लोक में पूज्य है ।

भावार्थ—

जिनशासन में कुल, जाति, या अवस्था की अपेक्षा व्रताराधन का अधिक महत्त्व है, इसलिए साधु को ज्ञानादि रत्नों से जो चिरकाल दीक्षित है, उनका विनय करना चाहिये, अवस्था में बालक भी जो व्रत की दीक्षा में ज्येष्ठ है उनके प्रति जो नम्र भाव से रहता, सत्यवादी और गुरु सेवा में रहने वाला तथा आज्ञानुसार चलने वाला है, वह लोक में पूज्य होता है।

मूल—

अण्णाय उंछं चरइ विसुद्धं; जवणट्ठया समुआणं च निच्चं।
अलद्धुअं णो परिदेवइज्जा, लद्धुं न विकत्थइ स पुज्जो ॥४॥

हिन्दी पद्य—

जो नित्य अपरिचित से विशुद्ध, संयम हित भिक्षा लेता है।
वह पूज्य मिले श्लाघा न करे, ना मिले दुःख सह लेता है॥

अन्वयार्थ—

निच्चं=जो सदा। जवणट्ठया=संयम यात्रा के लिये। समुआणं=सामूहिक भिक्षा। अण्णायउंछं=अज्ञात कुल से थोड़ा-२। विसुद्धं चरइ=निर्दोष लेता है। अलद्धुअं णो परिदेवइज्जा=नहीं मिलने पर खेद नहीं करता। लद्धुं=और पर्याप्त मिलने पर। न विकत्थइ=प्रशंसा नहीं करता। स=वह। पुज्जो=लोक में पूज्य है।

भावार्थ—

अच्छा साधु आहार का लोलुपी नहीं होता, वह सदा संयम यात्रा के निर्वाह हेतु सामूहिक-अज्ञात रूप से थोड़ा-थोड़ा शुद्ध भोजन ग्रहण करता है, कभी भिक्षा में आवश्यक आहार की प्राप्ति नहीं हो तो खेद नहीं करता और इच्छानुसार आहार मिलने पर प्रशंसा नहीं करता, वह यथा लाभ सन्तुष्ट मुनि लोक पूज्य है।

मूल—

संथार-सिज्जासण-भत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा, संतोसपाहण्णरए स पुज्जो ॥५॥

हिन्दी पद्य—

संस्तारक शय्या अशन पान, अतिलाभासन मिलने पर भी।
अल्पेच्छा से सन्तोष करे, सन्तोष-परायण पूज्य वही॥

अन्वयार्थ—

संथार=संस्तारक। सिज्जासण=शय्या, आसन। भत्तपाणे=और भक्त पान के सम्बन्ध में। अइलाभे=अधिक लाभ होने पर भी। अप्पिच्छया=अल्प इच्छा, मूर्च्छा नहीं रखता। जो=जो। एवं=इस प्रकार। अप्पाण=आत्मा को। अभितोसइज्जा=सन्तुष्ट रखता है। स=वह। संतोसपाहण्णरए=सन्तोष भाव की प्रधानता से रमण करने वाला। पुज्जो=पूज्य होता है।

भावार्थ—

भोजन को तरह जो साधु संथारा, शय्या-स्थान, आहार पानी में अल्प इच्छा वाला होता है, अधिक मिलने की स्थिति में भी थोड़ा लेता है इस प्रकार जो अपने को यथा लाभ सन्तुष्ट रखता है, मानसिक विकल्प नहीं करता, वह सन्तोष भाव में रमण करने वाला लोक-पूज्य होता है! अब इन्द्रिय की समाधि के द्वारा पूज्यता दिखाते हैं।

मूल—

सक्का सहेउं आसाए कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥६॥

हिन्दी पद्य—

उद्योगी नर आशा वश में, लोहे का कांटा सहन करता।
कानों में निस्पृह वचन बाण, जो सहता पूज्य वही बनता॥

अन्वयार्थ—

उच्छहया=धन आदि की इच्छा वाले। नरेणं=मनुष्य। आसाए=आशा से। अओमया=लोहे के। कंटया=तीक्ष्ण काटें। सक्का सहेउं=सहन कर सकते हैं। अणासए=किन्तु बिना आशा के। कण्णसरे=कान में बाण के समान चुभने वाले। वईमए कंटए. सहेज्ज=वचन के कांटों को जो मुनि सहन करता है। स=वह। पुज्जो=लोक में पूज्य है।

भावार्थ—

मनुष्य सर्दी, गर्मी का दुःख सह लेता है, लोभवश एक सैनिक हंसते-हंसते तीखे बाण सह लेता है, किन्तु विना किसी स्वार्थ के दुर्वचन के काटे जो कान में ही नहीं हृदय में सदा खटका करते हैं, उनको जो स्वभाव से सह लेता है, वह लोक में पूज्य है। क्योंकि अर्थी लोक लोह के तीखे कांटों पर खेल करते, शस्त्र से अंग-उपांग काट लेते, तलवार की धार को सहते हैं, पर विना स्वार्थ-दुर्वचन को सहन करना कठिन है, सच्चे सन्त दुर्वचन के घाव को भुला देते हैं, इसलिये वे पूज्य होते हैं।

मूल—

मुहुत्तादुक्खा हु हवंति कंटया,अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरूत्ताणि दुरूद्धराणि, वेराणुबंधोणि महब्भयाणि ॥७॥

हिन्दी पद्य—

क्षणभर के दुःखद लोह कंट, जो सहज दूर हो सकते हैं।
दुर्वचन-कंट से मुक्ति कठिन, वैरानुबंध भय करते हैं॥

अन्वयार्थ—

अओमया=लोहे के। कंटया=कांटे। मुहुत्तदुक्खा=मुहूर्त भर के लिये दुःखदायी। हवंति=होते हैं। तेवि=और वे। तओ=उस अंग से। सुउद्धरा=सहज निकाले भो जा सकते हैं किन्तु। वाया दुरुत्ताणि=वाणी के कटु वचन। दुरुद्धराणि=निकालने कठिन होते। वेराणुबंधिणि=हैं वैरानुबंधी - वैर की परम्परा को वढ़ाने वाले। महब्भयाणि=अत्यन्त भयंकर होते हैं।

भावार्थ—

दुर्वचन और लोह के वाणों की तुलना की जाय तो प्रतीत होगा कि लोह के तीखे कांटे केवल मुहूर्त भर के लिये दुःखदायी होते हैं, फिर वे शरीर से कुशल चिकित्सक द्वारा निकाले भी जा सकते हैं, किन्तु वचन के कटु शब्द सरलता से निकाले नहीं जा सकते, फिर वे दुर्वचन वैर विरोध को वढ़ाने वाले और अति भयंकर होते हैं।

मूल—

समावयंता वयणाभिघाया, कण्णं-गया दुम्मणिअं जणंति ।
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहइ स पुज्जो ॥

हिन्दी पद्य—

दुश्शब्द-घात कानों में जब, होते मन मलिन बनाते हैं ।
शूराग्र दान्त जो धर्म समझ, सहते वे पूज्य कहाते हैं ॥

अन्वयार्थ—

समावयंता=सामने आते हुए। वयणाभिघाया=वचन के प्रहार। कण्णं गया=कर्ण गत होने पर। दुम्मणिअं=दौर्मनस्यभाव। जणंति=उत्पन्न करते हैं। जो जिइंदिये=जो जितेन्द्रिय पुरुष। धम्मुत्ति=सहन करना धर्म है। किच्चा=ऐसा समझ कर। सहइ=सहन करता है वह। पुज्जो=लोक में पूज्य है।

भावार्थ—

संसार में कई प्रकार के शूर होते हैं। शास्त्र में चार प्रकार के शूर कहे गये हैं- जैसे युद्ध शूर, दान शूर, तप शूर, धर्म शूर। जो ज्ञान भाव से नाना विध कष्टों को सहन कर लेते उनको धर्म शूर कहते हैं। परमपद-मोक्ष की प्राप्ति के लिये सब कुछ सहन कर लेना सरल नहीं है। चूर्णिकार कहते हैं- युद्ध शूर, तप शूर और दान शूर आदि में से जो धर्म श्रद्धा से दुःख को सहन करता है, वह परमाग्र शूर होता है। सब प्रकार के शूरों में वह प्रधानता से उच्च कहा गया है।

मूल—

अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं ।
ओहारिणीं अप्पियकारिणिं च, भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥

हिन्दी पद्य—

जो कभी न आगे या पीछे, बोले निन्दा और दुःख वचन ।
निश्चय एवं अप्रिय भाषा, ना कहे सदा वह पूज्य श्रमण ॥

अन्वयार्थ—

जो=जो मुनि। परम्मुहस्स=पीठ पीछे। अवण्णवायं=अवगुणवाद। च=और। पच्चक्खओ=सामने। पडिणीअं=विरोधी। भासं=भाषा।

न भासेज्ज = नहीं बोलता । ओहारिणिं = निश्चय कारिणी । अप्पिय-कारिणिं=और अप्रीति बढ़ाने वाली । भासं=भाषा । सया=सदा । न भासिज्ज=नहीं बोलता । स=वह । पुज्जो=लोक पूज्य होता है ।

भावार्थ—

धर्म के लिये जैसे दुर्वचनों की सहिष्णुता आवश्यक है, वैसे वाणी का संयम भी आवश्यक है । अत: कहा है कि जो मुनि पीठ पीछे किसी के अवर्णवाद और प्रत्यक्ष में विरोधी भाषण नहीं करता, फिर ऐसा करूंगा ही, आदि निश्चय कारिणी और अप्रीति वर्द्धक भाषा कभी नहीं बोलता सदा वाणी पर संयम रखता है, वह पूज्य होता है । लोक नीति में कहा है कि– परापवाद बोलने में मूक बन जाओ और निन्दा को सुना-अनसुना कर जाओ ।

▭

मूल—

अलोलुए अक्कुहए अमाई, अपिसुणे यावि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भावियप्पा, अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ।।

हिन्दी पद्य—

अकुहक अलोलुप कपट शून्य, पैशून्य तथा जो दैन्य रहित ।
करता न कराता निज श्लाघा, कौतूहल वर्जित पूज्य कथित ।।

अन्वयार्थ—

अलोलुए=जो रस का लोलुपी नहीं होता । अक्कुहए=तांत्रिक प्रयोग आदि कुतूहल नहीं करता । अमाई=निष्कपट । अपिसुणे=चुगली नहीं करता । अदीणवित्ती=और लाभालाभ में दीनता प्रगट नहीं करता । णो भावए=दूसरे से अपनी महिमा नहीं कराता । नो य भावियप्पा=स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करता । य=और । सया=सदा । अकोउहल्ले=कुतूहल भाव रहित होता है । स=वह । पुज्जो=लोक में पूज्य होता है ।

भावार्थ—

संसार में वही साधु पूज्य है जो रसना पर विजय करता है, लोलुपी नहीं है । जादूगर की तरह संसार को खेल दिखाकर प्रभावित नहीं करता, कभी माया और चुगली नहीं करता तथा दीन भाव रहित रहता है । दूसरों से अपनी महिमा नहीं कराता और न स्वयं आत्म-श्लाघा करता है, वह खेल-क्रीडादि कुतूहल रहित निरुत्सुक पुरुष ही लोक में पूज्य होता है ।

मूल—

गुणेहि साहू अगुणेहि ऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

हिन्दी पद्य—

गुण से साधु असाधु अगुण से, साधु-गुणों को ग्रहण करो ।
तज दोषों को जानो निज को, राग द्वेष सम भाव धरो ॥

अन्वयार्थ—

गुणेहि=गुणों से । साहू=साधु होता और अगुणेहि=दुर्गुणों से । असाहू =असाधु होता है । साहूगुण=साधु के गुणों को । गिण्हाहि=ग्रहण कर । असाहू मुंच=असाधु के दुर्गुणों को छोड़ दें । अप्पएणं=अपने से । अप्पगं= अपनी आत्मा को । वियाणिया=जानकर । जो=जो । रागदोसेहिं=राग और द्वेष के प्रसंग में । समो=सम रहता है । स=वह । पूज्य=पूज्य है ।

भावार्थ –

वेष से कोई साधु नहीं होता । साधुता का सम्बन्ध साधना के गुणों से है, जो संयम के गुणों का पालन करता है वह साधु है, अवगुणों से असाधु कहलाता है । इसलिए कल्याणार्थी को कहा कि साधु - गुणों का ग्रहण कर और संयम विरोधी दुर्गुणों का परित्याग कर, इस प्रकार जो आत्मा से आत्मा को पहचान कर, राग द्वेष के निमित्तों में समभाव रखता है, वह लोक में पूज्य होता है । वेष तो कई बार धारण किया है, आवश्यकता है, वेष के अनुरूप करणी की । कहा भी है–"बाना बदले सौ-सौ बार । बान बदले तो खेवो पार ।"

मूल—

तहेव डहरं व महल्लगं वा, इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

हिन्दी पद्य—

वैसे जो बाल वृद्ध महिला, नर संयत और असंयत को ।
है पूज्य वही निन्दा खिसा, अभिमान क्रोध को तज देखो ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे-साधु-असाधु की तरह जो। डहरं=बालक। महल्लगं=वृद्ध। इत्थीपुमं=स्त्री-पुरुष। पव्वइयं=दीक्षित। वा=अथवा। गिहिं=गृहस्थ की। नो हीलए=हीलना नहीं करता। य=और। खिसएज्जा=बार बार निन्दा। णो=नहीं करता, तथा। थंभं च कोहं=अहंकार और क्रोध का। चए=त्याग करता है। स=वह। पुज्जो=लोक में पूज्य होता है।

भावार्थ—

साधु का प्राणि मात्र से मैत्रीभाव होता है, इस दृष्टि से प्रभु ने कहा कि जो साधु बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, प्रव्रजित-दीक्षित या गृहस्थ किसी की हीलना नहीं करता, बार-बार निंदा भी नहीं करता, सबको आत्मवत् समझकर न किसी से अहंकार करे और न ही किसी पर क्रोध करें, वह संसार में पूज्य होता है। ऐसे संत का किसी से विरोध नहीं होता और उसका भी कोई विरोधी नहीं होता।

८

मूल—

जे माणिआ सययं माणयंति, जत्तेण कण्णं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो॥

हिन्दी पद्य—

पा मान सतत सन्मान करे, सत्कुल में पुत्रीवत् आगे कर।
है पूज्य दान्त और सत्यलीन, जो मान्यों का मान करे बढ़कर॥

अन्वयार्थ—

जे=जो शिष्य। माणिआ=मान्य पुरुषों का। सययं=नित्य। माणयंति=सम्मान करते हैं अथवा शिष्यों द्वारा मान प्राप्त आचार्य शिष्यों को श्रुत-ग्रहण आदि से सम्मानित करते हैं, योग्य पिता। व=जैसे। कण्णं=कन्या को। निवेसयंति=अच्छे कुल में पहुँचाते वैसे आचार्य। जत्तेण=यत्न पूर्वक शिष्यों को साधना में नियुक्त करते हैं। माणरिहे=सम्मान योग्य। जिइंदिए=जितेन्द्रिय। तवस्सी=तपस्वी और। सच्चरए=सत्यरत गुरुओं का। माणए=सम्मान करता है। स=वह। पुज्जो=लोक में पूज्य है।

भावार्थ—

विनय का लाभ समझकर शिष्य गुरुजनों का मान करते है, शिष्यों द्वारा सम्मानित गुरु भी उनको शास्त्र ग्रहण आदि से योग्य बनाते और

माता-पिता जैसे यत्न पूर्वक कन्या को योग्य बनाकर अच्छे कुल में स्थापित करते हैं, वैसे गुरु शिक्षा एवं संस्कार से अलंकृत शिष्य को श्रेष्ठ मार्ग में स्थित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी और जितेन्द्रिय तथा सत्यरत गुरु का जो हृदय से सम्मान करता है, वह पूज्य है !

मूल—

तेसिं गुरूणं गुणसागराणं, सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो, चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१४॥

हिन्दी पद्य—

उन गुण सागर आचार्यों के, मेघावी सुनकर सुघड़ वचन।
जो पंच महाव्रत रत त्रिगुप्त, क्रोधादि रहित वह पूज्य श्रमण ॥

अन्वयार्थ—

मेहावि=जो मेधावी। तेसिं=उन। गुणसागराणं=गुणसागर। गुरूणं=गुरुजनों के। सुभासियाइं=सुभाषित वचनों को। सोच्चाण=सुनकर। चरे=चलता है। पंचरए=पांच महाव्रतों में रत। तिगुत्तो=और तीन गुप्तिओं से गुप्त। मुणी=मुनि। चउक्कसायावगए=क्रोध आदि चार कषायों से अलग दूर रहता है। स=वह। पुज्जो=लोक में पूज्य है।

भावार्थ—

प्रगतिशील, विनीतशिष्य–गुणसागर गुरुओं के सुभाषित वचनों को सुनकर इधर से उधर नहीं निकालता, किन्तु गुरु के उपदेशानुसार आचरण करता है, पांच महाव्रतों में रत, मन-वचन-काय गुप्ति से गुप्त और क्रोध आदि चार कषायों को दूर करता–तदनकूल आचरण करता है, वह पूज्य है !

मूल—

गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी, जिणमयनिउणे अभिगमकुसले
धुणिय रयमलं पुरेकडं, भासुरमउलं गइं गओ ॥त्तिबेमि।१५।

हिन्दी पद्य—

कर गुरुपद सेवन सतत साधु, हो जिनमत निपुण अतिथि पूजक।
कर नष्ट पूर्वकृत रजमल को, हो दिव्य अतुल पद का पालक ॥

अन्वयार्थ—

इह=इस लोक में। गुरुं=गुरुदेव की। सययं=निरन्तर। पडियरिय=सेवा करके। जिणमय निउणे=जिनमत में निपुण और। अभिगम कुसले=विनयाचार में कुशल। मुणी=मुनि। पुरेकडं=पूर्वकृत। रयमलं=कर्म-मल को। धुणिय=शिथिल कर-कंपित करके। भासुरं=प्रकाशमान। अउलं=अनुपम-श्रेष्ठ। गइं=गति को। गओ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

उपदेश के अनुसार चलने का लाभ बताते हैं–इस लोक में गुरुदेव की सतत सेवा करने वाला मुनि जिनमत में निपुण और विनयाचार में जो कुशल होता है, वह पूर्वकृत कर्म रज को आत्मा से अलग करके प्रकाशमान अतुल–सिद्धि गति को प्राप्त करता है! उसको भवसागर में फिर भटकना नहीं पड़ता!

ऐसा मैं कहता हूँ!

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

नौवां अध्ययन

चतुर्थ उद्देशक

तीसरे उद्देशक में बतलाया कि विनीत पूज्य होता है, अब चतुर्थ उद्देशक में विनय आदि चार समाधि स्थानों का वर्णन करते हैं–

मूल—

१. सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणय-समाहि-ट्ठाणा पन्नत्ता ।।

२. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहि चत्तारि विणयसमाहि-ट्ठाणा पन्नता ।।

३. इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहि-ट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा–

४. विणयसमाही, सुयसमाही, तवसमाही, आयारसमाही ।

हिन्दी पद्य—

१. हे शिष्य ! कहा उस प्रभु ने यह, जिसको है मैंने सुना यहां ।
उस स्थविर पूज्य ने निश्चय से, हो विनय शांति पद चार कहा ।।

२. हे भदन्त ! वे कौन चार ? प्रभु ने शुभ स्थान बताये है ।
विनय समाधि संज्ञा नाम से, स्थविरो के द्वारा गाये है ।।

३. निश्चय विनय समाधि के ये, स्थविरो ने पद बतलाए ।
सूत्र विनय, तपरूप और, आचार चतुर्थ कह कर गाये ।।

अन्वयार्थ—

१. आउसं=हे आयुष्मन् । मे=मैंने । तेण=उस । भगवया=भगवान महावीर द्वारा । एवमक्खायं=ऐसा कहा गया । सुयं=सुना है । इहखलु=

निश्चय कर इस जिनशासन में । थेरेहिं=स्थविर । भगवन्तेहिं=भगवन्तो ने । चत्तारि=चार प्रकार की । विणयसमाहि=विनय समाधि के । ट्ठाणा पन्नत्ता=स्थान कहे है !

२. ते=वे । कयरे=कौन से । थेरेहिं भगवंतेहिं=निश्चय स्थविर भगवन्तों द्वारा । चत्तारि=चार प्रकार के । विणय ट्ठाणा=विनय स्थान । पन्नता=कहे गऐ हैं ।

३. इमे खलु=वे समाधि के स्थान । थेरेहिं भगवंतेहिं=स्थविर भगवन्तों ने । चत्तारि=चार । समाहिट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा=समाधि स्थान ये कहे हैं ।

४. जैसे कि–

१. विणयसमाहि=विनय-समाधि । २. सुयसमाहि=श्रुत-समाधि । ३. तवसमाहि=तप समाधि और । ४. आयारसमाहि=आचार-समाधि ।

भावार्थ—

ये चार समाधि स्थान हैं !

भाव स्पष्ट होने से लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

मूल—

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चं पंडिया ।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिया ॥१॥

हिन्दी पद्य—

जो नित्य जितेन्द्रिय और प्राज्ञ, श्रुत विनयाचार तथा तप में ।
होते वे करते सुप्रसन्न, अपनी आत्मा को इस जग में ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो । जिइंदिया=जितेन्द्रिय साधु । विणये=विनय में । सुए=श्रुत में । तवे=तप में । अ आयारे=और आचार में । निच्चं=सदा । अप्पाणं=अपनी आत्मा को । अभिरामयंति=लगाये रहते है । पंडिया-भवंति=वे पण्डित होते हैं ।

भावार्थ—

सिद्धान्त अनुकूल पण्डित वे मुनि हैं, जो जितेन्द्रिय होकर विनय में, श्रुत में, तप में, और पंचविध आचार में सदा आत्मा को रमाये रखते हैं ।

चतुर्विध समाधि में रमण करने वाले मुनि कभी अशान्ति अनुभव नहीं करते ।

विनय समाधि के भेद और उसका स्वरूप बतलाते हैं-

मूल—

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा-
१. अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ २. सम्मं संपडिवज्जइ ३. वेयमाराहयइ ४. न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ! चउत्थं पयं भवइ ! भवइ य इत्थ सिलोगो !

हिन्दी पद्य—

विनय समाधि निश्चय पूर्वक, है चार रूप कैसे कहे गए।
पहला गुरु आदेश श्रमण, सादर वे जैसे बोल गए ॥
प्रमुदित मन गुरु आज्ञा पालन, वैसा ही करता आराधन।
आत्म प्रशंसा मूलक अपने, बारे में ना कहे वचन ॥

अन्वयार्थ—

विणयसमाही=विनय समाधि। खलु चउव्विहा=निश्चय से चार प्रकार की। भवइ=होती है। तंजहा=जैसे कि । अणुसासिज्जंतो=शिक्षा प्राप्त करते हुए। सुस्सूसइ=सेवा करना। सम्मं संपडिवज्जइ=गुरु वचनों का सम्यक् प्रकार से ग्रहण, एवं धारण करना। वेयमाराहयइ=आज्ञा का पालन करना और। भवइ अत्तसंपग्गहिए=ज्ञान पाकर गर्व नहीं करना। चउत्थं पयं भवइ=यह चतुर्थ पद है। भवइ य इत्थ सिलोगो=यहां एक श्लोक है, जो इस प्रकार है-

भावार्थ—

भावार्थ गाथा के साथ समझना चाहिये !

मूल—

पेहेइ हियाणुसासणं, सुस्सूसई तं च पुणो अहिट्ठए।
ण य माणमएण मज्जइ, विणयसमाहि आययट्ठिए।२। सूत्र ४

हिन्दी पद्य—

विनय समाधि में मोक्षार्थी, हित-वचन-श्रवण इच्छा करता।
शुश्रूषा, आचार शुद्धि, मद-मान मध्य में ना बहता॥

अन्वयार्थ—

आययट्ठिए=मोक्षार्थी मुनि। विणयसमाहि=विनय समाधि में। हियाणुसासणं=हितकारी अनुशासन को। पेहेइ=इच्छा करता। च=और। तं=उसका। सुस्सूसई=श्रवण करता। पुणो=फिर। अहिट्ठए=आज्ञा पालन करता। य=और। ण माणमएण मज्जइ=ज्ञान के मद से उन्मत्त नहीं होता है।

भावार्थ—

ज्ञानार्थी के लिये गाथा में चार बातें आवश्यक बताई गई है। जैसे-१. गुरुदेव से हित शिक्षा सुनने की इच्छा करना, २. प्रेम से श्रवण कर ग्रहण करना, ३. फिर उस पर आचरण करना, और ४. ज्ञान के मद से उन्मत्त नहीं होना, इन चार कारणों से विनय समाधि का धारण होता है, उसका ज्ञान वर्धमान रहता है।

▭

मूल—

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ तंजहा—

१. सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। २. एग्गग-चित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ३. अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ४. ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

हिन्दी पद्य—

श्रुत-समाधि के चार भेद, वे इस प्रकार होते जैसे।
होंगे शास्त्र प्राप्त हमको, इसलिए पाठ्य वे हैं हमसे॥
पर को भी दृढ़ कर दूंगा, मैं संयम पथ में दृढ़ रहकर।
अतएव अध्ययन करना है, स्वाध्याय यज्ञ में रत रहकर॥

अन्वयार्थ—

खलु=निश्चयकर । सुयसमाही=श्रुत समाधि । चउव्विहा=चार प्रकार की । भवइ=होती है । तंजहा=जैसे कि । मे सुयं भविस्सइत्ति=मुझे आचारांग आदि श्रुत का लाभ होगा, इसलिए । अज्झाइयव्वं भवइ=अध्ययन करना है । एगग्गचित्तो=मैं एकाग्र चित्त । भविस्सामित्ति=होऊंगा, ऐसा समझ कर । अज्झाइयव्वं भवइ=अध्ययन करना । अप्पाणं=मैं । ठावइस्सामित्ति=धर्म में स्थित होकर । परं=दूसरों को भी । ठावइस्सामित्ति=स्थिर करूंगा इसलिये । अज्झाइयव्वं भवइ=अध्ययन करना । चउत्थं पयं भवइ=यह चतुर्थ पद होता है । इत्थ सिलोगो भवइ=यहा श्लोक भी है, वह इस प्रकार हैं ।

भावार्थ—

भाव गाथा के साथ समझना चाहिये ।

मूल—

नाणमेगग्गचित्तो य, ठिओ ठावयई परं ।
सुयाणि य अहिज्जित्ता, रओ सुयसमाहिए ।३। सूत्र ५

हिन्दी पद्य—

स्थिर रह पर को दृढ़ करता, पा ज्ञान बनाकर शांत हृदय ।
शास्त्रों को पढ़ रत रहता है, श्रुत समाधि में साधु हृदय ॥

अन्वयार्थ—

सुयसमाहिए=श्रुत समाधि में । रओ=रमण करने वाला । नाणमेगग्गचित्तो=प्रथम ज्ञान प्राप्त करता फिर एकाग्र चित्त होता । ठिओ=ज्ञान से स्वयं स्थिर होता । परं=दूसरे को । ठावयई=धर्म में स्थिर करता । सुयाणि=इस प्रकार शास्त्रों को । अहिज्जित्ता=पढ़कर-ये ४ लाभ प्राप्त करता है ।

भावार्थ—

लौकिक अध्ययन से जैसे साक्षरता, अर्थ लाभ, स्थान लाभ, वक्तृत्व आदि प्राप्त होते हैं, शिक्षार्थी नौकरी या अर्थ लाभ के लिये पढ़ता है ! किन्तु सम्यक् श्रुत के शिक्षण से चार लाभ होते हैं-प्रथम-अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, २. मन की एकाग्रता होती है, ३. धर्म में स्थित होता है ! और

४. पर को भी स्थिर करता है ! इस प्रकार श्रुत समाधि में रत रहने वाला इन चार लाभों को प्राप्त करता है।

▭

मूल—

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ तंजहा—१ नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, २. नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, ३. नो कित्तिवण्ण-सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ४. नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—

विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराण पावगं; जुत्तो सया तवसमाहिए।४।सूत्र ६

हिन्दी पद्य—

तप-समाधि के चार भेद, वे इस प्रकार होते जैसे।
लोक-लब्धि लाभेच्छा वाला, कोई भी तप नहीं करे॥
सुरपुर भोग वासना वश हो, मुनि जन तप को ना ही करे।
या न करे तप सुयश हेतु, पर कर्म निर्जरा हेतु करे॥
तज आशा निर्जरा हेतु, जो नित्य विविध गुण तप में रत।
संचित पाप तप नष्ट करे, उसका जो तप में सदा निरत॥

अन्वयार्थ—

तवसमाही=तप समाधि। खलु=निश्चय। चउव्विहा=चार प्रकार की। भवइ=होती है। तंजहा=जैसे। इहलोगट्ठयाए=इस लोक के सुख के लिये। तवं नो=तप नहीं। अहिट्ठेज्जा=करे। परलोगट्ठयाए=परलोक में दिव्य सुख के लिये। तवं नो=तप नहीं। अहिट्ठेज्जा=करें। कित्ति-वण्ण-सद्द सिलोगट्ठयाए=कीर्त्ति, वर्ण, शब्द, और श्लोक के लिए। तवं नो अहिट्ठेज्जा=तप नहीं करे। नन्नत्थ निजरट्ठयाए=निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजन से। तवं न अहिट्ठेज्जा=तप को नहीं करे। चउत्थं पयं भवइ=यह चौथा पद होता है।

अन्वयार्थ—

कीर्ति-वर्ण-आदि का स्पष्टीकरण-

कित्ति=कीर्त्ति-लोक में गुण कीर्त्तन । वण्ण=वर्ण-सर्व जन व्यापी यश । सद्द=शब्द-लोक में प्रसिद्धि । सिलोग=श्लोक-गांव भर में श्लाघा ।

गाथा ४ का अन्वयार्थ—

विविहगुण=विविध गुण वाले । तवोरए=तप में जो सदा रत रहता । निरासए=पौद्गलिक फल की इच्छा रहित, और । निज्जरट्ठिए=निर्जरा का अर्थी । भवइ=होता है, वह । निच्चं=सदा । तवसमाहिए जुत्तो=तप समाधि में लगा रहने वाला । तवसा पुराणपावगं=तपस्या से संचित पाप कर्मों को । धुणइ=आत्मा से अलग कर लेता है ।

भावार्थ—

लोग पुत्र लाभ, भोग लाभ, राज्य लाभ आदि के लिए तप करते हैं किन्तु शास्त्रकार ने इस प्रकार किये जाने वाले तप को समाधि का कारण नहीं माना । कारण वहां संकल्प विकल्प बना रहता है । यह धर्म-तप इन सब आकाक्षाओं से परे होता है अत; यह समाधि स्थान है । जो फल की प्राप्ति की कामना विना तप करता है उसका यह लोक और परलोक दोनों पवित्र होते हैं । सूत्र के भाव को एक श्लोक से इस प्रकार कहा गया है ।

श्लोक का भाव—

जो साधक सर्वदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला और पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होकर केवल निर्जरा का अर्थी होता है ! तप द्वारा वह संचित पुराने कर्मो का नाश करता है और तप-समाधि में सदा प्रेम से लगा रहता है ।

मूल—

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा–1. नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, २. नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, ३. नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, ४. नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयार-महिट्ठेज्जा ! चउत्थं पयं भवइ । भवइ य इत्थ सिलोगो–

हिन्दी पद्य—

आचार समाधि के चार भेद, निश्चय होते हैं इस जग में।
इस लोक लाभ के हेतु नहीं, आचार शान्ति देता जग में।।
परलोक हेतु भी ना पाले, ना कीर्त्ति आदि के हित पालें।
जिन कथित हेतु से बाह्य कहीं, आचार समाधि नहीं पालें।।

अन्वयार्थ—

आयारसमाही=आचार-समाधि। खलु=निश्चय। चउव्विहा=चार प्रकार की। भवइ तंजहा=होती है जैसे कि। इहलोगट्ठयाए=इस लोक के सुख हेतु। नो आयारमहिट्ठेज्जा=आचार पालन नहीं करता। परलोगट्ठयाए=परलोक की दिव्य सम्पदा के लिये भी। नो आयारमहिट्ठेज्जा=आचार पालन नहीं करता। कित्तिवण्ण सद्दसिलोग=कीर्त्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक हेतु भी। नो आयारमहिट्ठेज्जा=आचार पालन नहीं करता। नन्नत्थ आरहंतेहि हेऊहिं=जिनदेव कथित हेतुओं के अतिरिक्त। न आयारमहिट्ठेज्जा=आचार का पालन नहीं करता; यह चौथा पद है। इत्थ सिलोगो य भवइ=इस प्रसंग का भाव एक श्लोक से इस प्रकार कहते है।

भावार्थ—

मुमुक्षु साधक के व्रत–नियमादि आचरण लौकिक सुख या यश कीर्त्ति की कामना स नहीं होते! इन्द्रिय सुख और भोग के मनहर साधनों को तो वह नश्वर–क्षण स्थायी मानकर पहले से ही त्याग चुका है, इसलिये उसके आचरण शास्त्रानुमोदित संवर–निर्जरा से आत्म शुद्धि के लिये ही किये जाते हैं! उसका लक्ष्य इस प्रकार होता है, जैसे–१. इस लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिये। २. परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिये। ३. कीर्त्ति, वर्ण, शब्द, और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिये। जिनेन्द्र कथित हेतु के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना, यह चतुर्थ पद है, और यहां पर एक श्लोक है–

मूल—

जिणवयणरए अंतितिणे, पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयार समाहि-संवुडे, भवइ य दंते भावसंधए।।५।। सूत्र ७।।

हिन्दी पद्य—

जिनवाणी रत ना तितिन भाषी, अत्यन्त मोक्ष का अभिलाषी ।
आचार समाधि से संवृत्त जो, होता है दान्त विनय-भाषी ॥

अन्वयार्थ—

जिणवयणरए=जो, जिन वचनों में रमण करने वाला । अंतितिणे= प्रलाप नहीं करता । आययट्ठिए=वह मोक्षार्थी । पडिपुण्णाययं=शास्त्रीय तत्वों को भलीभांति जानकर । आयार समाहि=आचार समाधि में । दंते=जितेन्द्रिय । संवुडे=इन्द्रिय और मन का संवरण करने वाला । भावसंधए भवइ=आत्मा के शुद्ध भाव को जोड़ने वाला होता हैं ।

भावार्थ—

कल्याण साधन को प्रबल इच्छा वाला साधक जिन वचनों में लीन और अप्रिय-कटु शब्दों का परित्याग करने वाला आचार समाधि से इन्द्रिय एवम् मन का संयम कर लेता है, वह जितेन्द्रिय मोक्ष मार्ग को निकट करता है । टूटती हुई भावनाओं को जोड़कर उदय भाव से क्षायिक भाव की ओर बढ़ने में गतिशील रहता है । आचार पालन में इस लोक व परलोक के पौद्गलिक सुख का लक्ष्य नहीं होने से साधक संकल्प-विकल्प के चक्कर से मुक्त रहकर भव मार्ग से हटकर शिव मार्ग में बढ़ जाता है ।

मूल—

अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ ।
विउलहिअं सुहावहं पुणो, कुव्वइ सो पयखेममप्पणो ॥६॥

हिन्दी पद्य—

कर ज्ञान समाधि स्थानों का, निर्मल विशुद्ध आत्मावाला ।
सुखदायी विपुल लाभ करके, फिर होता आत्म-क्षेम वाला ॥

अन्वयार्थ—

चउरो=चारों । समाहिओ=समाधियों को । अभिगम=जानकर जो सुविसुद्धो=विशुद्ध चित्त वाला । य=और । सुसमाहिअप्पओ=संयम से स्वस्थ विचारक अपने । विउलहिअं=पूर्ण हितकारी । सुहावहं=सुखदायी । खेमं पयं=कुशल पद को । कुव्वइ=फिर सिद्ध कर लेते है ।

भावार्थ—

उपरोक्त चारों समाधियों को जानकर शुद्ध भाव वाले, साधकों का मात्र एक ही लक्ष्य होता है कि जितना हो सके, इस अनित्य शरीर से अविनाशी सदा सुखदायी शिवपद की साधना कर ली जाय । यही चरम और परम इष्ट तत्त्व है ।

मूल—

जाइमरणाओ मुच्चई, इत्थंथं च चयइ सव्वसो ।
सिद्धे वा भवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए ।७। त्तिबेमि।

हिन्दी पद्य—

जन्म मरण से मुक्त और, पर्याय सकल तजकर मुनिजन ।
होता है शाश्वत सिद्ध देव, या अल्परजो वैमानिक वन ॥

अन्वयार्थ—

इत्थंयं=यहां की नर - नारकादि पर्यायों को । सव्वसो=सर्वथा । चएइ=त्याग करके । जाइ मरणाओ=जन्म मरण से । मुच्चई=मुक्त होता । सासए=शाश्वत काल स्थायी । सिद्धे भवइ=सिद्ध होता । वा=अथवा । अप्परए=अल्प कर्म रज वाला । महिड्ढिए=महर्द्धिक । देवे=देव होता है ।

भावार्थ—

वह नारकादि इन पर्यायों का सर्वथा त्याग करके जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है । कामना नहीं होने से उसको भवभ्रमण नहीं करना पड़ता । वह शाश्वत सिद्ध पद का अधिकारी होता है अथवा अल्प कर्म वाला महर्धिक देव होता है । पौद्गलिक इच्छा, जो भव भ्रमण का कारण है उसके नहीं रहने से उसको साधना में सिद्धि प्राप्त होना सरल होता है । ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ नवम अध्ययन चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

स भिक्खू
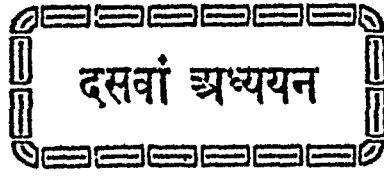
उपक्रम

दसवें अध्ययन का नाम "स भिक्खू" है। 'स भिक्खू' के दो अर्थ किये गये हैं। एक अर्थ है 'सद् भिक्षु' अर्थात् श्रेष्ठ साधु है और दूसरा अर्थ सः भिक्षुः अर्थात् इस अध्ययन में वर्णित गुणों से जो युक्त है वह भिक्षु कहलाता है। केवल भिक्षा मांगने से 'भिक्षु' नहीं हो सकता। अपितु अहिंसक जीवन के निर्वाह के उद्देश्य से जो भिक्षा ग्रहण करता है, वह भिक्षु है। यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

यह अध्ययन इस सूत्र का उपसंहार है। पूर्व वर्णित नौ अध्ययनों में जो आचार गोचर का वर्णन किया गया है उनका पालन करने वाला ही 'भिक्षु' कहलाने का अधिकारी है। केवल उदर पूर्ति के लिये भिक्षा मांगने वाला 'भिक्षु' नहीं है अपितु भिखारी है। भिखारी और भिक्षु का यह भेद-रेखा मननीय है। उत्तराध्ययन सूत्र के १५ वें अध्ययन में भी ऐसा ही विषय है और उसका नाम भी 'स भिक्खू' अध्ययन है। समस्त दशवैकालिक सूत्र का सार इस अध्ययन में समाविष्ट किया गया है। अतः यह अध्ययन इस सूत्र का उपसंहार है। वास्तविक भिक्षु के क्या लक्षण हैं, यह विषय इसमें स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

मूल—

निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं णो पडिआयइ जे स भिक्खू।

हिन्दी पद्य—

गणधर की आज्ञा से मुनि बन, जिनवाणी में मुदित सदा।
नारी के वश न चले साधक, सेवे न पुनः वह भिक्षु कहा॥

अन्वयार्थ—

आणाइ=तीर्थङ्कर की आज्ञा से। णिक्खम=प्रवज्या ग्रहण करके जो बुद्धवयणे=भगवद् वचनों में। निच्चं=सदा। चित्तसमाहिओ=स्वस्थ-शांत मन। हविज्जा=होता है। य=और। इत्थीण=स्त्रियों के। वसं=अधीन। ण गच्छे=नहीं होता। जे=जो। वंतं=त्यागे हुए भोग को। णो पडिआयइ =फिर सेवन नहीं करता। स=वह। भिक्खू=सच्चा भिक्षु है।

भावार्थ -

भिक्षा से जीवन चलाने वाला कोई भी भिक्षु कहलाता है। किन्तु सच्चा भिक्षु वेप से नहीं गुणों से पहचाना जाता है। उसके लिए शास्त्र कहता है– जो वीतराग की आज्ञा से दीक्षा ग्रहण करके जिन वचनों में सदा समाधियुक्त-स्वस्थ चित्त रहता है, जो स्त्रियों के मोहाधीन नहीं होता और त्यागे हुए धन, धान्य एवम् भोगों को फिर ग्रहण करना नहीं चाहता वह भाव भिक्षु है। सूत्रकृतांग के सोलहवें अध्ययन के अनुसार–जो अहंकार रहित, अदीन, नामक और दान्त होता है, व्युत्सृष्टकाय, स्थितात्मा, उपस्थित, परदत्तभोजी, अध्यात्म योग से संयम को शुद्ध रखने वाला है वह भिक्षु होता है।

मूल—

पुढवीं न खणे न खणावए, सीओदगं न पीए पिआवए।
अगणिसत्थं जहा सुणिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू

हिन्दी पद्य—

खोदे न भूमि ना खुदवाए, शीतल जल पिए न पिलवाए।
ना तीक्ष्ण शस्त्र-पावक जारे, न जलवाए भिक्षु कहा जाए॥

अन्वयार्थ—

पुढवीं=सचित पृथ्वी को। न खणे=खोदता नहीं। न खणावए= खुदवाता नही। सीओदगं=ठण्डा जल। न पीए न पिआवए=पीता नही, पिलाता नहीं। सत्थं जहा सुणिसियं=अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र की तरह। तं अगणि=अग्नि है उसको। जे ण जले= जो जलाता नहीं। ण जलावए= जलवाता नहीं। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

जो पृथ्वी-भूमि को स्वयं खोदे नहीं, खुदवाये नहीं । कूप, तालाब नदी और नल आदि के ठण्डे पानी को पीता नहीं, पिलाता नहीं, सुतीक्ष्ण शस्त्र के समान कोयला, विजली एवम् गैस आदि की अग्नि को जो जलावे नहीं और जलवाता नहीं, वह भिक्षु है । करने, करवाने की तरह पृथ्वी आदि के आरम्भ का अनुमोदन भी समझ लेना चाहिये । क्योंकि साधु त्रिकरण त्रियोग से त्यागी होता है ।

मूल—

अनिलेण न वीए न वीआवए, हरिआणि न छिंदे न छिंदावए
बीयाणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ।

हिन्दी पद्य—

ना हवा करे ना करवाए, काटे न हरित ना कटवाए ।
बीजों का त्यागी सतत भिक्षु, जो कभी सचित्त नहीं खाए ।।

अन्वयार्थ—

अनिलेण=वायु से शरीर आदि को । ण वीए=वीजन करता नहीं । न वीआवए=हवा कराता नहीं । हरिआणि=हरित वनस्पति का । न छिंदे =छेदन करता नहीं । न छिंदावए=दूसरों से छेदन करवाता नहीं । सया= सदा । बीयाणि=बीजों के स्पर्श का । विवज्जयंतो=वर्जन करता । सच्चित्तं सचित्त फलादि का । जे=जो । नाहारए=आहार नहीं करता । स=वह । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

जैन दर्शन वनस्पतिकाय को भी सजीव मानता है, इसलिये जैन साधु भूख की खास स्थिति में भी फल-फूल-मूल-कंद आदि किसी भी प्रकार के वनस्पति का भक्षण नहीं करता । सूत्र-कृतांग सूत्र के सप्तम अध्याय में कहा है कि- "हरित वनस्पति सजीव है । मूल, स्कंध, शाखा, पत्र, फल, फूल, आदि में पृथक २ जीव रहते हैं । जो व्यक्ति अपने सुख के हेतु अपने आहार अथवा शरीर पोषण के लिये इनका छेदन करता है, वह धृष्ट

पुरुष, बहुत से प्राणियों का विनाश करता है। जो असंयमी अपने सुख के लिये बीजादि का नाश करता है वह अंकुर की उत्पत्ति और बीज के नाश से फल वृद्धि का विनाश करता है। अतः वह व्यक्ति अपनी आत्मा को दण्डित करता है। प्रत्यक्षदर्शी तीर्थङ्करों ने उसे अनार्य धर्मी कहा है।"※

जो साधु पंखे आदि से स्वयं हवा नहीं करता, दूसरों से वींजना करवाता नहीं। हरित-फल-फूल, पत्ता, शाखा आदि का छेदन करता नहीं, करवाता नहीं, और सदा बीजों के स्पर्श का वर्जन करता तथा सचित्त सजीव पदार्थ का आहार नहीं करता, वही भिक्षु है। साधु के २२ परीषह में कहा गया है- साधु काक की जंघावत् कृष-काय होकर भिक्षा में आहार की मात्रा का ध्यान रखकर अदीन भाव से चलें।

▭

मूल—

वहणं तसथावराण होइ, पुढ़वी तणकट्ठनिस्सिआणं।
तम्हा उद्देसिअं न भुंजे, णो वि पए न पयावए जे स भिक्खू।

हिन्दी पद्य—

त्रस-स्थावर का वध होता है, पृथ्वी तरू-तृण अवलम्ब जिन्हें।
न स्वयं पकाते पकवाते, औद्देशिक त्यागी को भिक्षु कहें॥

अन्वयार्थ—

पुढ़वी=पृथ्वी। तणकट्ठ निस्सिआणं=तृण, और काष्ठ में रहने वाले। तसथावराण=त्रस और स्थावर जीवों का। वहणं=वध। होइ=होता है। तम्हा=इसलिए। जे=जो। उद्देसिअं=साधक के लिए बनाए आहार को। न भुंजे=नहीं खाता। णो वि पए=स्वयं भी न पकाता। न पयावए=नहीं पकवाता। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

अन्य सम्प्रदायों की तरह जैन साधु स्व पाकी नहीं होता, और न अपने लिये बनाये आहार का भी सेवन करता है, क्योंकि भोजन पकाने में पृथ्वी, तृण-जल, कोयले और काष्ठ में रहने वाले अनेकों स्थावर जीवों का

टिप्पणी- ※ हरिताणि भूताणि विलंबगाणि, आहार देहाइं पुढो सिताइं।
जे छिंदतो आतसुहं पडुच्चा पागब्भि, पाणे वहुणं तिवाती।८॥
जातिं चं वुड्ढि च विणासयंते, बीयादि असंजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्ज धम्मे, वीयादि जे हिंसति आयसाते॥९॥
सूत्र. अ. ७। गा०

प्रत्यक्ष वध होता है, इसलिये साधु भोजन पकाता नहीं, और पकवाता नहीं तथा साधु के लिये बनाया गया औद्देशिक भोजन का सेवन-भक्षण भी नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है ! औद्देशिक की तरह जैन मुनि आधा-कर्मी आहार भी सेवन नहीं करता, यह जैन भिक्षु का आचार है ।

▭

मूल—

रोइअ णायपुत्तवयणे, अत्तसमे मण्णिज्ज छप्पिकाए ।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥५॥

हिन्दी पद्य—

जो वीर वचन में श्रद्धा कर, षट्काय जीव निज सम जाने ।
है पंच महाव्रत के सेवी, और दान्त भिक्षु उनको माने ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो । णायपुत्तवयणे=ज्ञात-पुत्र महावीर के वचनों में । रोइअं=रुचि-प्रीतिकर के । छप्पिकाए=छहों काय के जीवों का । अत्तसमे=अपने समान । मणिज्ज=मानता है । य=और । पंच महव्वयाइं=पांच महाव्रतों का । फासे=तन से स्पर्शना करता । पंचासव=पांच आश्रवों का । संवरे=निरोध करता है । स=वह । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

जो वर्तमान धर्म-शासन के अधिपति भगवान महावीर के वचनों में रुचि तथा श्रद्धा करता और छहों काय—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों को आत्मवत् समझता है ! पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करता, शब्द रूपादि ५ इन्द्रिय विषयों का तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और अशुभ योग रूप आश्रवों का निरोध करता है, वही भिक्षु है ।

▭

मूल—

चत्तारि वमे सया कसाए, धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहि जोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥

हिन्दी पद्य—

जो चार कषाय सतत छोड़े, जिनवाणी में हो निश्चल मन ।
वह भिक्षु, न प्रेम गृहस्थों से, जो रजत स्वर्ग से रहित अधन ॥

अन्वयार्थ—

चत्तारि=चार। कसाए=कषायों का। सया=सदा। वमे=परित्याग करता। य बुद्धवयणे=और जिनराज के वचन में। धुवयोगी=ध्रुवयोगी। हवेज्ज=होता है। अहणे=अधन-विना धन के। निज्जायरूवरयए=सोना-चांदी रहित है। गिहिजोगं=क्रय-विक्रय आदि गृहस्थ के कार्य का। परिवज्जए=वर्जन करने वाला है। स भिक्खू=वह भिक्षु है।

भावार्थ—

जैन साधु-आरम्भ-परिग्रह का सम्पूर्ण त्यागी और वीतराग भाव का उपासक होता है, उसके तन-मन और वाणी के व्यवहार सदा संयम भाव में प्रमाद रहित होने चाहिये! स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, आदि निरवद्य कार्य में स्थिर योगी होता है। इसीलिये कहा है कि जो क्रोध, मान, माया एवं लोभ का परित्याग करता और क्रय विक्रय आदि गृहस्थ के कार्य का सदा वर्जन करता, वही भिक्षु है।

८

मूल—

सम्मदिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू॥

हिन्दी पद्य—

नित्य अमूढ़ सम्यग् दृष्टि, जो रहे ज्ञान तप संयम में।
तप द्वारा पूर्व-पाप क्षयकर, संवृत-त्रियोग भिक्षु जग में॥

अन्वयार्थ—

जे सम्मदिट्ठी=जो सम्यग् दृष्टि। सया=सदा। नाणे=ज्ञान-वाचना आदि। तवे संजमे य=तप और संयम में। अमूढे=अमूढ़-अर्थात् जागृत है। तवसा=तपस्या से। पुराणपावगं=प्राचीन संचित पाप कर्मों का। धुणइ=कंपित-अलग करता है। मणवयकाए=मन वचन और काया से। सुसंवुडे=गुप्त है। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

साधु की दिन-चर्या का वर्णन करते हुए कहा है कि-सम्यग् दृष्टि साधक सदा ज्ञान, तप और संयम के सम्बन्ध में विवेक से चलता है, मन, वाणी, और काय योग की चंचलता कर्म ग्रहण में प्रमुख कारण है, इसी से शुभाशुभ कर्म आते है, अतः मुमुक्षु अशुभ योग को रोककर शुभ में और शुभ

से शुद्ध की ओर बढ़ता है, और निर्दोष तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है, वही सच्चा भिक्षु है।

मूल—

तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही अशन पान अथवा, जो विविध स्वाद्य खादिम पाए।
होंगे मतलब कल या परसो, भिक्षु न रक्खे रखवाए ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही। असणंपाणगं=अन्न आदि, पान-जलादि। विविहं=अनेक प्रकार के। खाइम=खाद्य-मिष्ठान्न आदि। वा साइमं=अथवा स्वाद्य, चूर्ण, लवंग, सोपारी आदि को। लभित्ता=प्राप्त करके। सुए सा=कल या, परे=परम दिन यह। अट्ठो होही=काम आवेगा, ऐसा सोचकर। तं जे=उसको, जो। न निहे=पास में रखता नहीं। न निहावए=रखाता नहीं। स भिक्खू=वह भिक्षु है।

भावार्थ—

जैन साधु परदत्तभोजी होता है, विहार चर्या में भिक्षा प्राप्त नहीं होने से उसे भूखा रहना पड़ता है। वैसे प्रसंग में अशन-पान, मेवा-मिष्ठान्न और स्वाद्य पदार्थों को इच्छानुसार प्राप्त करके जो भविष्य की इस कल्पना से कि कल या परम दिन यह काम आवेगा, इस विचार से उस अन्नादि को जो अपने पास रखता नहीं और रखाता नहीं, वही सच्चा भिक्षु है।

मूल—

तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम साइमं लभित्ता।
छंदिअ साहम्मिआण भुंजे, भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥

हिन्दी पद्य—

वैसे ही अशन पान अथवा, जो विविध स्वाद्य खादिम पायें।
खाये सार्धमिक संग बांट, खा पढ़े भिक्षु वह कहलायें ॥

अन्वयार्थ—

तहेव=वैसे ही । असणं पाणगं=अशन, पान । वा=अथवा । विविहं=अनेक प्रकार के - खाइम साइमं=खाद्य-स्वाद्य-सोपारी-चूर्ण आदि को । लभित्ता=प्राप्त करके । जे साहम्मिआण=जो स्वधर्मियों का । छंदिअ=निमन्त्रण करके । भुंजे=खाता है । भुच्चा=खाकर । सज्झायरए=स्वाध्याय में रमण करता । स=वह । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

साधु साधना शील होता है, वह स्वाद्य (स्वाद) प्रिय नहीं होता, भिक्षा में इच्छानुकूल अशन-पान-स्वादिष्ट-मेवा मिष्टान्न, और मुख शुद्धि के पदार्थ पाकर भी स्वधर्मी साधु मण्डल को प्रथम निमन्त्रण करता, फिर उनको देकर स्वयं खाता है, और खा-पीकर-स्वाध्याय, ध्यान में लीन रहता है, वही भिक्षु है । आत्मार्थी साधु-स्वस्थ दशा में खा-पीकर सुखपूर्वक नींद नहीं निकालता, कारण इस प्रकार प्रमाद बढ़ाने वाले को शास्त्र की भाषा में पाप श्रमण कहा है ! देखिए उत्तराध्ययन का १७ वां अध्ययन ।

मूल—

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजम धुव जोग जुत्तो, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥१०॥

हिन्दी पद्य—

न कलहकारिणी कथा कहे, ना शान्त दान्त मुनि क्रोध करे ।
संयम में ध्रुव-योग युक्त, उपशान्त, नम्रपद भिक्षु धरे ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो । वुग्गहियं=विग्रहकारी । कहं=कथा । न कहेज्जा=नहीं कहता । न य कुप्पे=और क्रोध नहीं करता । निहुइंदिए=इन्द्रियों को वश में रखकर । पसंते=प्रशान्त रहता है । संजम धुव जोग=संयम में मन-वचन-काय की । जुत्ते=स्थिरता वाला । उवसंते=उपशान्त । अविहेडए=किसी अन्य का तिरस्कार नहीं करता । स=वह । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

जैन-साधु गुरु के पास व्रत ग्रहण करके ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह अपनी दैनिक चर्या को बाहर और भीतर साधना के रंग में रंगकर सन्तोष करता है, उसकी यह विशेषता है कि वह वाणी द्वारा कलहकारी कथा नहीं कहता और स्वयं अप्रिय सुनकर कुपित नहीं होता, प्रशान्त रहता है ।

निराकुल-भाव और किसी का तिरस्कार नहीं करते हुए जिसके मन-वाणी एवं काय संयम में अचल होते है वहीं भिक्षु है।

मूल—

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोस-पहार--तज्जणाओ।
भयभेरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥

हिन्दी पद्य—

जो सहता ग्राम कंटकों को, आक्रोश-प्रहार जन-तर्जन को।
भय भैरव ध्वनि और अट्टहास, सुख-दुःख-सम भिक्षु कहो उसको ॥

अन्वयार्थ—

जो=जो साधु। अक्कोस-पहार-तज्जणाओ=आक्रोश, प्रहार और तर्जना रूप। गाम कंटए=इन्द्रियों के लिये कांटों की तरह चुभने वाले स्पर्शो को। सहइ=सहन करता है। भय-भेरव-सद्द=अत्यन्त भयानक शब्द और। सप्पहासे=प्रहास वाले स्थान में। समसुहदुक्ख=सुख दुःख को समभाव से। सहे=सहन करता है। स भिक्खू=वह भिक्षु हैं।

भावार्थ—

जो साधु इन्द्रियों को काटों की तरह चुभने वाले आक्रोश वचन, कशा आदि के प्रहार और तर्जना को शांत मन से सहन कर लेता है। बेताल आदि के भयानक शब्द तथा जहां डरावने प्रहास हो उन स्थानों में आकुल-व्याकुल न होकर जो सुख दुःख को समान भाव से यह समझ कर सह लेता है कि मेरे किये कर्म मुझे ही भोगने पड़ेंगे, जब खुशी से मैंने किये है, तब भोगते समय खेद क्यों ? यह तो कायरता होगी। वही साधु है।

मूल—

पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे, णो भायए भय भेरवाइं दिस्स।
विविह गुण तवोरए य निच्चं, न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू

हिन्दी पद्य—

श्मशान वासी अभिग्रह धर, भैरव-भय देख नहीं डरता।
हो नित्य विविध गुण तपोनिष्ठ, असुरक्षित देह भिक्षु बनता ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। मसाणे=श्मशान भूमि में। पडिमं=अभिग्रह। पडिवज्जिआ=ग्रहण करके। भय-भेरवाइं=अत्यन्त भयानक दृश्यों को। दिस्स=देखकर भी। णो भायए=नहीं डरता। निच्चं=सदा। विविह गुण=विविध गुण। य तवोरए=और तपस्या में रत रहकर। सरीरं=शरीर की भी। ण अभिकंखइ=आकांक्षा नहीं करता। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ —

भय विजय का अभ्यास करने को साधु जंगल और श्मशान में भी कायोत्सर्ग-प्रतिमा करते हैं। वहां पर भयानक वेताल आदि के दृश्य देखकर साधु भयभीत नहीं होता। मशानी बाबा की तरह केवल निर्भय ही नहीं रहता, किन्तु धीरता, वीरता, सहिष्णुता आदि गुण और तपस्या में रत रहकर जो शरीर की आकांक्षा चिन्ता नहीं करता, वही भिक्षु है।

मूल—

असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हवेज्जा, अनिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू

हिन्दी पद्य—

वहुराग-द्वेष-मंडन गत-तन, सह गाली मार नख का भेदन।
पृथ्वी सम जो है निर्निदान, कौतुक-वर्जित को भिक्षु कथन॥

अन्वयार्थ—

जे=जो साधु। असइं=बार-बार। वोसट्ठचत्तदेहे=शरीर की चेष्टा-और शृङ्गार का त्यागी होता है। अक्कुट्ठे=गाली देने। हए=मारने-पीटने। वा लूसिए=अथवा शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर। मुणी=मुनि। पुढविसमे=पृथ्वी के समान-सहिष्णु। हवेज्ज=होता है। अनिआणे=निदान नहीं करता। अकोउहल्ले=कुतूहल रहित होता है। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

जो समय-समय पर शरीर की चेष्टा का त्याग करता और स्नान मर्दन-विलेपन नहीं करता। कोई गाली दे, लकड़ी आदि से पीटे या शस्त्र से अंगादि का छेदन करे, तब भी मुनि पृथ्वी के समान सर्व-सहा होते हैं। छेदन-भेदन, या पूजन में राग-द्वेष नहीं करते, तप का निदान नहीं करते और फल की आंशसा से रहित होते हैं। वे भिक्षु कहलाते हैं।

मूल—

अभिभूअ काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं।
विइत्तु जाई मरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।।

हिन्दी पद्य—

निज तन से परीषह को जयकर, भव से अपना उद्धार करे।
जान महाभय जन्म मरण, मुनिता तप में रत भिक्षु धरे।।

अन्वयार्थ—

जे=जो। काएण=काया से। परीसहाइं=परीषहों को। अभिभूअ=पराजित करके। जाईमरणं=जन्म-जरा-मरण को। महब्भयं=भयंकर। विइत्तु=जानकर। अप्पयं=अपनी आत्मा का। जाइपहाओ=संसार-समुद्र से। समुद्धरे=उद्धार करता है। सामणिए=श्रमण धर्म के। तवे रए=तप में रत रहता है। स भिक्खू=वह भिक्षु है।

भावार्थ—

जो शरीर से भूख-प्यास आदि परीषहों को पराजित करता और जन्म-जरा-मरण को भयंकर जानकर जो अपनी आत्मा का भवसागर से उद्धार कर लेता तथा श्रमण-धर्म के शुद्ध तप में रत रहता है, वही भिक्षु है।

▭

मूल—

हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू।।

हिन्दी पद्य—,

कर एवं चरणों का संयत, वाणी-संयत और इन्द्रिय जित।
अध्यात्म लीन अति सावधान, सूत्रार्थ ज्ञात वह भिक्षु कथित।।

अन्वयार्थ—

जे=जो साधु। हत्थसंजए=हाथ से संयत। पाय संजए=पैर को संयम में रखने वाला। वाय संजए=वाणी से संयत। संजइंदिए=इन्द्रियों के संयम वाला है। अज्झप्परए=अध्यात्म-शुभ ध्यान में रत। सुसमाहिप्पा=समाधि युक्त आत्मा वाला। च=और। सुत्तत्थं=सूत्र-अर्थ का। वियाणई=सम्यक् ज्ञाता है। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

साधु पूर्ण संयमी होता है, वह हाथ, पैर, वाणी और इन्द्रियों से संयत होता है, कच्छप के समान अपने अंगोपांग को गुप्त रखता है। मनो-गुप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियों का गोपन आवश्यक है, जब तक इन्द्रियों की चंचलता दूर नहीं की जायेगी, मन की स्थिरता सम्भव नहीं होती, अतः यहा तन के संयम को प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि इन्द्रिय विजय से मनोविजय अति सरल हो जाता है, संयतेन्द्रिय मुनि अध्यात्म भाव में रत और समाधि युक्त आत्मा वाला सूत्रार्थ को जो सम्यक् जान लेता है, वह भिक्षु है।

▭

मूल—

उवहिम्मि अमुच्छिए, अगिद्धे अण्णाय उंछं पुलनिप्पुलाए।
कयविक्कय सन्निहिओ विरए, सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू॥

हिन्दी पद्य—

उपधि–अमूर्छित अशन निस्पृही, संयम दूषक–दोष–रहित।
क्रय-विक्रय सन्निधि का त्यागी, सब संग रहित वह भिक्षु कथित॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। उवहिम्मि=उपकरणों में। अमुच्छिए=मूर्च्छित नहीं होता। अगिद्धे=गृद्ध-प्रतिबन्ध नहीं रखता। अण्णायउंछं=शरीर यात्रा को चलाने को अज्ञात कुल से थोड़ा-थोड़ा। पुलनिप्पुलाए=संयम को निस्-सार नहीं करने वाला। कयविक्कय=क्रय-विक्रय-खरीद बिक्री से दूर। सन्निहिओ=घृत आदि को रात में नहीं रखने वाला। विरए=विरत। य=और। सव्वसंगावए=सब प्रकार के संग से दूर होता है। स=वह। भिक्ख=भिक्षु है।

भावार्थ—

मुनि संयम साधना के लिये स्वीकृत उपकरणों में भी मोह नहीं करता, मन में बन्धन रहित होता है। भोजन भी अज्ञात कुल से या बिना खबर दिये थोड़ा–थोड़ा लेता, संयम–मूल गुणादि को निस्तार नहीं करता, वस्त्र–पात्र–शास्त्र आदि के खरीद बिक्री स दूर, अशनादि का रात में संचय नहीं करने वाला, हिंसादि पापों से विरत और धन-धान्य आदि सम्पूर्ण-संग से दूर होता है वही भिक्षु होता है।

मूल—

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे, उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढि च सक्कारण पूअणं च, चयइ ट्ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू

हिन्दी पद्य—

अचपल रसों में लुब्ध नहीं, लघु भिक्षाचर जीवन त्यागी।
आत्म स्थित निस्पृह भिक्षु वह, जो ऋद्धि, मान, पूजा त्यागी॥

अन्वयार्थ—

भिक्खू=भिक्षु। अलोल=अप्राप्त रस की अभिलाषा रहित। न गिद्धे=अगृद्ध-प्राप्त रसों में गृद्ध नहीं। उंछं=थोड़ा-थोड़ा। चरे=लेने वाला। जीविय=असंयम जीवन की। नाभिकंखे=इच्छा नहीं करता। इड्ढि=ऋद्धि। सक्कारण=सत्कार। च=और। पूअणं=पूजा की इच्छा को। चयइ=त्यागता है। ट्ठियप्पा=स्थिर आत्मा। अणिहे=तथा स्पृहा रहित है। स=वह। भिक्खू=भिक्षु है।

भावार्थ—

आत्मार्थी साधक खाने के लिये नहीं जीता, वह शरीर टिकाने और संयम यात्रा चलाने के लिये आहार करता है। इसलिये अप्राप्त रस में लोलुपी और प्राप्त में गृद्ध नहीं होता, अज्ञात रूप से अनेक घरों से थोड़ा-२ ग्रहण करता और भोग जीवन की आकांक्षा रहित होता है! ऋद्धि, सत्कार, पूजा का परित्याग करता वह स्थित आत्मा निस्पृही संत भिक्षु कहाता है। सच्चा संत महिमा, पूजा को विष तुल्य समझकर परित्याग करता है।

मूल—

न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा।
जाणिअ पत्तेअं पुण्ण पावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू॥

हिन्दी पद्य—

ना कहे अन्य को यह कुशील, जिससे हो क्रुद्ध न बात करे।
समझ सभी का पुण्य-पाप, निज श्लाघा भिक्षु न चित्त धरे॥

अन्वयार्थ—

जे=जो । परं=दूसरे को । अयं=यह । कुसीले=कुशील है, ऐसा । न वइज्जासि=नहीं बोले ! जेणं=जिस वचन से । कुप्पिज्ज=अन्य कुपित हो । तं=वैसा वचन । न वइज्जा=नहीं बोले । पत्तेअं=प्रत्येक के । पुण्ण-पावं=पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् है । जाणिअ=यह जानकर । अत्ताणं=अपनी । न समुक्कसे=प्रशंसा नहीं करता । स=वही । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

दूसरे का दुर्गुण प्रकाशन—मन को कलुषित करता है, इसलिये शास्त्र कहता है कि-प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप स्वतन्त्र हैं, जल में हाथ रखने वाले को शीतलता और अग्नि में हाथ डालने से दहनकर्त्ता को ही दहन—जलन प्राप्त होती है ! किसी साथी को नहीं, वैसे ही शुभाशुभ कर्मों का फल कर्त्ता को ही भोगने पड़ते हैं ! यह जानकर मुनि दूसरे को कुशील आदि अपशब्द नहीं बोले, परापवाद कषाय वृद्धि का कारण है अतः पर निन्दा और आत्म-प्रशंसा नहीं करता, वही भिक्षु है !

मूल—

ण जाइमत्ते ण य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

हिन्दी पद्य—

ना जाति गर्व ना रूप गर्व, ना लाभ तथा श्रुत गर्व करें ।
जो धर्म ध्यान रत तज सब मद, जग में उसको ही भिक्षु कहें ॥

अन्वयार्थ—

जे=जो । जाइमत्ते=जाति का मद । ण=नहीं करे । य=और । रूवमत्ते=रूप मद । ण=नहीं करे । न लाभमत्ते=लाभ का मद नहीं करे । न सुएण मत्ते=श्रुत का मद नहीं करे । सव्वाणि=सव । मयाणि=मदों को । विवज्जइत्ता=छोड़कर, को । धम्मज्झाणरए=धर्म ध्यान में रत रहता है । स=वह । भिक्खू=भिक्षु है ।

भावार्थ—

जैन धर्म की यह शिक्षा है कि जीवन को परिवर्तनशील समझ कर कल्याणार्थी कुल, जाति, वल, रूप, लाभ, तप, श्रुत और ऐश्वर्य का कभी

मद नहीं करे। क्योंकि ऐसा कोई स्थान या कुल नहीं जहां इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो। "असइं उच्चागोए, असइं नीयागोए" इस जीव ने अनेक बार उच्च और नीच गौत्र में भ्रमण कर लिया है, फिर किस बात का गर्व करे! इस भाव को ध्यान में रखकर जो सभी मदों का परित्याग करके धर्म-ध्यान में रत रहता है, वही भिक्षु है।

मूल—

पवेयए अज्जपयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू

हिन्दी पद्य—

दे बोध आर्य पद का सुसाधु, धर्म स्थित पर को करे अटल।
दीक्षित हो तज दे गृही लिंग, है भिक्षु हास्य-गत-कौतूहल॥

अन्वयार्थ—

जे=जो। महामुणी=महामुनि। अज्जपयं=पापरहित-आर्य पद का। पवेयए=उपदेश करता है। धम्मे ठिओ=धर्म में स्थित होकर। परं ठावयई=दूसरों को भी स्थित करता है। निक्खम्म=दीक्षा ग्रहण करके। कुसीललिंगं=क्रिया रहित-वेषधारी के लिंग का। वज्जेज्ज=वर्जन करता। य हासं कुहए=और हंसी-मजाक, कुचेष्टा। न=नहीं करता। स भिक्खू=वह भिक्षु है।

भावार्थ—

घर से मुनिव्रत के लिये निकलकर जो महामुनि जन समाज में पापरहित-आर्य पद का उपदेश करता है, स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म-मार्ग में स्थिर करता है, साधु का वेष धारण कर गृहस्थ से आचरण करने वाले वेष का परिवर्जन करे, हास्य और कुचेष्टाओं से जो मोह भाव को उत्तेजित नहीं करता, वही भिक्षु है।

मूल—

तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्च हिअट्ठिअप्पा।
छिंदित्तु जाई मरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गई
-त्तिबेमि-॥२१॥

हिन्दी पद्य—

मोक्षार्थी आत्मा त्याग करे, क्षणभंगुर अशुचिवास तन को।
छेदन कर जाति मरण बन्धन, पाता है भिक्षु मोक्ष पद को ॥

अन्वयार्थ—

निच्चहियट्ठिअप्पा=जो सदा कल्याण मार्ग स्थित आत्मा वाला है, वह। तं=उस। असुइं=अशुचि। असासयं=अशाश्वत-नाशवान्। देह-वासं=देहवास-शरीरवास का। सया=सदा। चए=त्याग करे। जाइ-मरणस्स=जन्म-मरण के। बंधणं=बन्धन को। छिंदित्तु=काटकर। भिक्खू=भिक्षु। अपुणागमं=पुनरागमनरहित। गइं=गति को। उवेइ=प्राप्त करता है।

भावार्थ—

कल्याण मार्ग में जिसकी आत्मा सदा स्थित है, ऐसा भिक्षु मल-मूत्रादि भरे, अस्थायी, इस शरीर पिण्ड का नित्य परित्याग करता–ममता का वर्जन करता, वह जन्म–मरण के बन्धनों को काटकर जहां से फिर लौटकर नहीं आते, उस अपुनर्गति वाले स्थान को प्राप्त करता है! ऐसा मुनि सदाकाल के लिये आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है! इसी को गीताकार ने कहा है कि–"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

ऐसा मैं कहता हूँ—

॥ इति दशम अध्ययन समाप्तम् ॥

रतिवाक्या
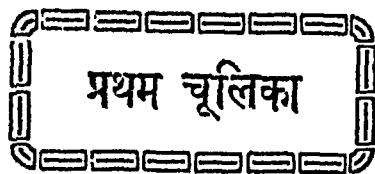
उपक्रम

जिस प्रकार पर्वत का अग्रभाग चूला (शिखर) कहा जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत दशवैकालिक सूत्र की समाप्ति पर उसके शिखर के रूप में दो चूलिकाएँ कही गई हैं। प्रथम चूलिका का नाम 'रइवक्का' और द्वितीय चूलिका का नाम 'विवित्त चरिया' है।

'संयमे रतिकर्तृणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या' संयम में रति उत्पन्न करने वाले वचन जिसमें हो वह 'रतिवाक्या' चूलिका है। संयम ग्रहण करने के पश्चात् किन्हीं भी अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के कारण संयम में यदि अरति (अरुचि) उत्पन्न हो जाय और साधक का चित्त संयम को छोड़कर गृहवास में जानने का हो जाय तो वैसी स्थिति में संयम छोड़ने से पूर्व इस चूलिका में वताये गये अठारह स्थानों पर उसे गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए। इसमें वर्णित ये अठारह स्थान इतने वैराग्य गर्भित एवं प्रभावोत्पादक हैं कि संयम में अस्थिर वने हुए साधक का मन संयम में उसी तरह स्थिर हो जाता है जैसे अंकुश से हाथी, लगाम से घोड़ा और पताका से पोत।

प्रस्तुत चूलिका में वर्णित अठारह स्थानों में मुख्यतया गृहस्थाश्रम की अनुपादेयता और संयम की उपादेयता का सचोट वर्णन है। गृहस्थाश्रम को घोर, क्लेशमय, वन्धनकारक और सावद्य वताया गया है जवकि संयम को सुखमय, क्लेश रहित, स्वतंत्र (मोक्षरूप) और निरवद्य वताया गया है। मानवीय कामभोगों को क्षणिक, तुच्छ और असार वताया है।

साधक संयम से ऊबकर गृहस्थाश्रम में जाना चाहता है परन्तु उसे सावधान करते हुए कहा गया है कि भोगों से तृप्ति की आशा करना दुराशामात्र है। अतः आकांक्षा रहित होकर संयम का पालन किया जाय तो वह स्वर्ग के समान सुखदायी है और यदि आकांक्षा है तो संयम दुःख रूप है। इस प्रकार संयम की उभयरूपता बताकर संयम में रमण करने का उपदेश, इस चूलिका में दिया गया है।

मूल—

इह खलु भो ! पव्वइएणं, उप्पन्नदुक्खेणं संयमे अरइसमावन्नचित्तेणं; ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि-गयंकुसं-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति। तंजहा—

हिन्दी पद्य—

जिस दीक्षित मुनि को मोहजन्य, दुःख मानस में हो भर आया।
संयम में उसका अरति खिन्न, मन ने अतिशय हो दुःख पाया॥
सयम छोड़ गृहस्थाश्रम, जाने का जिसको मन भाया।
तज-संयम-वैराग्य राग पर, में मन जिसका हो ललचाया॥
संयम तजने के पहले ही, इस पर देना है ध्यान उसे।
इन अट्ठारह पद का सम्यक्, आलोचन कर्त्तव्य जिसे॥
जो है अस्थित आत्मा वाले, वे दे मन से सम्मान इसे।
निश्चय आत्मा सुस्थिर होगी, जो सदा करेगा ध्यान इसे॥
इन अट्ठारह का उनके हित में, स्थान वही है इस जग में।
जैसे लगाम का अश्व हेतु, होता महत्व यात्रा पथ में॥
ज्यों अंकुश का उपयोग सदा, होता गज के अनुशासन में॥
पाते हेतु उपयोगी ज्यों, होता है ध्वज भवसागर में॥

अर्थ—

निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रव्रजित साधु को कभी मोहजन्य दुःख उत्पन्न हो जाय, संयम में चित्त अरति-युक्त, चंचल हो जाय और वह संयम को

छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता हो उस समय संयम छोड़ने से पूर्व उसको इन अठारह स्थानों की भली भांति आलोचना करनी चाहिये ! अस्थिर आत्मा के लिये इन स्थानों का वही स्थान है जो अश्व के लिये लगाम, हाथी के लिये अंकुश और पोत के लिये पताका है ! वे अठारह स्थान इस प्रकार है-

मूल—

१. हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी !

हिन्दी पद्य—

दुःख बहुल पंचम आरे में, जन क्षण-क्षण दुःख पाते हैं।
सुख के लिये घोर श्रम कर, जी भर दुःख पा पछताते हैं ॥
ये लोग बड़ी कठिनाई से, दुःख से निर्वाह चलाते हैं।
रोते हैं वे; कभी नहीं, हँसने का अवसर पाते हैं ॥

अर्थ—

ओह ! इस दुःषम काल के दुःखबहुल आरे में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं ! संसार रोग, शोक, दुःख और क्लेश से भरा पड़ा है !

मूल—

२. लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ।
३. भुज्जो य साइबहुला माणुस्सा ।
४. इमे य मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ ।

हिन्दी पद्य—

हैं गृहस्थ के काम भोग में, दिख पाता कुछ भी सार नहीं,
स्वल्प सार क्षण भर का सुख, चिरकाल का है निस्तार नहीं।
हैं मनुज जगत के बड़े कुटिल, जिनके अच्छे व्यवहार नहीं,
आगे न बढ़ेंगे दुःख मेरे, हैं उनका चिर आधार नहीं ॥

अर्थ—

२. गृहस्थों के कामभोग स्वल्प सार वाले, तुच्छ और अल्पकालिक क्षण-भंगुर हैं।

३. इस काल के मनुष्य प्रायः मायाबहुल-कुटिल होते हैं।
४. यह मेरा-परीषह-जनित दुःख चिरकाल तक रहने वाला नहीं होगा।

मूल—

५. ओमजणपुरक्कारे।

६. वंतस्स य पडियाइयणं।

हिन्दी पद्य—

नीच जनों का पुरस्कार, गृह के वासी जन करते हैं।
सत्कार असंयम वालों का, करना कर्त्तव्य समझते हैं।
अब तक पाले संयम से, यदि ये मेरे पांव फिसलते हैं,
तो है अर्थ साफ वान्ति का, पान स्वयं हम करते हैं॥

अर्थ—

५. गृहवासी को हल्के नीच जनों का भी सत्कार करना होता है, कामी-भोगी, दुःराचारी-व्यसनियों का सत्कार करना पड़ता है।
६. संयम को छोड़कर घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना।

मूल—

७ अहरगइवासोवसंपया।

८. दुल्लभे खलु भो! गिहीणं धम्मे, गिहिवासमज्झे वसंताणं।

हिन्दी पद्य—

जाना गृहस्थ के आश्रम में, मेरे हित में संयम तजकर,
है दुःखदायी अपमान युक्त, नारक जीवन से भी बढ़कर।
हां! रहते हुए गृहस्थी में, उन गृहस्थ जन के हित में,
निश्चय दुर्लभ है धर्म स्पर्श, सब कुछ दुर्लभ उसके हित में॥

अर्थ—

७. संयम को छोड़कर गृहवास में जाने का अर्थ है-नारकीय जीवन का अंगीकार।
८. ओह! गृहवास में रहते हुए गृहस्थों के लिए धर्म का पूर्ण स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।

मूल—

९. आयंके से वहाय होइ ।

१०. संकप्पे से वहाय होइ ।

११. सोवक्केसे गिहिवासे, णिरुवक्केसे परियाए ।

१२. बंधे गिहिवासे, मुक्खे परियाए ।

हिन्दी पद्य—

होता है आतंक महा, वध हेतु गृहस्थों के घर में, ।
होते हैं संकल्प वहां, वध हेतु सदा उनके मन में, ।।
गृहवास सदा है क्लेश सहित, और मुनि जीवन है क्लेश रहित ।
बन्धन है गृहवास तथा, मुनि का जीवन है मोक्ष सहित ।।

अर्थ—

९. वहां गृहवास में आतंक वध के लिये होता है ।
१०. वहां संकल्प वध के लिये होता है ।
११. गृहवास क्लेश सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश रहित ।
१२. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष का साधन है ।

मूल—

१३. सावज्जे गिहिवासे ! अणवज्जे परियाए ।

हिन्दी पद्य—

घर में रहना पाप कर्म, बहुमलिन कर्म करने पड़ते ।
बाधा पर बाधा आती है, जिससे न धर्म बढ़ने पाते ।।
अनवद्य साधुता है जग में, उत्कृष्ट कर्म इसके होते ।
समता सब जीवों में होती, कोई न पराये हैं होते ।।

अर्थ—

१३. गृहवास सावद्य है, और मुनि पर्याय अनवद्य-निर्दोष है ।

मूल—

१४. बहुसाहारणा गिहिणं काम-भोगा ।

हिन्दी पद्य—

काम भोग इस जगत में, सर्वोत्तम सुख कहलाते हैं।
किन्तु न इसका फल अच्छा, सब शास्त्र बतलाते हैं॥
यद्यपि गृही घर में यह सुख, सर्वथा सुलभ हो जाते है।
जिससे इस सुख का महत्व, दुःख के कारण बन जाते हैं॥

अर्थ—

१५. गृहस्थों के कामभोग बहुजन सामान्य है, अर्थात् सर्व साधारण के लिये भी सर्वथा सुलभ है ! उसमें परिवार के सब सदस्य भागीदार हैं।

मूल—

१५. पत्तेयं पुण्ण-पावं।

१६. अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदु-चंचले।

हिन्दी पद्य—

होते है प्रति प्राणी के ये, पुण्य-पाप अपने सारे।
कोई न किसी का बांट सके, ना भोग कर्म जाते टारे॥
है मानव का जीवन अनित्य, कुश-अग्र बिन्दु चंचल जैसे।
हा ! हो जाय इसका विनाश, कब और कहां किसका कैसे॥

अर्थ—

१५. प्रत्येक प्राणी का पुण्य और पाप अपना-अपना स्वतन्त्र होता है।
१६. ओह ! मनुष्य का जीवन अनित्य है, कुश के अग्रभाग-नोक पर स्थित जल बिन्दु के समान चंचल है।

मूल—

१७. बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं।

हिन्दी पद्य—

सोचे, इसके पहले हमने, बहु-पाप किये इस जीवन में।
जानूं ना उद्धार मेरा, होगा कैसे अब इस तन में॥
जो जैसा करता है जग में, वह वैसा ही फल पाता है।
अच्छे को अच्छा तथा बुरे को, बुरा भोग मिल जाता है॥

अर्थ—
१७. ओह ! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप कर्म किये हैं।

८

मूल—

१८. पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिचण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता। अट्ठारसमं पयं भवइ।

हिन्दी पद्य—

दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम, के द्वारा जो पाप किये।
जब तक उन अर्जित पापों का, ना कोई फल भोग लिये॥
अथवा तप के द्वारा जब, वे कर्म क्षीण हो जाते हैं।
निश्चय तभी किसी प्राणी को, मोक्ष धाम मिल जाते हैं॥
संयम से मन जब हो चंचल, तो इन बातों पर ध्यान धरे।
इन कथित अठारह स्थानों से मन, श्रद्धा एवं सद्ज्ञान करे॥
सोचे दुर्लभ नर जीवन को, है व्यर्थ गंवाना ठीक नहीं।
कर्मों को भोगे बिना भला, क्या मिल पाता है मोक्ष कहीं॥

अर्थ—
१८. ओह ! दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है, यानि उनसे छुटकारा होता है, उन्हें भोगे विना, (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किये बिना) मोक्ष नहीं होता– उनसे छुटकारा नहीं होता ! यह अठारहवां पद है।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

मूल—

जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ॥१॥

हिन्दी पद्य—

कोई अनार्य जब भोग हेतु से, धर्म भाव तज देता है।
वह मूर्ख भोग में मूच्छित हो, आगे की सुध खो देता है॥

वह भूल बैठता भोगी बन, अपने कर्त्तव्य कर्म सारे।
लगने लगते हैं भोग उसे, मीठे-मीठे प्यारे-प्यारे ॥

अर्थ—

अब यहाँ इस प्रकार श्लोक है-

अनार्य जब भोग के लिये धर्म को छोड़ता है, तब वह भोग में मूर्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता।

मूल—

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई ॥२॥

हिन्दी पद्य—

जब त्याग साधुता मुनि कोई, वापिस घर में आ जाता है।
तब सब धर्मों से गिरकर के, पथ भ्रष्ट यहाँ हो जाता है ॥
हो देव लोक वैभव से च्युत, जैसे परिताप इन्द्र करता।
उससे भी बढ़ परिताप यहां, वह गृहवासी मुनि है करता ॥

अर्थ—

जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता यानी गृहवास में प्रवेश करता है, तब वह धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है, जैसे देवलोक के इन्द्रासन एवं वैभव से च्युत होकर भूमितल पर गिरा इन्द्र करता है।

मूल—

जया य वंदिओ होइ, पच्छा होइ अवंदिओ।
देवया व चुया ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ॥३॥

हिन्दी पद्य—

मुनि जीवन में वन्दनीय, वह जन जन का बन जाता है।
लेकिन गृहस्थ बन वही व्यक्ति, सब का अवन्द्य बन जाता है ॥
जब आ जाती वैसी स्थिति, तो वह वैसा ही दुःख पाता है।
जैसे कोई स्थान भ्रष्ट, सुर पृथ्वी पर पछताता है ॥

अर्थ—

प्रव्रजित काल में साधु जन-जन का वन्दनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर गृहस्थ बनता है तब अवन्दनीय हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे अपने स्थान से च्युत देवता।

मूल—

जया च पूइओ होइ, पच्छा होइ अपूइओ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥४॥

हिन्दी पद्य—

प्रव्रजित दशा में साधु पूज्य, सब जन का रहता है जग में।
बनकर गृहस्थ वह नर-नारो, ना वैसा पूज्य रहे सब में॥
यह सोच-सोच परिताप बहुत, होने लगता उसके मन में।
ज्यों राज्य भ्रष्ट राजा चिन्तित, रहता है अपने जीवन में॥

अर्थ—

प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर घर-गृहस्थी होता है तो अपूज्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे राज्य से भ्रष्ट राजा करता है।

मूल—

जया य माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठिव्व कव्वडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ॥५॥

अर्थ—

प्रव्रजित काल में साधु सब का मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर गृहस्थ दशा में अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे कर्वट (छोटे से गांव) में अवरुद्ध किया हुआ सेठ!

मूल—

जया य थेरओ होइ, समइक्कंतजोव्वणो।
मच्छोव्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पइ ॥६॥

हिन्दी पद्य—

जाती है बीत जवानी जब, वह पतित साधु थेवर होता।
यौवन के सुख का कर चिन्तन, फिर मल मल कर पछताता॥

ज्यों कंट निगलकर मत्स्य कभी, पीड़ा से पीड़ित है, होता।
वैसे ही वह निज करनी पर, हो दुःखी हृदय से है रोता ॥

अर्थ—

यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे-कांटे को निगलने वाला मत्स्य !

मूल—

जया य कुकुडंबस्य, कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बन्धणे बद्धो, स पच्छा परितप्पइ ॥७॥

हिन्दी पद्य—

मुनिता तजकर जब साधु यहां, करता कुटुम्ब जन का चिन्तन ।
उसकी दुश्चिन्ता से आहत, हो दुःख पाता है वह उस क्षण ॥
इससे परिताप उसे होता, वह मन ही मन करता क्रन्दन ।
जैसे बन्धन में बंधे हुए, गज का भारी पड़ता जीवन ॥

अर्थ—

वह उत्प्रव्रजित साधु जब गृहस्थी में कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे-जंगल से पकड़ कर बन्धन में बंधा हुआ हाथी !

मूल—

पुत्तदार परिकिण्णो, मोह-संताण संतओ ।
पंको सन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ॥७॥

हिन्दी पद्य—

संसार बीच में आकर वह, प्रिय प्रिया पुत्र सबसे घिरकर ।
फंस जाता है मोह जाल में ज्यो मक्खी जाले में पड़कर ।
यह करता है परिताप बहुत पछताता है कर मल मल कर ।
आकुल-व्याकुल हो जाता है, जैसे गज कीचड़ में फसकर ॥

अर्थ—

पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ एवं मोह की परम्परा से आवद्ध-रिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी !

मूल—

अज्ज आहं गणी हुंतो ! भावियप्पा बहुस्सुओ।
जइऽहं रमंतो परियाए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥

हिन्दी पद्य—

रहता श्रमण यदि अब तक तो, गणी बहुश्रुत मुनि होता।
जिनवर उपदिष्ट श्रमण पथ में, कर रमण आत्मज्ञानी होता॥
ऐसे दिन नहीं मुझे देखने को, फिर मिले इस जग में।
निश्चय न कभी वापिस मुझको, चक्कर खाना पड़ता भव में॥

अर्थ—

आज मै भावितात्मा और बहुश्रुत गणी हो जाता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय (चारित्र) में अब तक रमण करते रहता !

मूल—

देवलोगसमाणो उ, परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महाणरयसारिसो ॥ १० ॥

हिन्दी पद्य—

संयम में रत ऋषि मुनियों का, जीवन अनुपम सुन्दर होता।
देवलोक सदृश निश्चित, सुखदायक वह जीवन होता॥
किन्तु न जो संयम रत हैं, उनके जीवन का क्या कहना ?
महानरक के तुल्य दुखद, जीवन में घुट-घुट कर मरना॥

अर्थ

संयम में रत महर्षिओं के लिये मुनि पर्याय देवलोक के समान सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं रहते उनके लिए वही (मुनि पर्याय) महानरक के समान दुःखदायी होता है !

मूल—

अमरोवमं जाणिय सुक्खमुत्तमं, रयाण परियाइ तहाऽरयाणं
नरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परियाइ पंडिए

हिन्दी पद्य—

संयमरत सुखद मुनि जीवन, देवोपम उत्तम समझ सतत।
है नरक समान दुःखद जीवन, जो संयम से रहे विरत।
अतएव सुखार्थी जो जन है, वे इस पर नित्य विचार करें।
जग जान अनित्य तथा भंगुर, संयम सुख में ही रमण करें।

अर्थ—

संयम में रत मुनियों का सुख देवों के समान उत्तम होता है, यह जानकर और संयम से अरति रखने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान बड़ा भंयकर होता है। यह जानकर बुद्धिमान मुनि, अरति भाव को हटाकर सदा संयम में रत रहता है!

मूल—

धम्माओ भट्ठं सिरिओ ववेयं, जन्नग्गिविज्झायमिवप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला, दाढुद्धियं घोरविसं व नागं॥

हिन्दी पद्य—

विषदन्त विहीन घोर विषधर, को अपमानित सभी करें।
पत्थर फेंके ढ़ेला मारे, मन चाहे जैसा तंग करे॥
वैसे ही धर्म चरित्र रूप, श्री से जो रहित यहां होता।
निस्तेज शान्त यज्ञाग्नि तुल्य, निन्दित सब से निन्दा पाता॥

अर्थ—

जिसकी दाढें उखाड़ ली गई हो, उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवेलना करते हैं, वैसे ही धर्म भ्रष्ट एवं चारित्र रूपी श्री से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भांति निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील व्यक्ति भी निन्दा करते हैं। वह कहीं भी आदर नहीं पाता!

मूल—

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्न वित्तस्स य हेट्ठओ गई

हिन्दी पद्य—

जो धर्म पतित अधर्म सेवी, चारित्र विघातक है मुनिजन।
अपने मनुष्य जीवन में वे, करते अधर्ममय दुराचरण ॥
इससे होता है अयश उसे, अपकीर्ति फैलती है जग में।
सब तरह अधोगति होती है, बनता दुर्नाम सकल जग में ॥

अर्थ—

धर्म से च्युत होकर जो अधर्मसेवी और चारित्र का खण्डन करता है, वह साधु इस मनुष्य जोवन में अधर्म का आचरण करता है ! उसका अयश और अकीर्त्ति होती है। साधारण लोगो में भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है !

मूल—

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं, बोही य से नो सुलभा पुणो-पुणो

हिन्दी पद्य—

वह संयम से भ्रष्ट साधु, आवेश पूर्ण मानसवाला।
भोगों का प्रचुर भोग करके, संयम विहीन चलने वाला ॥
अपने ही कर्मो से अनिष्ट, दुःख पूर्ण योनि में जाता है।
ना सुलभ बोधि उसको होती, बहु जन्म मरण वह पाता है ॥

अर्थ—

जो संयम में भ्रष्ट-साधु आवेग पूर्ण चित्त से भोगों को भोगता वह तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार बार जन्म मरण करने पर भी उसे बोधि धर्म की प्राप्ति सुलभ नहीं होती !

मूल—

इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥

हिन्दी पद्य—

दुःख युक्त क्लेशमय जीवन को, जीने वाले इन नारक की ।
पल्योपम या सागर सम, दीर्घायु अन्त होती जन की ।।
फिर मेरा मनोदुःख कब तक, इस तन में रहने वाला है ।
होता है जिसका उदय, अस्त भी उसका होने वाला है ।।

अर्थ —

दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन विताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है । तो फिर मेरा यह मनोदुःख कितने काल रहने वाला है ?

मूल—

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई, असासया भोगपिवास जंतुणो
न चे सरीरेण इमेण विस्सई, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ।।

हिन्दी पद्य—

निश्चय मेरे ये मनोदुःख, चिरकाल न रहने पाएंगे ।
जीवों की भोग पिपासा का, भी अन्त हन्त ! हो जाएंगे ।
यदि इस शरीर के होते भी, ना भोग-भाव मन मिट पाये ।
मिट जायेगी तब निश्चय, जब मृत्यु निकट में आ जाये ।।

अर्थ—

यह मेरा संयम जीवन का दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा ! जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है ! यदि वह इस शरीर के होते हुए नही मिटी तो मेरे जीवन का समाप्ति के समय तो वह अवश्य ही मिट जावेगी ।

मूल—

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ, चएज्ज देहं न उ धम्म सासणं ।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया, उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ।।

हिन्दी पद्य—

यह देह भले ही जाये पर, ना धर्म कभी जाने पाये ।
जिसके मानस में सुदृढ़ तथा, अविचल निश्चय यह हो जाये ।।

इन्द्रियां कभी भी क्या इससे, मुनि को विचलित है कर सकती।
अचल सुदर्शन गिरि को ज्यों, ना हवा प्रकम्पित कर सकती॥

अर्थ—

जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है, दृढ़ संकल्प युक्त होती है, कि देह को त्याग देना चाहिए, पर धर्म शासन को नहीं छोड़ना चाहिए! ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा वाले साधु को इन्द्रिया उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकती, जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को चला नहीं सकता!

मूल—

इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो, आयं उवायं विविहं वियाणिया
काएण वाया अदु माणसेणं, तिगुत्तिगुत्तो जिण वयणमहि-
ट्ठिज्जासि त्तिबेमि॥१८॥

हिन्दी पद्य—

बुद्धिमान जन इस प्रकार, सम्यक् आलोचन को करके।
विविध भांति के प्राप्त लाभ को, भलीभांति धारण करके॥
काय वचन एवं मन से, अपने को सदा गुप्त करले।
जीवन को ऊंचा करने, जिनवाणी का आश्रय लेलें॥

अर्थ—

बुद्धिमान मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लोभ और उनके साधनों को जानकर तीन गुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर, जिनवाणी का आश्रय ले, यही उभयलोक में कल्याण का साधन है!

ऐसा मैं कहता हूँ!

॥ प्रथम चूलिका समाप्त ॥

'विवित्त चरिया'

द्वितीय चूलिका
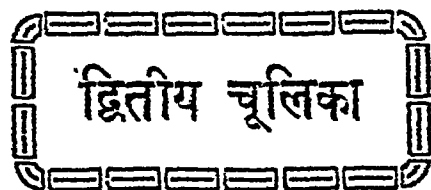
उपक्रम

इस चूलिका में साधु की चर्या, गुण और नियमों का उल्लेख किया गया है। 'चरिया गुणा य नियमा, य होंति साहूण दट्ठव्वा'। नियत वास न करना, सामूहिक भिक्षा करना, एकान्तवास करना, यह चर्या है। मूल और उत्तर गुण के रूप में पांच महाव्रत और पौरुषी आदि प्रत्याख्यान बताये हैं। स्वाध्याय कायोत्सर्ग आदि नियम हैं।

यह चूलिका टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि के मतानुसार केवली श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुई कही जाती है। इसे एक साध्वीजी ने सुना। इसलिए 'सुयं केवलिभासियं' ऐसा इस चूलिका के प्रारम्भ में कहा गया है। चूर्णियों के अनुसार शास्त्र के प्रति गौरव पैदा करने के लिए इसे केवलिभाषित कहा गया है। कालक्रम की दृष्टि से इसे श्रुतकेवलिभाषित मानने के प्रबल आधार हैं।

इस चूलिका के प्रारम्भ में यह प्रतिपादित किया गया है कि सामान्य लोग संसार-प्रवाह में अनुस्रोतगामी हुआ करते हैं अर्थात् वे दुनियादारी के बहाव में बहते रहते हैं, इन्द्रियों के विषयों में एवं भोगविलासों में प्रवृत्ति करते रहते हैं। साधु को ऐसा अनुस्रोतगामी नहीं होना चाहिए अपितु संसार-प्रवाह के विरुद्ध प्रतिस्रोतगामी होना चाहिए। उसकी प्रवृत्ति संसार मार्ग से विपरीत और मोक्षमार्ग के अनुकूल होनी चाहिए। साधु की समस्त प्रवृत्तियां आत्माभिमुखी होनी चाहिए, संसाराभिमुखी नहीं, यह इसका प्रतिपाद्य विषय है।

मूल—

चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं।
जं सुणित्त सपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥

हिन्दी पद्य—

स्थविरों से है सुनी हुई, और नित्य केवली से भाषित।
वह विविक्त चर्या बोलूंगा, जो जिनवर से है अनुशासित ॥
जिसको सुनकर पुण्यवान, धर्म में बुद्धि लगाते हैं।
तज जन्म-मरण के दृढ़ बन्धन, शाश्वत पद में मिल जाते हैं ॥

अर्थ—

मैं उस चूलिका को कहूंगा जो सुनी है, और केवली भाषित है, जिसे सुनकर भाग्यशाली जीवों की धर्म में मति उत्पन्न होती है!

मूल—

अणुसोय-पट्ठिए बहुजणम्मि, पडिसोय-लद्ध-लक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥ २ ॥

हिन्दी पद्य—

है बहुजन यहां स्रोतगामी, सब भोग मार्ग पर जाते हैं।
प्रतिस्रोत गमन का लक्ष्य उन्हें, जो मुक्तिभाव अपनाते हैं ॥
जो विषय-भोग से हो विरक्त, चाह रहा संयम-सेवन।
वैसे जन अपनी आत्मा का, प्रतिस्रोत भाव में करे गमन ॥

अर्थ—

अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे है-भोगमार्ग को ओर जा रहे हैं, किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगों विरक्त होकर संयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिये अर्थात् विषयानुरक्ति से मोड़कर भव से प्रतिकूल चलना चाहिये!

मूल—

अणुसोयसुहो लोओ, पडिसोओ, आसवो सुविहियाणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

हिन्दी पद्य—

साधारण जन स्रोत गमन, करने में अतिशय सुख पाते।
पर जो सुविहित हैं साधु यहां, प्रतिस्रोत गमन उनको भाते॥
अनुस्रोत कहाता विषयभाव, होता जिसमें बहु जन्म-मरण।
प्रतिस्रोत उत्तार जगत का है, कट जाता जिसमें भव बन्धन॥

अर्थ—

जन साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु जो सुविहित साधु है, उसका आश्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है। अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) प्रतिस्रोत उसका उतार है, (जन्म-मरण का पार पाना है !)

▭

मूल—

तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवर-समाहि-बहुलेणं।
चरिया गुणा य णियमा य हुंति साहूण दट्ठव्वा॥ ४॥

हिन्दी पद्य—

इसलिये यहां पर हैं जितने, आचार-पराक्रम वाले तन।
संवर में बहुल-समाधि युक्त, धार्मिक रुचि श्रद्धावाले जन॥
मुनि के गुण एवं चर्या पर, देना है उन्हें ध्यान जग में।
मुनि नियमों का पालन करते, वे बढ़े साधु-जीवन मग में॥

अर्थ—

इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले और संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले साधुओं को विशुद्ध चर्या, गुणों तथा नियमों की ओर दृष्टिपात करना चाहिये !

▭

मूल—

अणिएयवासो समुयाण चरिया, अण्णायउंछं पइरिक्कया य
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,विहारचरिया इसिणं पसत्था

हिन्दी पद्य—

गृहवास त्याग के ले भिक्षा, नाना प्रकार कुल में जाकर।
एकान्तवास में मुदित रहे, उपकरण अल्प की इच्छा धर॥

ना कलह किसी से करे कभी, चाहे जैसा अवसर आये।
ऋषियों के लिये प्रशस्त यही, जीवन चर्या है बतलाये ।।

अर्थ—

अनिकेतवास-जैन श्रमण किसी एक स्थान में नियत वास नहीं करते, वैसे उनकी भिक्षा भी सामूहिक होती है, किसी एक घर में या निमंत्रित गृहस्थ के यहां भोजन नहीं लेते ! अज्ञात कुलों से भी विधिपूर्वक भिक्षा लेना, एकान्तवास तथा उपकरणों की अल्पता और कलह का वर्जन यह विहार चर्या-(जीवन चर्या) ऋषियों के लिये प्रशस्त कही गई है।

६

मूल—

आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य,ओसण्ण-दिट्ठाहड-भत्तपाणे।
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जायसंसट्ठ जई जइज्जा। ६।

हिन्दी पद्य—

अवमान और आकीर्ण नाम के, करे भोज का मुनि वर्जन।
है ऋषि जन के हित में प्रशस्त, देखे-सदनों का अशन ग्रहण ।।
संस्पृष्ट हाथ या पात्रों से, जो भिक्षा मुनि को दाता दे।
देखे न सरस या अरस वस्तु, वह कल्प मान मन हर्षित ले ।।

अर्थ -

आकीर्ण और अवमान नामक भोजन का वर्जन करना, प्रायः गृहस्थ के दृष्ट स्थान से लाये हुए भक्त पान का ही ग्रहण ऋषियों के लिये प्रशस्त कहा है, भिक्षु आहार आदि से संस्पृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले ! दाता जो वस्तु दे रहा है उसी के द्वारा संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। जिससे पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म की सम्भावना नहीं रहे।

७

मूल—

अमज्जमंसासि अमच्छरीया, अभिक्खणं निव्विगइं गओ य।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ।।

हिन्दी पद्य—

ना मद्य मांस का अशन करे, और मत्सरता नहीं चित्त धरे।
ना बार-बार विकृति खाये, और बहुधा कायोत्सर्ग करे॥
स्वाध्याय हेतु जो तप सुविहित, मुनि उसके लिये प्रयत्न करे।
निज आत्मा के कल्याण हेतु, शास्त्रों का चिन्तन मनन करे॥

अर्थ—

साधु मद्य और मांस का उपभोग नहीं करता, इनको महारंभी, अभक्ष्य और तमोगुणी समझकर साधु ग्रहण नहीं करें। वह किसी से मत्सर भाव नहीं रखता, बार-बार विकृतिओं का सेवन नहीं करता, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में प्रयत्नशील होता है।

▭

मूल—

ण पडिण्णविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं णिसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा णगरे व देसे, ममत्तभावं ण कहिं पि कुज्जा॥

हिन्दी पद्य—

ना विहार के समय साधु, यह नियम गृही से करवाये।
शयनासन मेरे आने पर, निश्चय मुझको ही लौटायें॥
ऐसे भक्तपान आदिक, मेरे ही आने पर लायें।
कुल नगर गांव या देश कहीं, ना मोह भाव को फैलाये॥

अर्थ—

साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा नहीं दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय और स्वाध्याय भूमि जब मैं लोटकर आऊं तब मुझे ही देना। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना-यह प्रतिज्ञा भी न करावे, गांव कुल नगर या देश में किसी भी पदार्थ पर ममत्व भाव नहीं करे।

मूल—

गिहिणो वेयावडियं ण कुज्जा, अभिवायणं वंदण-पूयणं वा।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ ण हाणी॥

हिन्दी पद्य—

वैयावृत्य गृहस्थों का, भूले भी करते नहीं मुनिजन।
ऐसे ही करें न अभिवादन, एवं उनका वन्दन पूजन॥
संक्लेश रहित जो साधु वृन्द, मुनि उन सबके ही साथ रहें।
जिससे चरित्र की हानि न हो, सिर आये लाखों दुःख सहें॥

अर्थ—

साधु गृहस्थ की वैयावृत्य-सेवा नहीं करे. अभिवादन, वन्दन और पूजन नहीं करे, मुनि संक्लेश-रहित साधुओं के साथ रहे, जिससे कि चरित्र की कोई हानि न हो।

▭

मूल—

न वा लभेज्जा णिउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
इक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

हिन्दी पद्य—

यदि अपने से अधिक गुणी, कोई न कदाचित् मिल पाये।
अथवा गुण वाला अपने सम, ना निपुण साथ कोई आये॥
तो पाप कर्म का कर वर्जन, वह काम भोग से दूर रहे।
एकाकी निर्मल मन से, विधि पूर्वक साधु विहार करे॥

अर्थ—

यदि कदाचित अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी नहीं मिले तो पाप कर्मों का वर्जन करता हुआ काम भोगों में अनासक्त भाव से अकेला ही (संघ-स्थित) विहार करे! किन्तु दुर्गुणिओं के सहवास में नहीं रहे।

मूल—

संवच्छरं वा वि परं पमाणं,बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू,सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥

हिन्दी पद्य—

मुनि वर्षा ऋतु में चार मास, और शेष काल में मास रहे।
दो अधिक मास दो वर्ष बिना, अन्तर के ना फिर वहां रहे॥
है भिक्षु जनों के लिये उचित, सूत्रोक्त मार्ग से सदा चले।
सूत्रार्थ करे आज्ञा जैसी, वैसे पथ पर ही ध्यान धरे॥

अर्थ—

जिस गांव में मुनि, साधु मर्यादानुसार उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो, अर्थात् वर्षा काल में चातुर्मास और शेप काल में एक मास रह चुका हो, वहां दोगुणा काल, (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किये बिना नहीं रहे। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले। सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे उसके अनुसार चले।

▭

मूल—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,किं सक्कणिज्जं ण समायरामि

हिन्दी पद्य—

जो साधु रात्रि के प्रथम और, अन्तिम प्रहर काल भीतर।
करता है अपना आलोचन, स्वयंमेव चित्त को निर्मलकर॥
क्या किया अभी तक है मैंने, करना मुझको क्या शेष जिसे।
वह कौन कार्य जो कर सकता, आलस वश ना किया उसे॥

अर्थ—

जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपनी आत्मा के द्वारा सम्यक् प्रकार देखे, सोचे कि मैंने क्या किया है? मेरे लिए क्या

कार्य करना शेष है ? वह कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ। पर प्रमादवश नहीं कर पाता हूं।

▭

मूल—

किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किंवाऽहं खलियं ण विवज्जयामि
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं णो पडिबन्ध कुज्जा ॥

हिन्दी पद्य—

पर देखे क्या भूल मेरी; या स्वयं उसे मैं देख रहा।
स्खलना ऐसी कौन जिसे, मैं देख-देख ना छोड़ रहा ॥
कर आत्म निरीक्षण यह सम्यक्, प्रतिबन्ध अनागत का न करे।
बंधे असंयम में न श्रमण, ना भूले कभी निदान धरे ॥

अर्थ —

क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ। वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नहीं छोड रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक् प्रकार से आत्म निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिबंध न करे, असंयम में न बंधे, निदान न करे ।

▭

मूल—

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइण्णओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥

हिन्दी पद्य—

हो जहां कहीं भी दुष्प्रवृत्त, यह तन मन अपना और वचन।
जाने तो वहीं संभल जाये, आगे न बढ़ाये धीर चरण ॥
ज्यों जातिमन्त हो अश्व कोई, वल्गा खींचे रुक जाता है।
चंचल मन वैसे होते ही, मुनि का मानस झुक जाता है ॥

अर्थ—

जहां कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखें तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए ! जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खींचते ही सम्हल जाता है ।

▭

मूल—

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सुप्पुरिसस्स णिच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीवई संजमजीविएणं ॥१५॥

हिन्दी पद्य—

जिस धैर्यशील इन्द्रियजित के, शुचियोग सदा ऐसे होते ।
प्रतिबुद्ध जिन्दगी वाले वे, निश्चय जग में ऐसे होते ।
जिसका जीवन हो इस प्रकार, वह तपो संयमी कहलाता ॥
संयममय–जीवन वह जीता, मुक्ति पास में वह लाता ॥

अर्थ—

जिस जितेन्द्रिय और धृतिमान सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं, उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है । जो ऐसा होता है, वह संयमी जीवन जीता है ।

▭

मूल—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ
त्तिबेमि ॥१६॥

हिन्दी पद्य—

सुसमाहित कर सब इन्द्रियों को, आत्मा की रक्षा सतत करे ।
कारण असुरक्षित आत्मा ही, जग जन्म-मरण को वरण करे ॥

कर जाती पार सुरक्षित यह, दुष्कर्म जन्य दुःख पीड़ाओं को ।
तब पूर्ण मुक्त बन जाती है, पाकर निजगुण की संपद को ॥

अर्थ—

सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिये । अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) के मार्ग को प्राप्त होता है और पाप से सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त होता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ द्वितीय चूलिका समाप्त ॥

प्रस्तुत शास्त्र में सहायक पुस्तकों की सूची–

(१) दसवेआलिय सुत्तं (आचार्य तुलसी कृत)

(२) दशवैकालिक सूत्र (सैलाना म. प्र. वाला)

(३) स्थानांग सूत्र (अहमदाबाद वाला)

(४) उत्तराध्ययन सूत्र

(५) भगवती सूत्र

(६) आचारांग सूत्र (महासभा का)

(७) आचारांग सूत्र (युवाचार्य मधुकरजी)

(८) दशवैकालिक अवचूरी (सतारा वाली)

(९) हरीभद्रीय टीका

(१०) मलियागिरि आवश्यक वृत्ति (प्रथम भाग)

(११) चन्दन ग्रन्थ माला

(१२) श्रेयस्कर पाठमाला (मूल)

(१३) साधना के सूत्र